प्रथम संस्करण : १९५२ ईसवी

सात रुपया मात्र

मुद्रक—हिन्दुस्तानी प्रेस इलाहाबाद

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों

के

टीकाकारों एवं व्याख्याताओं

को

सादर समर्पित

—सत्यदेव चौधरी

यस्मिन्नशेषविद्यास्थानार्थविभूतयः प्रकाश्यन्ते ।
संहत्य स साहित्यप्रकाशः पृथगर्थो भवति ॥
भोजराज

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥
भोजराज

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥
कुन्तक

नाकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥
भामह

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय
तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।
अभिनवगुप्त

यस्तुष्टे तुष्टिमाप्नोति शोके शोकमुपैति च ।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स काव्ये भावकः स्मृतः ॥
भोजराज

इतरपापफलानि यथेच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन ।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥
अज्ञात

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मेरे शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' में से संकलित स्थलों का संग्रह मात्र है। शोध प्रबन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र के दस अंगों का विवेचन दो रूपों में किया गया है : पृष्ठभूमियों में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है और ग्रन्थ के मूल भाग में हिन्दी-रीतिकालीन पाँच प्रमुख आचार्यों—चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि—के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का गवेषणात्मक अध्ययन। इस ग्रन्थ में दस काव्यांगों से सम्बद्ध यही पृष्ठ-भूमियाँ नाम-मात्र के परिवर्तन के साथ पृथग् रूप से प्रस्तुत की जा रही हैं।

काव्य के दस अंगों की निर्धारित नामावली हमें संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्रों में उपलब्ध नहीं हुई। फिर भी स्थूल रूप से इनकी संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है—

(१) काव्यस्वरूप [काव्यलक्षण काव्यभेद काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु] (२) शब्दशक्ति (३) ध्वनि (४) गुणीभूतव्यंग्य (५) दोष (६) गुण (७) रीति (८) अलंकार (९) नाट्यविधान और (१) छन्द। इनके अतिरिक्त दो अन्य काव्यांग भी हैं—रस और नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है और नायक-नायिका भेद का शृङ्गार रस में।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में छन्दोविधान का निरूपण नहीं किया; और नाट्यविधान को भी अधिकांश ने स्थान नहीं दिया। छन्द वस्तुतः काव्य के बाह्यांग से ही सम्बद्ध है, अन्तरंग से नहीं। इस प्रकार शब्द की रमणीयार्थ प्रतिपादकता अथवा रसात्मकता के साथ इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण हमने छन्दोविधान जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर विषय का निरूपण नहीं किया। उधर नाट्यविधान पर हमारे विवेच्य हिन्दी-आचार्यों में से किसी ने प्रकाश डाला, अतः यह काव्यांग हमारे शोध-प्रबन्ध की विषय-सीमा से बाहर था। हिन्दी और संस्कृत के आचार्यों ने रस को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करते हुए भी इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है और विश्वनाथ जैसे आचार्य ने इसे काव्य की आत्मा रूप में स्वीकृत करने के अतिरिक्त इसका स्वतन्त्र निरूपण किया है अतः हमने भी इस काव्यांग को अलग अध्याय में स्थान दे कर प्रकारान्तर से इसकी विशिष्टता स्वीकार की है। इधर

आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद का इतना विस्तृत विवेचन किया है कि इसे रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित करने से रस जैसा महत्त्वपूर्ण काव्यांग इसके विस्तार-भार तले दब कर रह जाता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में इस काव्यांग को स्वतन्त्र अध्याय में स्थान दिया गया है। इस तरह अपने बार से स्वीकृत काव्य के इन अंगों का विवेचनात्मक अनुशीलन इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय है। यह अनुशीलन भरत से जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्ष की विकसित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-परम्परा का शृंखलाबद्ध एवं अनुशीलनात्मक स्वरूप उपस्थित करता है।

काव्यशास्त्रीय समस्याओं के समाधान के लिए मुझे श्रद्धेयवर्य प्रो० गंगाराम शास्त्री प्रो० चारुदेव शास्त्री पं० चूड़ामणि शास्त्री और पं० दीनानाथ शास्त्री को बार-बार कष्ट देना पड़ा। इन सद्गुरुओं का स्नेहपूर्ण एवं उदार व्यवहार मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। इसी प्रसंग में मैं डॉ० राघवन और आचार्य विश्वेश्वर के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिनके अमूल्य ग्रन्थों ने मुझे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का मन्थन एवं तत्त्वग्रहण करने का मार्ग निर्दिष्ट किया। इनके उपरान्त मुझे आदरणीय डॉ० नगेन्द्र के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करनी है जिनके निर्देशन एवं पथप्रदर्शन की मुझे पग पग पर आवश्यकता पड़ी, जिसे न केवल उनके उदार एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व ने अपितु इससे बढ़कर उनके सभी मौलिक एवं सम्पादित ग्रन्थों ने सम्यक् रूप से परिपूर्ण किया।

मेरा यह प्रयास कहाँ तक सफल अथवा असफल रहा है, इसका निर्णय विषय के अधिकारी विद्वान् करेंगे। मैं स्वयं इस ग्रन्थ के अभावों से अवगत हूँ, तथा इसकी त्रुटियों से अवगत होने का परम इच्छुक हूँ। विद्वान् पाठक मेरी इस इच्छा की पूर्ति द्वारा मेरा उपकार करेंगे। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक छात्र एवं जिज्ञासु जन जिनके लिए यह संकलन शोध-प्रबन्ध से पृथक् रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है इससे किंचित् लाभ उठा सकें तो इसी में मैं अपनी कार्य-सिद्धि समझूँगा।

एफ ११|१९ मॉडल टाउन, —सत्यदेव चौधरी
दिल्ली—९
१ मई १९५५

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण ९-११
द्वितीय अध्याय : काव्य १२-४८
क काव्य का लक्षण और स्वरूप १२
ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य
[भामह (१२), दण्डी (१३), वामन (१३)]
ध्वनिप्रवर्तक आनन्दवर्धन (१५)
ध्वनिपरवर्ती आचार्य
[कुन्तक (१८), मम्मट (१९), विश्वनाथ (२०), जगन्नाथ (२८)]
ख काव्यहेतु ३१
ग काव्यप्रयोजन ४१
तृतीय अध्याय : शब्दशक्ति ४९-७३
स्रोत : व्याकरण ४९
स्रोत : संस्कृत-काव्यशास्त्र ५४
[ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य (५६), आनन्दवर्धन तथा ध्वनिपरवर्ती आचार्य (५८)]
ध्वनिविरोधी आचार्य और व्यंजना की स्थापना ६
[अभिधावाद और तात्पर्यवाद, (६१) लक्षणावाद (६७) अनुमानवाद (६९)]
शब्दशक्तियों के भेदोपभेद ७१
चतुर्थ अध्याय : ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य ७४-८८
'ध्वनि' शब्द के विभिन्न अर्थ ७४
ध्वनि का स्वरूप ७४
[आवश्यकता (७४), ध्वनिभेद (७५)]
रसध्वनि और काव्यशास्त्रीय व्यवस्था ७७
पंचम अध्याय : रस ७९-१२८
भरतमुनि और रस ७९

भरत सूत्र के व्याख्याता ८३
[भट्ट लोल्लट (८४), शंकुक (८६), भट्ट नायक (६१) अभिनव गुप्त : भरतसूत्र की व्याख्या (६७), रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध (६६), रस का विभावादि के साथ सम्बन्ध(६६) रस का स्वरूप (१०१)]
अलंकार-सम्प्रदाय और रस १०४
[अलंकारवादी आचार्य (१ ४), अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्त्व-स्वीकृति (१ ४), अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अन्तर्भाव (१ ६) कुन्तक द्वारा अलंकारवादियों का खण्डन (१११) रसवदादि अलंकारों की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता (१११)]
ध्वनि सम्प्रदाय और रस ११६
[ध्वनिवादी आचार्य और रस (११६) रस : ध्वनि का एक भेद (११७) रसध्वनि : ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद (११८)]
शृंगार का रसराजत्व १२१
शान्त रस और उसकी समीक्षा १२३
षष्ठ अध्याय : नायक-नायिका-भेद १३६-१८१
प्रमुख काव्यशास्त्रियों द्वारा नायक-नायिका-भेद का निरूपण १४
[भरत (१४), रुद्रट (१४१), भोजराज (१४२), विश्वनाथ (१४८), भानुमिश्र (१४६), रूपगोस्वामी (१५२), अन्य 'अकबरशाह बड़े साहब' (१५५)]
कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद १५६
[कामशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद (१५६),
कामशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद (१६७)]
नायक-नायिका-भेद का समीक्षात्मक अध्ययन १६६
[पृष्ठाधार (१७), नायक-नायिका-भेद और शृंगार रस (१७१), नायक-नायिका-भेद-परीक्षण (१७१), नायक-नायिका भेद और युग (१८)]
सप्तम अध्याय : दोष १८२-२१७
दोषदर्शन १८२
दोष का लक्षण और स्वरूप १८३

न आया'; 'वह ऊँचे स्वर में काव्य पढ़ता है' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है, न कि अर्थ' का। दूसरे, न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'काव्य' कहा सकते हैं और न प्रत्येक पृथक्-पृथक्। एक और एक मिलकर 'दो' होते हैं, अतः न तो दो 'एकों' को हम 'एक' कह सकते हैं, और न किसी 'एक' को दो क्योंकि अवयव और अवयवी की सत्ता में सदा पार्थक्य रहता है। इस प्रकार न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'एक' काव्य कहा सकते हैं क्योंकि इन दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है, अन्यथा श्लोक का प्रत्येक वाक्य ही काव्य कहाने लग जायगा और न शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य मान सकते हैं, अन्यथा एक ही पद्य में दो काव्य मानने पड़ेंगे। अतः केवल 'शब्द' ही काव्य है।[1]

वस्तुतः जगन्नाथ के दोनों तर्क हलके हैं। इन्हें काटने के लिए भी इनके प्रतितर्कों की आवश्यकता थी, जिसे उनके ग्रंथ 'रसगंगाधर' के ही टीकाकार नागेश भट्ट ने पूर्ण किया। यदि 'काव्य सुना' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है तो 'काव्य समझा' में अर्थ का भी वाचक है। शेष रहा दूसरा तर्क तो शब्द अथवा अर्थ में से किसी एक के लिए लक्षणा अथवा द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। अतः 'शब्दार्थ' को ही काव्य मानना समुचित है।[2]

समीक्षा—मम्मट के काव्यलक्षण पर आक्षेप हुए, और टीकाकारों द्वारा उनकी निवृत्ति भी हुई, पर केवल यही निवृत्ति मम्मट के काव्यलक्षण के सर्वाधिक मान्य और सर्वप्रिय होने का कारण नहीं है। एक प्रमुख कारण और भी है—मम्मट का अपना महान् व्यक्तित्व। उनके विद्वत्तापूर्ण आचार्यत्व, और बहुमान्य ध्वनिसिद्धान्त के अन्तराल में सभी काव्यसिद्धांतों की प्रथम बार सुव्यवस्थित एवं व्यवस्थित निरूपण-शैली के द्वारा पाठकों में मम्मट के प्रति उत्पन्न समादर-भाव ने विश्वनाथ की कटुता को और भी कटु बना दिया, और इस प्रकार मम्मट के अन्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ-साथ उनके काव्यलक्षण को भी सर्वोच्च स्थान मिलता रहा। देखा जाए तो मम्मट का काव्यलक्षण परम्परागत काव्यलक्षणों का संशोधित संस्करण मात्र है। 'शब्दार्थ' में गुणालंकार की संयुक्तता और दोष-रहितता की चर्चा वामन-काल से ही विद्वद्वर्ग में प्रचलित होगी, यह ऊपर दिखाया गया है। इसका स्रोत

---

१ रसगंगाधर पृष्ठ ६ २. रसगंगाधर (नागेश भट्ट की टीका) पृष्ठ ७

ढूँढना चाहें, तो वह नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हो जाता है।[1] वस्तुतः मम्मट का मौलिक प्रयास काव्य-परिभाषा में, अथवा यों कहिए काव्यशास्त्र में अलंकार को यथोचित स्थान देना है, और बस। मम्मट से किंचित् पूर्ववर्ती अथवा समकालीन अग्निपुराण के (काव्यशास्त्र-सम्बन्धी भाग के) कर्ता ने और भोजदेव ने स्वनिरूपित काव्यलक्षणों में लगभग मम्मट-सम्मत स्वरूप को ही स्थान दिया है।[2] फिर मम्मट के पश्चात् तो यह परम्परा किसी न किसी रूप में लगभग अक्षुण्ण सी बनी रही। हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, और जयदेव पीयूषवर्ष के काव्य-लक्षण इस तथ्य का सबल प्रमाण हैं।[3] हाँ, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे आचार्य निस्सन्देह इस परम्परा के उल्लंघक हैं। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों ने भी मम्मट का ही प्रायः अनुकरण किया है। इस प्रकार परम्परापुष्ट और सर्वाधिक मान्य काव्य-लक्षण पर यदि उक्त रूप से आक्षेपों की भरमार हुई है तो इसका कारण मम्मट की सुविदित ख्याति को ही समझना चाहिए, अन्यथा वामन

---

१ मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ ना शा १७।१२६

२. (क) संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ अ पु ३३७

(ख) निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥
—स क भ १।२

३. (क) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
—का अनु० (हेम) पृष्ठ ११

(ख) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।
—का अनु (वाग्भट) पृष्ठ १७

(ग) साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ वा भ १।२

(घ) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ च० आ० १।७

अग्निपुराणकार और भोजराज पर भी विद्वानों को आक्षेप करने की सुधि आई होती; 'विश्वनाथ' तो हर युग में मिल जाते हैं।

फिर भी, हमारे विचार में मम्मट का काव्यलक्षण आदर्श नहीं माना जा सकता। 'अदोषौ' विशेषण को यदि इसी आधार पर स्वीकृत किया जाता है कि आदर्श काव्य के लक्षण में इसे स्थान मिलना चाहिए, तो 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सालंकृती' विशेषण को ही स्थान मिलना चाहिए था। दूसरे, 'सगुणौ' शब्द से 'सरसौ और गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ लेते हुए रसगत, वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि; गुणीभूतव्यंग्य और चित्र-काव्य इन सब को 'सगुणौ' विशेषण में समाविष्ट करना मम्मट को भी अभीष्ट होगा अथवा नहीं, इसमें सन्देह है। उनकी अपनी वृत्ति इस विषय पर मौन है। यों विश्वनाथ को करारा उत्तर देने के उद्देश्य से 'सगुणौ' की इतनी महत्त्वपूर्ण और विशद व्याख्या मान्य भी हो सकती है क्योंकि अप्रिय क्रिया की प्रतिक्रिया अनुचित होते हुए भी प्रायः उत्साहकारी होती है। हमारे विचार में 'सगुणौ' को 'माधुर्यादि-गुणसहितौ' समझना चाहिए। बहुत हुआ तो इसका 'सरसौ' अर्थ भी लिया जा सकता है। गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ के बल पर वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि; गुणीभूतव्यंग्य और विशेषतः चित्र-काव्य में माधुर्यादि गुणों का अस्तित्व मानना गुणों की वास्तविक परिभाषा—'द्रुत्यादिचित्तप्रयोजकता' से विमुख होना है। उदाहरणतया 'उदेति सवितां ताम्रो' में प्रसाद गुण की स्वीकृति से प्रसाद गुण केवल सरल रचना का पर्याय मात्र रह जायगा, चित्तव्याप्ति रूप प्रयोजकता का महान् स्वरूप खो बैठेगा। शेष रहा 'शब्दार्थौ', तो उसे काव्य-शरीर मानने में कुन्तक के वस्तुमात्र विवेचन से हम सहमत हैं। मम्मट के प्रति समादर भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यदि टीकाकारों की इतनी विशद व्याख्या स्वीकृत कर ली जाए, तो भी इस लक्षण में वही महान् दोष है जो 'ध्वनि रात्मा काव्यस्य' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अत्यधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन, कुन्तक और मम्मट जैसे उद्भट आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर एक महान् उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का यह लक्षण देकर उन्होंने इसे निभाने का पूर्ण प्रयत्न भी किया। 'ध्वनि' रूप उत्तम काव्य के प्रमुख भेद 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकृत कर विश्वनाथ

ने भरत मुनि से लेकर अपने समय तक चले आ रहे रस के प्रति समादर भाव को (यहाँ तक कि जिसे भामह दण्डी उद्भट और रुद्रट जैसे अलंकार वादियों और वामन जैसे रीतिवादी ने भी यथास्थान प्रदर्शित किया था[1]) काव्यलक्षण में स्थान देकर काव्यशास्त्रियों के मम को छू सा लिया है। रसात्मकता में निस्सन्देह गुणालंकार की सहितता का भी समावेश हो जाता है। मम्मट का काव्यलक्षण बाह्य अधिक था विश्वनाथ का लक्षण आन्तरिक अधिक है। मम्मट के लक्षण में रस के प्रति निर्देश अप्रत्यक्ष था, यहाँ प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। पर आदर्श काव्य-लक्षण यह भी नहीं है। क्या 'रस' काव्य के शेष सभी स्वरूपों—वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्र-काव्य और रसवदादि अलंकारों को, जिन्हें विश्वनाथ ने स्वयं भी अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है, आत्मसात् कर सकता है? विश्वनाथ का कथन है कि 'वस्तुगत ध्वनि को (और अलंकारगत ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य को भी) रसाभासादि ध्वनियों का विषय मानकर काव्यत्व प्राप्त हो सकता है।[2] पर वस्तुगत ध्वनि के 'उवेति सवरस विभो' आदि उदाहरणों को हमारे विचार में रसाभासादि का विषय मानना संगत नहीं है, अन्यथा रसाभासादि ध्वनियाँ अति निम्न धरातल पर उतर आएंगी। यही बात चित्रकाव्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतः यह लक्षण काव्यसर्वस्व 'रस' का परिपोषक होता हुआ भी अव्याप्ति दोष से दूषित है। सम्भवतः विश्वनाथ को 'रस' के अतिरिक्त शेष सभी काव्य-प्रकारों को गौण काव्य मानना अभीष्ट होगा जो कि हमारी दृष्टि में उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष भी इस काव्य-लक्षण में है। 'वाक्य' पदोच्चय का नाम है। अतः विश्वनाथ 'शब्द' को ही काव्यशरीर मानने के समर्थक हैं, शब्दार्थ को नहीं जो कि समुचित नहीं है। व्याख्यासापेक्ष तो यह काव्य-लक्षण है ही यह इस में तीसरा दोष है।

जगन्नाथ—जगन्नाथ का काव्यलक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' एक महान् तत्त्व का सूचक है—वह है रमणीयता जिसे वामन ने 'सौन्दर्य'; दण्डी ने इष्टार्थ; और आनन्दवर्धन तथा कुन्तक ने 'लोकोत्तर

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए प्र० प्र० पंचम अध्याय 'रस'।

[2] वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेन्न, रसाभासवत्त्वेनैवेति ब्रूमः। सा० द० १म परि० पृ० १५

आह्लाद' नाम से पुकारा है। काव्य-शास्त्र का बहुप्रयुक्त शब्द 'चमत्कार' भी इन्हीं का पर्यायवाची है। 'सौन्दर्य' और 'चमत्कार' शब्दों में काव्य का बाह्य स्वरूप तथा 'लोकोत्तर आह्लाद' में काव्य का आन्तरिक स्वरूप अधिक निहित है, और इसकी के 'रस' शब्द की मध्यम स्थिति है। पर 'रमणीयता' शब्द हमारे विचार में बाह्य और आन्तरिक दोनों स्वरूपों का समान रूप से द्योतक होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण है। जगन्नाथ के शब्दों में रमणीयता शब्द का अर्थ है—लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की विषयीभूतता—'लोकोत्तराह्लाद-जनकज्ञानगोचरता'। दूसरे शब्दों में, जिसके ज्ञान अर्थात् बार-बार अनुसन्धान करने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं, ऐसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द (अथवा शब्द-समूह) काव्य कहाता है। आह्लाद शब्द का 'लोकोत्तर' विशेषण पुत्रोत्पत्ति, धनप्राप्ति आदि लौकिक आह्लादों (आनन्दों) से काव्यगत आह्लाद के पार्थक्य का सूचक है।

समीक्षा—हमारे विचार में काव्य का यह लक्षण बहुत सीमा तक उपयुक्त है। जगन्नाथ से पूर्व काव्य-लक्षण तीन प्रकार से हुए—

(१) भामह और रुद्रट के मत में शब्दार्थ के सहित-भाव का नाम काव्य है; पर इससे शब्द और अर्थ के साधारण संयोगमात्र, जगन्नाथ के शब्दों में शब्दार्थ की केवल 'व्यासक्ति' (व्यासज्यवृत्ति) की सूचना मिलती है और बस।

(२) मम्मट आदि के मत में निर्दोष तथा गुणालंकार-सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है। पर इन लक्षणों से ध्वनि अथवा रस-जन्य लोकोत्तराह्लाद कता की सूचना स्पष्ट शब्दों में नहीं मिलती। भोजराज जयदेव आदि के काव्यलक्षणों में रीति गुण, अलंकार और वृत्ति के साथ ही साथ रस की भी परिगणना रस के प्राधान्य की अवहेलना की सूचक है।

(३) आनन्दवर्धन कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रस के आत्मरूप में प्रतिष्ठापन द्वारा अपने-अपने काव्यलक्षण निर्दिष्ट किए हैं, पर इनके लक्षण व्याख्याधीन, अतएव सुगम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त साहित्याचार्यों की लगभग दो सहस्र वर्ष की विभिन्न सिद्धान्त-परम्पराओं से पूर्णतः मेल नहीं खाता, और न इसका अनुकरण ही हुआ है।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं आनन्दवर्धन की 'ध्वनि' काव्य

के इतर दो भेदों गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र को और विश्वनाथ का 'रस' इन दो भेदों के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तुगत और अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों को अपने अन्तराल में समाविष्ट नहीं कर सकता। पर जगन्नाथ की 'रमणीयता' में किसी भी प्रकार के काव्यचमत्कार को धारण करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त गुण, अलंकार, ध्वनि, रस आदि पारिभाषिक शब्दावलि से नितान्त विनिर्मुक्त होने के कारण यह लक्षण सुगम है अतः काव्यस्वरूप का सीधा परिचायक है। दण्डी का काव्यलक्षण भी लगभग इन्हीं गुणों से युक्त है, पर यह एक संयोग मात्र है। जगन्नाथ पर दण्डी का प्रभाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

जगन्नाथ के काव्यलक्षण पर एक महान् आपत्ति उठाई जा सकती है कि केवल 'शब्द' को काव्य क्यों माना गया 'शब्दार्थ' को क्यों नहीं? शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर कुन्तक का विवेचन मार्मिक और अवेक्षणीय है। उनका मत है कि वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों का सम्मिलन काव्य कहाता है।[1] उनका काव्य-लक्षण भी शब्दार्थ के सहितभाव का द्योतक है। काव्य का पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द भी 'सहितयोर्भावः साहित्यम्'—इस निर्वचन के आधार पर शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर अवस्थित है। यहाँ एक शंका उपस्थित होती है इस सहित-भाव रूप सम्बन्ध के मानने की आवश्यकता ही क्या है—वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है अतः इनमें साहित्य-विरह का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता' तो फिर काव्य-लक्षण आदि प्रसंगों में इस स्वतःसिद्ध सम्बन्ध पर इतना विशिष्ट बल क्यों? कुन्तक ने वादी के मुख से उक्त शंका उठा कर उसका समाधान इस प्रकार किया है कि 'यह ठीक है (कि लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त साधारण भाषा में शब्द और अर्थ के स्वतःसिद्ध सम्बन्ध-स्थापन पर कोई विशिष्ट बल नहीं दिया जाता) पर काव्य में तो शब्दार्थ का विशिष्ट सहितभाव (साहित्य) अभिप्रेत है और वह है वक्रता से विचित्र गुण और अलंकार की सम्पत्ति का (शब्दार्थ में) परस्पर स्पर्धापूर्वक अविरुद्ध होना।'[2] शब्दार्थ की यह

---

१ शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।
—व० जी० पृष्ठ १८

२ ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् एतयोर्न कथंचिदपि

स्पर्धा एक दूसरे को अधिक से अधिक प्राप्त बनाती है। यह स्पर्धा शत्रुता पर आधृत न रहकर मित्रता पर आधृत है—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ व० जी० पृष्ठ ११

जगन्नाथ ने 'शब्दार्थ-साहित्य' पर जो आपत्ति उठाई थी कि 'शब्द और अर्थ 'दोनों' को एक काव्य क्योंकर मान लिया जाए ?' यह वास्तव में कोई नई नहीं है। कुन्तक का वादी इसे पहले ही उठा चुका था—'दोनों मिलकर 'एक' काव्य ! बड़ा विचित्र कथन है !' पर कुन्तक को न तो केवल शब्द को काव्य मानना अभीष्ट है और न अर्थ को। अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने दो तर्क उपस्थित किए हैं। पहला तर्क यह कि 'जिस प्रकार तेल प्रत्येक तिल में रहता है उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारित्व (रूप काव्य भी) शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है न कि केवल एक में !'[1] पर हमारे विचार में कुन्तक का यह उपमानमूलक तर्क शिथिल है। प्रत्येक तिल से निस्सृत तेल की अपनी सत्ता है पर शब्द और अर्थ न तो कभी अकेले-अकेले 'काव्य' कहा सकते हैं, और न किसी 'एक' का चमत्कार अपनी स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क निस्सन्देह प्रबल और अकाट्य है कि लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ नपे-तुले रूप में प्रयुक्त न भी हो सकें दूसरे शब्दों में, किसी अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द का प्रयोग न भी किया जा सके तो क्षम्य है, पर काव्य में ऐसा होना अशोभाकर है। सौंदर्य की ओर से आगे वाली और शब्दार्थ की न्यूनता अथवा अतिरिक्तता से रहित मनोहारिणी अवस्थिति का नाम 'साहित्य' है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ व० जी० १।१७

निस्सन्देह कुन्तक की यह मान्यता उपादेय है। विवक्षित अर्थ के लिए विशिष्ट और उपयुक्त शब्द के निर्वाचन में ही कवि की प्रतिभा

साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। व० जी० पृष्ठ २५

1 द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। × × × तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। व० जी० पृ० १८

निहित है। वाचकत्व (शब्द) का लक्षण भी यही है कि 'जो कवि के विशेष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की क्षमता रखता है।'[1] अन्य बीसियों पर्यायवाची शब्दों के विद्यमान होने पर भी जो अभीष्ट अर्थ का वाचक है, वही (यथार्थ) शब्द है; और जो अपने स्पन्द अर्थात् स्वभाव से सहृदय-जनों के लिए आह्लादकारी है, वही अर्थ है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ व० जी० १।९

अर्थ को यह स्पन्द उपयुक्त शब्द से ही प्राप्त होता है, इसमें नितान्त भी सन्देह नहीं। शब्द और अर्थ का साहित्य लोक में भले ही क्षम्य हो, पर काव्य में कदापि क्षम्य नहीं है।

कुन्तक की उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा काव्यलक्षण को निश्चित करने के लिए निस्सन्देह एक अनिवार्य तत्त्व है। अपने काव्यलक्षण में जगन्नाथ ने केवल 'शब्द' को स्थान दिया है, शब्दार्थ को नहीं, तो क्या वे कुन्तक-सम्मत 'शब्दार्थ-साहित्य' के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं? हमारा विचार है कि उनका काव्यलक्षण इस कसौटी पर भी खरा उतरता है। 'शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्' इस चर्चा में उनका निष्कर्ष-कथन है—'काव्यशब्दस्य × × × शब्दविशेषैकनिष्ठता।'[2] यह ठीक है कि जगन्नाथ 'शब्द' को काव्य का शरीर मानते हैं, न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। पर उनकी एतद्विषयक चर्चा में कहीं भी शब्दार्थ के 'साहित्य' की अस्वीकृति का संकेत नहीं मिलता। उनकी इस चर्चा का प्रधान लक्ष्य शब्द को ही काव्य-शरीर मानते हुए अर्थ को काव्य-शरीर न मानना ही है। पर इस से अर्थ का गौरव कम नहीं होता अपितु बढ़ जाता है। 'शब्द' काव्य का बाह्य रूप है, और 'अर्थ' आन्तरिक रूप। अतः 'अर्थ' को शब्द के स्तर पर रख कर उसे काव्यशरीर क्यों पुकारा जाए? कवि के हृद्गत भाव तब तक 'काव्य' पद के अधिकारी नहीं बनते जब तक उन्हें वाणी अथवा वर्णों के रूप में 'शब्द' का आकार नहीं मिल जाता। काव्यशरीर मानना भी उसे चाहिए जो आकृतिमान्, स्थूल-रूपात्मक हो। यही कारण है कि जगन्नाथ

1 कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् ।
—व० जी० पृष्ठ ३१

2 रसगंगाधर पृ० ६—७

(और विश्वनाथ भी) 'शब्द' को शरीर मानते हैं, न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। इतना होने पर भी जगन्नाथ का काव्यलक्षण कुन्तक के 'शब्दार्थ-साहित्य सिद्धान्त' से विमुख नहीं है। कुन्तक का प्रमुख तर्क था विवक्षित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्दचयन। मुख्यतः इसी तत्त्व पर उनका 'शब्दार्थ-साहित्य-सिद्धान्त' आधृत है। हमारा विचार है कि जगन्नाथ का 'रमणीयार्थ' शब्द इसी तत्त्व का अनुमोदक है। उपयुक्त शब्दचयन के बिना रमणीयता (सहृदयाह्लादजनकता) का सद्भाव किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। केवल शब्द मात्र को उन्होंने भी काव्य नहीं माना। रमणीयार्थता से संयुक्त होना उसका अनिवार्य विशेषण है। जहाँ मम्मट आदि आचार्य शब्द और अर्थ को एक ही स्तर पर स्थापित करते हैं, वहां जगन्नाथ 'अर्थ' को शब्द का विशेषण मानते हैं। यही दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है पर शब्द और अर्थ का सहितभाव जगन्नाथ को भी अभीष्ट है। हाँ निरर्थक अथवा रमणीयार्थ-निरपेक्ष शब्द को यदि जगन्नाथ काव्य मानते तो निस्संदेह उन्हें शब्द और अर्थ का सहित-भाव स्वीकार न होता। पर उनका काव्यलक्षण कुन्तक के सिद्धान्त पर खरा उतरता है, यह हमारा अभिमत है। केवल 'शब्द' को काव्यशरीर मानते हुए भी शब्द और अर्थ में सहितभाव स्वीकार करने में कोई विरोध भी सूचित नहीं होता। अतः हमारी सम्मति में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्यलक्षण सर्वोत्कृष्ट है।

ख काव्यहेतु

किसी आश्चर्यजनक पदार्थ, प्राकृतिक दृश्य अथवा करुणा-विभावोद्वेगजनक घटना को देख अथवा सुनकर किन्हीं व्यक्तियों के हृदय पर नाम-मात्र का प्रभाव पड़ता है; कई इनसे थोड़ी देर के लिए सही—अवश्य उद्वेलित, उद्वेलित और विलोडित हो उठते हैं; और कई इनसे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं—उनका मन और वाणी एक सूत्र में बंध जाते हैं—मनोवेग वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होने लगते हैं और प्रायः हाथ भी लेखनी के द्वारा इस अभिव्यक्ति में साथ देने लगता है। पहले प्रकार के व्यक्ति असहृदय अथवा काष्ठ-कुड्याश्मसन्निभ कहाते हैं, और दूसरे तथा तीसरे प्रकार के व्यक्ति सहृदय। सहृदय के दो प्रकार सम्भव हैं—सामान्य सहृदय और कवि-सहृदय। विषय की सरलता के लिए इन्हें क्रमशः

सहृदय और कवि नामों से अभिहित किया जाता है। उक्त व्यक्तिप्रकारों में दूसरे प्रकार के व्यक्ति 'सहृदय' हैं और तीसरे प्रकार के 'कवि'। किसी भावोद्रेचक घटना, पदार्थ अथवा रचना से भावन-प्रक्रिया द्वारा तरंगित हो उठने की प्रतिभा दोनों में विद्यमान है, अन्तर इतना है कि कवि में भावन-क्रिया को काव्य के रूप में बाह्य आकार देने की प्रतिभा विद्यमान है पर सहृदय इस प्रतिभा से वंचित है। राजशेखर ने कवि की प्रतिभा को 'कारयित्री' कहा है, और सहृदय की प्रतिभा को 'भावयित्री'।[1] यह तो स्पष्ट है ही कि कवि की कारयित्री प्रतिभा भावयित्री भी है, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार उन्होंने इसे कारयित्री नाम से अभिहित किया है। काव्य-निर्मिति के लिए कवि में इस 'प्रतिभा' नामक काव्यहेतु का होना नितान्त अनिवार्य है जिसके बिना उत्कृष्ट कवि-कर्म की निष्पन्नता नितान्त असम्भव है। प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य हेतुओं की भी काव्य शास्त्रियों ने चर्चा की है।

विभिन्न काव्य-हेतु—संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्य हेतुओं का निरूपण किया है दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट उल्लेख्य हैं। दण्डी ने तीन काव्यहेतु माने हैं—नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास[2]। रुद्रट तथा कुन्तक ने भी इनकी संख्या तीन गिनाई है—शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास।[3] वामन ने भी तीन प्रकार के काव्यहेतु माने हैं—लोक अर्थात् लोकव्यवहारज्ञान विद्या अर्थात् विभिन्न शास्त्रज्ञान और प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अन्तर्गत इन्होंने इन छः हेतुओं को सम्मिलित किया है—लक्ष्यज्ञत्व (अन्यकाव्यानुशीलन) अभियोग, वृद्धसेवा (गुरुसेवा द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण अर्थात् उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण प्रतिभान

---

१ कारयित्रीभावयित्र्यादिभिर्मे प्रतिभाभिदे। का मी तथ पृष्ठ ११।

२ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ का द० १।१०३

३ (क) तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ काव्या (रु) १।१४
(ख) व जी १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १ १

(प्रतिभा) और अवधान (चित्तैकाग्रता)।[1] तत्पश्चात् मम्मट के सम्मुख उपर्युक्त सभी काव्यहेतु थे। उन्होंने स्वसम्मत तीन काव्य-हेतुओं में उपरि लिखित सभी हेतुओं को अन्तर्भूत कर दिया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ का॰ प्र॰ १।३।

मम्मट प्रस्तुत 'शक्ति' दण्डी और वामन द्वारा सम्मत प्रतिभा का अपर नाम है। मम्मट की 'निपुणता' के अन्तर्गत दण्डि-सम्मत निर्मल शास्त्रज्ञान, रुद्रट-सम्मत व्युत्पत्ति और वामन-सम्मत लोक विद्या लक्ष्यज्ञत्व और अवेक्षण का समावेश हो जाता है और इनके 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन द्वारा सम्मत अभियोग का तथा वामन द्वारा सम्मत वृद्धसेवा का। वामन-प्रस्तुत 'अवधान' भी अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है, पर यह काव्य का हेतु न होकर निपुणता और अभ्यास का हेतु है। अवधान साधन है, और ये दोनों साध्य हैं। अतः इसे स्वतंत्र हेतु न मान कर इसका अन्तर्भाव निपुणता और अभ्यास दोनों में किया जाना सहज-सम्भव है।

निष्कर्ष—भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत किया है अथवा इसे अनिवार्य और सर्वोत्कृष्ट काव्यहेतु के रूप में स्वीकृत किया है।

प्रतिभा का लक्षण—प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत करने वाले उल्लेखनीय आचार्यों में रुद्रट, भट्ट तौत और जगन्नाथ ने काव्य के वस्तुविषय को ध्यान में रखा है और कुन्तक तथा मम्मट ने प्रतिभोत्पत्ति के कारण को। रुद्रट के कथन का अभिप्राय है—जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विविध अभिधेयों (काव्य विषयों) को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति अर्थात् प्रतिभा कहते हैं।[2] इसी से मिलता जुलता लक्षण जगन्नाथ ने प्रस्तुत किया है—सा (प्रतिभा)

---

१ (क) लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि। का॰ सू॰ वृ॰ १।३।१

(ख) लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।

वही १।३।११

२ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।

अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

का॰ अ॰ १।१५

अन्यजन्मानुभवाभ्यासोपस्थितिः ।[1] रुद्रट और जगन्नाथ की परिभाषाओं में काव्य के बाह्य (शब्द) और आन्तरिक (अर्थ) दोनों रूपों की चर्चा है, पर भट्ट तौत के लक्षण में केवल आन्तरिक रूप की चर्चा लक्षित शब्दावलि में की गई है—नए नए (अर्थों) का सतत उत्पादन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहाती है—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।[2] इन सब के विपरीत कुन्तक और मम्मट का लक्ष्य प्रतिभा के कारण पर विशिष्ट प्रकाश डालना है—

'पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति प्रतिभा कहाती है ।'[3] (कुन्तक)

'कवित्व-निर्माण के बीज रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं ।'[4] (मम्मट)

प्रतिभा की अनिवार्यता—सर्वप्रथम भामह ने प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करते हुए इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनके कथनानुसार शास्त्र पढ़ लेना और बात है और काव्य का निर्माण कर लेना और बात। शास्त्र-पठन तो गुरूपदेश द्वारा जड़बुद्धि के लिए भी सम्भव हो सकता है पर काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है ।[5] भामह के उपरान्त वामन ने प्रतिभा को 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गिना कर उसे प्रमुख स्थान न देते हुए भी उसे 'कवित्व का बीज' मान कर प्रकारान्तर से उसकी महत्ता दिखाई है ।[6]

प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता—विभिन्न काव्यहेतुओं के निर्दिष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्यों के सम्मुख इन प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक था—क्या सभी काव्यहेतु आवश्यक हैं ? यदि हाँ, तो कौन सा हेतु

---

१ र० गं० १म आ०, पृष्ठ ३

२. सा० द० (पी. वी. काणे) नोट्स पृष्ठ ५

३ प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः ।
व० जी० १।२९ (वृत्ति) पृष्ठ १०

४ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । का० प्र० १।३ (वृत्ति)

५. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥ का० अ० १।५

६ कवित्वबीजं प्रतिभानम् । का० सू० वृ० १।३।१६

अपेक्षित है ? और यदि नहीं, तो कौन सा हेतु अनिवार्य है ? इन विकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर में प्रतिभा का ही पलड़ा भारी रहा, इसे सर्वोत्कृष्ट भी स्वीकार किया गया और अनिवार्य भी। शेष दो स्थूल हेतुओं—व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास को गौण स्थान भी मिला और ये प्रतिभा के परिपोषक और परिष्कारक हेतु रूप में भी स्वीकृत हुए। इस सम्बन्ध में दण्डी, आनन्दवर्धन, मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय जयदेव पीयूषवर्ष और जगन्नाथ के कथन उल्लेख्य हैं।

दण्डी के अनुसार प्रतिभा निस्सन्देह एक आवश्यक काव्य हेतु है, पर इसके अभाव में भी श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है।[1] अलंकारवादी दण्डी प्रतिभा जैसे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हेतु के अभाव में श्रुत और यत्न जैसे बाह्य तथा स्थूल हेतुओं को यदि कुछ सीमा तक मान्य समझते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है पर फिर भी इन दोनों हेतुओं को इन्हें गौण स्थान ही देना अभीष्ट है यह असन्दिग्ध है।

पर आनन्दवर्धन शक्ति (प्रतिभा) को अनिवार्य हेतु के रूप में स्वीकृत करते हैं। उनके कथनानुसार कवि का अशक्तिजन्य दोष तुरन्त और अनायास स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है, पर कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को उसकी शक्ति आच्छादित कर जाती है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ॥ ध्वन्या ३ । ६ (वृ)

दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। इस कथन से आनन्दवर्धन को निस्सन्देह यह कहना अभीष्ट है कि शक्ति अनिवार्य हेतु है, पर व्युत्पत्ति अनिवार्य न होते हुए भी अभिवाञ्छित हेतु अवश्य है। इधर मम्मट की धारणा भी आनन्दवर्धन के प्रतिकूल नहीं है। प्रतिभा को कवित्व का बीज और अनिवार्य हेतु मानते हुए भी मम्मट निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को काव्य के आवश्यक हेतु मानते हैं। इनके विवेचन की विशेषता यह है कि इन्होंने

---

1. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
का द १।१०४

इन तीनों के समन्वित रूप को ही काव्य का हेतु माना है, न कि तीनों को पृथक्-पृथक्। हेतुर्न हेतवः।

मम्मट के उपरान्त काव्यहेतु-विषयक विवेचन-धारा की दिशा बदल गई। वाग्भट प्रथम ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत किया व्युत्पत्ति को इन्होंने काव्य का आभूषण माना और अभ्यास को सामान्य रूप से एक मात्र तत्त्व, न कि अनिवार्य अथवा आवश्यक हेतु।[1] संस्कृत-साहित्यशास्त्र में हेमचन्द्र सम्भवतः प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने शायद प्रतिभा के रुद्रट-सम्मत उत्पाद्या (अर्थात् व्युत्पत्ति-जन्य) नामक एक भेद से[2] अथवा प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टता-सूचक राजशेखर-प्रस्तुत धारणा[3] से प्रेरणा प्राप्त कर प्रतिभा आदि तीनों हेतुओं में से केवल प्रतिभा को, उस प्रतिभा को जो व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा परिष्कृत होती है, काव्य का हेतु माना—प्रतिभास्य हेतुः। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।[4] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतिभा काव्य का हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक अथवा परिष्कारक हेतु हैं, न कि काव्य के। हेमचन्द्र के इस कथन को वाग्भट द्वितीय ने ज्यों का त्यों अपना लिया।[5] जयदेव पीयूषवर्ष ने एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण और अनुमोदन किया—जिस प्रकार मिट्टी और जल से युक्त बीज लता की उत्पत्ति का हेतु है उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा काव्य का हेतु है—

> प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
> हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ च. आ. १।६

---

१ प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥ वा. अ. १।३

२ प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
का. अ. (रु०) १।१६

३. 'सा (शक्ति) केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्।
—का. मी. ४ र्थ अ. पृष्ठ ११

४ का. अनु. (हेम.) पृष्ठ ६

५. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। का. अ. (वाग्भट) पृष्ठ २

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अन्तिम महान् आचार्य जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। हेमचन्द्र के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होंने प्रतिभा का कारण स्वीकृत किया है, न कि काव्य का। पर उनके विचार में व्युत्पत्ति और अभ्यास किन्हीं परिस्थितियों में प्रतिभा के कारण नहीं भी होते। इस अवस्था में अदृष्ट को अर्थात् देवता अथवा महापुरुषादि द्वारा प्रदत्त वरदान-जन्य प्रसाद को प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।[1]

निष्कर्ष—उपर्युक्त निरूपण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत-साहित्याचार्यों में—

(१) केवल दण्डी प्रतिभा (शक्ति) के बिना भी किन्हीं अवस्थाओं में व्युत्पत्ति और अभ्यास के आधार पर काव्योत्पत्ति को स्वीकृत करते हैं पर शेष आचार्यों के मत में प्रतिभा का होना अनिवार्य है।

(२) आनन्दवर्धन और मम्मट प्रतिभा अथवा शक्ति को काव्य का अनिवार्य हेतु और व्युत्पत्ति अथवा निपुणता तथा अभ्यास को काव्य का काम्य हेतु स्वीकार करते हैं।

(३) हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय जयदेव और जगन्नाथ प्रतिभा को काव्य का हेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का हेतु मानते हैं।

विवेचन—हम राजशेखर, हेमचन्द्र और उनके अनुयायियों के समान केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत करते हैं जिसके सद्भाव में (व्युत्पत्ति के न होने पर भी) सुन्दर ग्राम्य-गीतों की सृष्टि देखी जाती है और जिसके अभाव में तुक्कड़ कवियों की तुकबन्दियाँ हास्यास्पद बन जाती हैं। प्रतिभा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि प्रतिभा पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में संचित संस्कारों का अथवा पैत्रिक संस्कारों का ही सुपरिणाम है। इस विषय में कुन्तक से सहमत होते हुए भी हम इस जन्म के संस्कारों को प्रतिभा का उत्पादक कारण नहीं मानते पोषक कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में जगन्नाथ के इस कथन पर कि (पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना) अदृष्ट अर्थात् देवता अथवा महापुरुष आदि के

---

1 तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा च। × × × तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। र० गं० १म आ०, पृष्ठ ८

प्रसाद से प्रतिभा की उत्पत्ति होती है, आधुनिक विचारधारा में परिपुष्ट कोई भी व्यक्ति सहज विश्वास नहीं कर सकता।

यहीं एक अन्य शंका का भी समाधान कर लेना समुचित है—क्या सभी कवियों की प्रतिभा एक सी होती है। इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं, अन्यथा सभी कवियों और उनके काव्यों में समानता होने के कारण न तो कवियों में तर और तम के आधार पर कोई विशिष्टता रहती और न काव्य के उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेद स्वीकृत किए जाते। इस सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा उल्लेखनीय है—प्रतिभासम्पन्न कवि और उसकी प्रतिभा में अभेद होने के कारण सुकुमार स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा सहजा (सुकुमार) होती है विचित्र-स्वभावयुक्त कवियों की विचित्र और उभयस्वभाव युक्त कवियों की प्रतिभा मिश्रित शोभाशालिनी होती है।[1]

व्युत्पत्ति अर्थात् विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन अथवा लोक-व्यवहार से ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा का परिपोष होता है। इससे प्रतिभा परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्ति-सम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी और सारग्राहिणी हो उठती है, पर इससे प्रतिभा के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्यथा सभी शास्त्रज्ञ और लोकव्यवहार-पटु व्यक्ति कविता करने की क्षमता रखते। इसी प्रकार धननाशादि-जन्य सांसारिक संघात अथवा पति-पत्नी-पुत्रादि विरह जन्य मानसिक आघात के कारण भी कभी कभी सुप्त प्रतिभा जागृत हो जाती है। अतः इन संघातों अथवा आघातों को भी प्रतिभा का उत्पादक कारण न मान कर प्रेरक कारण मानना चाहिए। अन्यथा हानि उठाए हुए व्यापारी, हारे हुए जुआरी पुत्र-वियुक्त पिता अथवा विधवाएँ और विधुर—ये सभी के सभी कवि-कर्म में तत्पर दीखने चाहिएँ। वास्तव में प्रतिभा सहजा है, उत्पाद्या नहीं है। अतः रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा के उत्पाद्या अर्थात् *व्युत्पत्तिजन्या* नामक भेद से हम तभी सहमत हैं, जब इस का अर्थ 'जन्या' न होकर 'पोष्या' माना जाए। हेमचन्द्र की धारणा निस्सन्देह मान्य है,

---

[1] सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। × × × तथैव चैतस्माद् विचित्रस्वभावो यस्य कवेः × × × तत्र च किमपि विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। × × × एवमेतदुभयमयविचित्रस्वभावसंवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशय-शालिनी शक्तिः समुदेति। व० जी० १।२४ (वृत्ति)

न आया'; 'वह ऊँचे स्वर में काव्य पढ़ता है' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है, न कि 'अर्थ' का। दूसरे, न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'काव्य' कहा सकते हैं और न प्रत्येक पृथक्-पृथक्। एक और एक मिलकर 'दो' होते हैं, अतः न तो दो 'एकों' को हम 'एक' कह सकते हैं, और न किसी 'एक' को दो; क्योंकि अवयव और अवयवी की सत्ता में सदा पार्थक्य रहता है। इस प्रकार न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'एक' काव्य कहा सकते हैं क्योंकि इन दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है, अन्यथा श्लोक का प्रत्येक वाक्य ही काव्य कहाने लग जाएगा; और न शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य मान सकते हैं, अन्यथा एक ही पद्य में दो काव्य मानने पड़ेंगे। अतः केवल 'शब्द' ही काव्य है।[1]

वस्तुतः जगन्नाथ के दोनों तर्क हलके हैं। इन्हें काटने के लिए भी इनके मतिवादों की आवश्यकता थी, जिसे उनके ग्रंथ 'रसगंगाधर' के ही टीकाकार नागेश भट्ट ने पूर्ण किया। यदि 'काव्य सुना' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है तो 'काव्य समझा' में अर्थ का भी वाचक है। शेष रहा दूसरा तर्क तो शब्द अथवा अर्थ में से किसी एक के लिए लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। अतः 'शब्दार्थ' को ही काव्य मानना समुचित है।[2]

समीक्षा—मम्मट के काव्यलक्षण पर आक्षेप हुए, और टीकाकारों द्वारा उनकी निवृत्ति भी हुई, पर केवल यही निवृत्ति मम्मट के काव्यलक्षण के सर्वाधिक मान्य और सर्वप्रिय होने का कारण नहीं है। एक प्रमुख कारण और भी है—मम्मट का अपना महान् व्यक्तित्व। उनके विद्वत्तापूर्ण आचार्यत्व, और बहुमान्य ध्वनिसिद्धान्त के प्रस्तराल में सभी काव्यसिद्धांतों की प्रथम बार सुव्यवस्थित एवं व्यवस्थित निरूपण-शैली के द्वारा पाठकों में मम्मट के प्रति उत्पन्न समादर-भाव ने विश्वनाथ की कटुता को और भी कटु बना दिया, और इस प्रकार मम्मट के अन्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ-साथ उनके काव्यलक्षण को भी सर्वोच्च स्थान मिलता रहा। देखा जाए तो मम्मट का काव्यलक्षण परम्परागत काव्यलक्षणों का संशोधित संस्करण मात्र है। 'शब्दार्थ' में गुणालंकार की संयुक्तता और दोष-रहितता की चर्चा वामन-काल से ही विद्वद्वर्ग में प्रचलित होगी, यह ऊपर दिखाया गया है। इसका स्रोत

---

1 रसगंगाधर पृष्ठ ६ 2 रसगंगाधर (नागेश भट्ट की टीका) पृष्ठ ७

ढूँढना चाहें, तो वह नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हो जाता है।[1] वस्तुतः मम्मट का मौलिक प्रयास काव्य-परिभाषा में, अथवा यों कहिए काव्यशास्त्र में अलंकार को यथोचित स्थान देना है, और बस। मम्मट से किंचित् पूर्ववर्ती अथवा समकालीन अग्निपुराण के (काव्यशास्त्र-सम्बन्धी भाग के) कर्ता ने और भोजदेव ने स्वनिरूपित काव्यलक्षणों में लगभग मम्मट-सम्मत स्वरूप को ही स्थान दिया है।[2] फिर मम्मट के पश्चात् तो यह परम्परा किसी न किसी रूप में लगभग अक्षुण्ण सी बनी रही। हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय और जयदेव पीयूषवर्ष के काव्य-लक्षण इस तथ्य का सबल प्रमाण हैं।[3] हाँ, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे आचार्य निस्सन्देह इस परम्परा के उल्लंघक हैं। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों ने भी मम्मट का ही प्रायः अनुकरण किया है। इस प्रकार परम्परापुष्ट और सर्वाधिक मान्य काव्य लक्षण पर यदि उक्त रूप से आक्षेपों की भरमार हुई है तो इसका कारण मम्मट की सुविशाल ख्याति को ही समझना चाहिए, अन्यथा वामन

---

१ मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ ना शा १७।१२२

२. (क) संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥ अ पु ३३७

(ख) निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥
—स क भ १।२

३. (क) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
—का अनु (हेम) पृष्ठ १६

(ख) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।
—का अनु (वाग्भट) पृष्ठ १४

(ग) साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ वा भ १।२

(घ) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ च आ० १।७

अग्निपुराणकार और भोजराज पर भी विद्वानों को आक्षेप करने की रुचि क्यों होती 'विश्वनाथ तो हर युग में मिल जाते हैं।

फिर भी हमारे विचार में मम्मट का काव्यलक्षण आदर्श नहीं माना जा सकता। 'अदोषौ' विशेषण को यदि इसी आधार पर स्वीकृत किया जाता है कि आदर्श काव्य के लक्षण में इसे स्थान मिलना चाहिए, तो 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सालंकृती' विशेषण को ही स्थान मिलना चाहिए था। दूसरे, 'सगुणौ' शब्द से 'रसौ' और 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ होते हुए रसगत, वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र-काव्य इन सब को 'सगुणौ' विशेषण में समाविष्ट करना मम्मट को भी अभीष्ट होगा अथवा नहीं इसमें सन्देह है। उनकी अपनी वृत्ति इस विषय पर मौन है। यों विश्वनाथ को करारा उत्तर देने के उद्देश्य से 'सगुणौ' की इतनी महत्त्वपूर्ण और विशद व्याख्या मान्य भी हो सकती है क्योंकि अप्रिय क्रिया की प्रति-क्रिया अनुचित होते हुए भी प्रायः उल्लासकारी होती है। हमारे विचार में 'सगुणौ' को 'माधुर्यादि-गुणसहितौ' समझना चाहिए। बहुत हुआ तो इसका 'रसौ' अर्थ भी लिया जा सकता है। 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ के बल पर वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि गुणीभूतव्यंग्य और विशेषतः चित्र-काव्य में माधुर्यादि गुणों का अस्तित्व मानना गुणों की वास्तविक परिभाषा—'द्रुत्यादिचित्तप्रयोजकता' से विमुख होना है। उदाहरणतया 'उदेति सवितर्ता ताम्रः' में प्रसाद गुण की स्वीकृति से प्रसाद गुण केवल सरल रचना का पर्याय मात्र रह जायगा चित्तव्याप्ति रूप प्रयोजकता का महान् स्वरूप खो बैठेगा। शेष रहा 'शब्दार्थौ' तो उसे काव्य-शरीर मानने में कुन्तक के वक्ष्यमाण विवेचन से हम सहमत हैं। मम्मट के प्रति समादर भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यदि टीकाकारों की इतनी विशद व्याख्या स्वीकृत कर भी ली जाए, तो भी इस लक्षण में वही महान् दोष है जो 'ध्वनि रात्मा काव्यस्य' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अत्यधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन कुन्तक और मम्मट जैसे उद्भट आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर एक महान् उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का यह लक्षण देकर उन्होंने इसे निभाने का पूर्ण प्रयत्न भी किया। 'ध्वनि' रूप उत्तम काव्य के प्रमुख भेद 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकृत कर विश्वनाथ

से भरत मुनि से लेकर अपने समय तक चले आ रहे रस के प्रति समादर भाव का (यहाँ तक कि जिसे भामह दण्डी उद्भट और रुद्रट जैसे अलंकारवादियों और वामन जैसे रीतिवादी ने भी यथास्थान प्रदर्शित किया था[1]) काव्यलक्षण में स्थान देकर काव्यशास्त्रियों के मर्म को छू सा लिया है। रसात्मकता में निस्सन्देह गुणालंकार की सहितता का भी समावेश हो जाता है। मम्मट का काव्यलक्षण बाह्य अधिक था विश्वनाथ का लक्षण आभ्यन्तरिक अधिक है। मम्मट के लक्षण में रस के प्रति निर्देश अप्रत्यक्ष था, यहाँ प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। पर आदर्श काव्य-लक्षण यह भी नहीं है। क्या 'रस' काव्य के शेष सभी स्वरूपों—वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्र-काव्य और रसवदादि अलंकारों को, जिन्हें विश्वनाथ ने स्वयं भी अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है, आत्मसात् कर सकता है? विश्वनाथ का कथन है कि 'वस्तुगत ध्वनि को (और अलंकारगत ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य को भी) रसाभासादि ध्वनियों का विषय मानकर काव्यत्व प्राप्त हो सकता है।[2] पर वस्तुगत ध्वनि के 'उदेति मण्डलं विधोः' आदि उदाहरणों को हमारे विचार में रसाभासादि का विषय मानना संगत नहीं है, अन्यथा रसाभासादि ध्वनियाँ अति निम्न धरातल पर उतर आयेंगी। यही बात चित्रकाव्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतः यह लक्षण काव्यसर्वस्व 'रस' का परिपोषक होता हुआ भी अव्याप्ति दोष से दूषित है। सम्भवतः विश्वनाथ को 'रस' के अतिरिक्त शेष सभी काव्य-प्रकारों को गौण काव्य मानना अभीष्ट होगा, जो कि हमारी दृष्टि में उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष भी इस काव्य-लक्षण में है। 'वाक्य' पदोच्चय का नाम है। अतः विश्वनाथ शब्द' को ही काव्यशरीर मानने के समर्थक हैं, शब्दार्थ को नहीं; जो कि समुचित नहीं है। व्याख्यासापेक्ष तो यह काव्य-लक्षण है ही यह इस में तीसरा दोष है।

जगन्नाथ—जगन्नाथ का काव्यलक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' एक महान् तत्त्व का सूचक है—वह है रमणीयता, जिसे वामन ने 'सौन्दर्य', दण्डी ने 'इष्टार्थ', और आनन्दवर्धन तथा कुन्तक ने 'लोकोत्तर

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए प्र० भ पंचम अध्याय 'रस'।

[2] वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्त्वैवेति ब्रूमः। सा द १ म परि० पृ १५

आह्लाद' नाम से पुकारा है। काव्य-शास्त्र का बहुप्रयुक्त शब्द 'चमत्कार' भी इन्हीं का पर्यायवाची है। 'सौन्दर्य' और 'चमत्कार' शब्दों में काव्य का बाह्य सुरूप तथा 'लोकोत्तर आह्लाद' में काव्य का आन्तरिक सुरूप अधिक निहित है, और इनकी के 'इव' शब्द की मध्यम स्थिति है। पर 'रमणीयता' शब्द हमारे विचार में बाह्य और आन्तरिक दोनों सुरूपों का समान रूप से पोषक होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण है। जगन्नाथ के शब्दों में रमणीयता शब्द का अर्थ है—लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की विषयीभूतता—'लोकोत्तराह्लाद-जनकज्ञानगोचरता'। दूसरे शब्दों में, जिसके ज्ञान अर्थात् बार-बार अनुसन्धान करने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं, ऐसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द (अथवा शब्द-समूह) काव्य कहाता है। आह्लाद शब्द का 'लोकोत्तर' विशेषण पुत्रोत्पत्ति, धनप्राप्ति आदि लौकिक आह्लादों (आनन्दों) से काव्यगत आह्लाद के पार्थक्य का सूचक है।

समीक्षा—हमारे विचार में काव्य का यह लक्षण बहुत सीमा तक उपयुक्त है। जगन्नाथ से पूर्व काव्य-लक्षण तीन प्रकार से हुए—

(१) भामह और रुद्रट के मत में शब्दार्थ के सहित-भाव का नाम काव्य है; पर इससे शब्द और अर्थ के साधारण संयोगमात्र, जगन्नाथ के शब्दों में शब्दार्थ की केवल 'व्याप्ति' (व्याख्यवृत्ति) की सूचना मिलती है और बस।

(२) मम्मट आदि के मत में निर्दोष तथा गुणालंकार-सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है पर इन लक्षणों से ध्वनि अथवा रस-जन्य लोकोत्तराह्लाद कता की सूचना स्पष्ट शब्दों में नहीं मिलती। भोजराज जयदेव आदि के काव्यलक्षणों में रीति गुण, अलंकार और वृत्ति के साथ ही साथ रस की भी परिगणना रस के प्राधान्य की अवहेलना की सूचक है।

(३) आनन्दवर्धन कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रस के आत्मरूप में प्रतिष्ठापन द्वारा अपने-अपने काव्यलक्षण निर्दिष्ट किए हैं, पर इनके लक्षण व्याख्याधीन, अतएव सुगम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त साहित्याचार्यों की लगभग दो सहस्र वर्ष की विभिन्न सिद्धान्त-परम्पराओं से पूर्णतः मेल नहीं खाता और न इसका अनुकरण ही हुआ है।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं आनन्दवर्धन की 'ध्वनि' काव्य

के इतर दो भेदों गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र को और विश्वनाथ का 'रस' इन दो भेदों के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तुगत और अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों को अपने अन्तराल में समाविष्ट नहीं कर सकता। पर जगन्नाथ की 'रमणीयता' में किसी भी प्रकार के काव्यचमत्कार को धारण करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त गुण, अलंकार, ध्वनि, रस आदि पारिभाषिक शब्दावलि से नितान्त विनिर्मुक्त होने के कारण यह लक्षण सुगम है अतः काव्यस्वरूप का सीधा परिचायक है। दण्डी का काव्यलक्षण भी लगभग इन्हीं गुणों से युक्त है पर वह एक संयोग मात्र है। जगन्नाथ पर दण्डी का प्रभाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

जगन्नाथ के काव्यलक्षण पर एक महान् आपत्ति उठाई जा सकती है कि केवल 'शब्द' को काव्य क्यों माना गया 'शब्दार्थ' को क्यों नहीं? शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर कुन्तक का विवेचन मार्मिक और मनोरंजनीय है। उनका मत है कि वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों का सम्मिलन काव्य कहाता है।[1] उनका काव्य-लक्षण–भी शब्दार्थ के सहितभाव का द्योतक है। काव्य का पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द भी 'सहितयोर्भावः साहित्यम्'—इस निर्वचन के आधार पर शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर अवस्थित है। यहाँ एक शंका उपस्थित होती है इस सहित-भाव रूप सम्बन्ध के मानने की आवश्यकता ही क्या है—वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है अतः इनमें साहित्य-विरह का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता' तो फिर काव्य लक्षण आदि प्रसंगों में इस स्वतःसिद्ध सम्बन्ध पर इतना विशिष्ट बल क्यों? कुन्तक ने वादी के मुख से उक्त शंका उठवा कर उसका समाधान इस प्रकार किया है कि 'यह ठीक है (कि लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त साधारण भाषा में शब्द और अर्थ के स्वतःसिद्ध सम्बन्ध-स्थापन पर कोई विशिष्ट बल नहीं दिया जाता) पर काव्य में तो शब्दार्थ का विशिष्ट सहितभाव (साहित्य) अभिप्रेत है, और वह है वक्रता से विचित्र गुण और अलंकार की सम्पत्ति का (शब्दार्थ में) परस्पर स्पर्धापूर्वक अधिरूढ़ होना।[2] शब्दार्थ की यह

---

१ शब्दार्थौ काव्यम् वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।
—व० जी० पृष्ठ १८

२. ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि

स्पर्धा एक दूसरे को अधिक से अधिक भव्य बनाती है। यह स्पर्धा शत्रुता पर आधृत न रहकर मित्रता पर आधृत है—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥ व० जी० पृष्ठ ११

जगन्नाथ ने 'शब्दार्थ-साहित्य' पर जो आपत्ति उठाई थी कि 'शब्द और अर्थ 'दोनों' को एक काव्य क्योंकर मान लिया जाए ?' वह वास्तव में कोई नई नहीं है। कुन्तक का वादी इसे पहले ही उठा चुका था—'दोनों मिलकर 'एक' काव्य ! बड़ा विचित्र कथन है !' पर कुन्तक को न तो केवल शब्द को काव्य मानना अभीष्ट है और न अर्थ को। अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने दो तर्क उपस्थित किए हैं। पहला तर्क यह कि 'जिस प्रकार तेल प्रत्येक तिल में रहता है उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारित्व (रूप काव्य भी) शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है न कि केवल एक में।'[1] पर हमारे विचार में कुन्तक का यह उपमानमूलक तर्क शिथिल है। प्रत्येक तिल से निस्सृत तेल की अपनी सत्ता है पर शब्द और अर्थ न तो कभी अकेले-अकेले 'काव्य' कहा सकते हैं, और न किसी 'एक' का चमत्कार अपनी स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क निस्सन्देह प्रबल और अकाट्य है कि लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ अपने-उचित रूप में प्रयुक्त न भी हो सकें दूसरे शब्दों में, किसी अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द का प्रयोग न भी किया जा सके तो क्षम्य है, पर काव्य में ऐसा होना अशोभाकर है। सौंदर्य की ओर ले जाने वाली और शब्दार्थ की न्यूनता अथवा अतिरिक्तता से रहित मनोहारिणी अवस्थिति का नाम 'साहित्य' है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ व० जी० १।१७

निस्सन्देह कुन्तक की यह मान्यता उपादेय है। विवक्षित अर्थ के लिए विशिष्ट और उपयुक्त शब्द के निर्वाचन में ही कवि की प्रतिभा

साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रतावैचित्र्यगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। व० जी० पृष्ठ २५

१ द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। × × × तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। व० जी० पृ० १८

के इतर दो भेदों गुणीभूत व्यंग्य और चित्र को; और चित्रभाव का 'रस' इन दो भेदों के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तुगत और अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों को अपने अन्तराल में समाविष्ट नहीं कर सकता। पर जगन्नाथ की 'रमणीयता' में किसी भी प्रकार के काव्यचमत्कार को धारण करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त गुण अलंकार, ध्वनि, रस आदि पारिभाषिक शब्दावलि से नितान्त विनिर्मुक्त होने के कारण यह लक्षण सुगम है, अतः काव्यस्वरूप का सीधा परिचायक है। दण्डी का काव्यलक्षण भी लगभग इन्हीं गुणों से युक्त है पर यह एक संयोग मात्र है। जगन्नाथ पर दण्डी का प्रभाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

जगन्नाथ के काव्यलक्षण पर एक महान् आपत्ति उठाई जा सकती है कि केवल 'शब्द' को काव्य क्यों माना गया, 'शब्दार्थ' को क्यों नहीं? शब्द और अर्थ के साहित्य-भाव पर कुन्तक का विवेचन मार्मिक और अपेक्षणीय है। उनका मत है कि वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों का सम्मिलन काव्य कहाता है।[1] उनका काव्य-लक्षण भी शब्दार्थ के सहितभाव का द्योतक है। काव्य का पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द भी 'सहितयोर्भावः साहित्यम्'—इस निर्वचन के आधार पर शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर अवलम्बित है। यहाँ एक शंका उपस्थित होती है इस सहित-भाव रूप सम्बन्ध के मानने की आवश्यकता ही क्या है—'वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है अतः इनमें साहित्य-विरह का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता' तो फिर काव्य लक्षण आदि प्रसंगों में इस स्वतःसिद्ध सम्बन्ध पर इतना विशिष्ट बल क्यों? कुन्तक ने वादी के मुख से उक्त शंका उठा कर उसका समाधान इस प्रकार किया है कि यह ठीक है (कि लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त साधारण भाषा में शब्द और अर्थ के स्वतःसिद्ध सम्बन्ध-स्थापन पर कोई विशिष्ट बल नहीं दिया जाता) पर काव्य में तो शब्दार्थ का विशिष्ट सहितभाव (साहित्य) अभिप्रेत है, और वह है वक्रता से विचित्र गुण और अलंकार की सम्पत्ति का (शब्दार्थ में) परस्पर स्पर्धापूर्वक अविरुद्ध होना।[2] शब्दार्थ की यह

---

१ शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।
—व० जी० पृष्ठ १४

२. ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि

स्पर्धा एक दूसरे को अधिक से अधिक मान्य बनाती है। यह स्पर्धा शत्रुता पर आधृत न रहकर मित्रता पर आधृत है—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥ व० जी० पृष्ठ २१

जगन्नाथ ने 'शब्दार्थ-साहित्य' पर जो आपत्ति उठाई थी कि 'शब्द और अर्थ दोनों' को एक काव्य क्योंकर मान लिया जाए?' यह वास्तव में कोई नई नहीं है। कुन्तक का वादी इसे पहले ही उठा चुका था—'दोनों मिलकर 'एक' काव्य! बड़ा विचित्र कथन है!' पर कुन्तक को न तो केवल शब्द को काव्य मानना अभीष्ट है और न अर्थ को। अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने दो तर्क उपस्थित किए हैं। पहला तर्क यह कि 'जिस प्रकार तेल प्रत्येक तिल में रहता है उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारित्व (रूप काव्य भी) शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है न कि केवल एक में।'[1] पर हमारे विचार में कुन्तक का यह उपमानमूलक तर्क शिथिल है। प्रत्येक तिल से निरपेक्ष तेल की अपनी सत्ता है पर शब्द और अर्थ न तो कभी अकेले-अकेले 'काव्य' कहा सकते हैं, और न किसी 'एक' का चमत्कार अपनी स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क निस्सन्देह प्रबल और अकाट्य है कि लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ नपे-तुले रूप में प्रयुक्त न भी हो सकें दूसरे शब्दों में, किसी अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द का प्रयोग न भी किया जा सके तो क्षम्य है, पर काव्य में ऐसा होना अशोभाकर है। सौरस्य की ओर से आने वाली और शब्दार्थ की न्यूनता अथवा अतिरिक्तता से रहित मनोहारिणी अवस्थिति का नाम 'साहित्य' है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ व० जी० १।१७

निस्सन्देह कुन्तक की यह मान्यता उपादेय है। विवक्षित अर्थ के लिए विशिष्ट और उपयुक्त शब्द के निर्वाचन में ही कवि की प्रतिभा

साहित्यविरहः। सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। व० जी० पृष्ठ १५

१ द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। × × × तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। व० जी० पृ० १४

निहित है। वाचकत्व (शब्द) का लक्षण भी यही है कि 'जो कवि के विशेष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की क्षमता रखता है।'[1] अन्य सैकड़ों पर्यायवाची शब्दों के विद्यमान होने पर भी जो अभीष्ट अर्थ का वाचक है, वही (यथार्थ) शब्द है और जो अपने स्पन्द अर्थात् स्वभाव से सहृदय-जनों के लिए आह्लादकारी है, वही अर्थ है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ व० जी० १।९

अर्थ का यह रूप उपयुक्त शब्द से ही प्राप्त होता है, इसमें नितान्त भी सन्देह नहीं। शब्द और अर्थ का साहित्य लोक में भले ही सम्भव हो, पर काव्य में कदापि सम्भव नहीं है।

कुन्तक की उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा काव्यलक्षण को निश्चित करने के लिए निस्सन्देह एक अनिवार्य तत्त्व है। अपने काव्यलक्षण में जगन्नाथ ने केवल 'शब्द' को स्थान दिया है, शब्दार्थ को नहीं; तो क्या वे कुन्तक-सम्मत 'शब्दार्थ-साहित्य' के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं? हमारा विचार है कि उनका काव्यलक्षण इस कसौटी पर भी खरा उतरता है। 'शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्' इस चर्चा में उनका निष्कर्ष-कथन है—'काव्यलक्षणस्य × × × शब्दनिष्ठतैवोचिता।'[2] यह ठीक है कि जगन्नाथ 'शब्द' को काव्य का शरीर मानते हैं, न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। पर उनकी एतद्विषयक चर्चा में कहीं भी शब्दार्थ के 'साहित्य' की अस्वीकृति का संकेत नहीं मिलता। उनकी इस चर्चा का प्रधान लक्ष्य शब्द को ही काव्य-शरीर मानते हुए अर्थ को काव्य-शरीर न मानना ही है। पर इस से अर्थ का गौरव कम नहीं होता, अपितु बढ़ जाता है। 'शब्द' काव्य का बाह्य रूप है, और 'अर्थ' आन्तरिक रूप। अतः 'अर्थ' को शब्द के स्तर पर रख कर उसे काव्यशरीर क्यों पुकारा जाए? कवि के हृद्गत भाव तब तक काव्य पद के अधिकारी नहीं बनते जब तक उन्हें वाणी अथवा वर्णों के रूप में 'शब्द' का आकार नहीं मिल जाता। काव्यशरीर मानना भी उसे चाहिए जो आकृतिमान्, स्थूल-रूपात्मक हो। यही कारण है कि जगन्नाथ

---

1 कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।
—व० जी० पृष्ठ ११

2 रसगंगाधर पृष्ठ ६–७

(और विश्वनाथ भी) 'शब्द' को शरीर मानते हैं; न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। इतना होने पर भी जगन्नाथ का काव्यलक्षण कुन्तक के 'शब्दार्थ-साहित्य-सिद्धान्त' से विमुख नहीं है। कुन्तक का प्रमुख तर्क या विवक्षित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्दचयन। मुख्यतः इसी तत्त्व पर उनका 'शब्दार्थ-साहित्य-सिद्धान्त' आधृत है। हमारा विचार है कि जगन्नाथ का 'रमणीयार्थ' शब्द इसी तत्त्व का अनुमोदक है। उपयुक्त शब्दचयन के बिना रमणीयता (सहृदयाह्लादजनकता) का सद्भाव किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। केवल शब्द मात्र को उन्होंने भी काव्य नहीं माना। रमणीयार्थता से संयुक्त होना उसका अनिवार्य विशेषण है। जहाँ मम्मट आदि आचार्य शब्द और अर्थ को एक ही स्तर पर स्थापित करते हैं, वहाँ जगन्नाथ 'अर्थ' को शब्द का विशेषण मानते हैं। यही दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है, पर शब्द और अर्थ का साहित्यभाव जगन्नाथ को भी अभीष्ट है। हाँ, निरर्थक अथवा रमणीयार्थ-निरपेक्ष शब्द को यदि जगन्नाथ काव्य मानते तो निस्संदेह उन्हें शब्द और अर्थ का सहित-भाव स्वीकार न होता। पर उनका काव्यलक्षण कुन्तक के सिद्धान्त पर खरा उतरता है, यह हमारा अभिमत है। केवल 'शब्द' को काव्यशरीर मानते हुए भी शब्द और अर्थ में सहितभाव स्वीकार करने में कोई विरोध भी सूचित नहीं होता। अतः हमारी सम्मति में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्यलक्षण सर्वोत्कृष्ट है।

ख काव्यहेतु

किसी आश्चर्यजनक पदार्थ, प्राकृतिक दृश्य अथवा करुणादि भावोद्दीपक घटना को देख अथवा सुनकर किन्हीं व्यक्तियों के हृदय पर नाम-मात्र का प्रभाव पड़ता है; कई इनसे थोड़ी देर के लिए सही—अवश्य उद्वेलित, उद्वेलित, और विलोड़ित हो उठते हैं; और कई इनसे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं—उनका मन और वाणी एक सूत्र में बंध जाते हैं—मनोवेग वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होने लगते हैं और प्रायः हाथ भी लेखनी के द्वारा इस अभिव्यक्ति में साथ देने लगता है। पहले प्रकार के व्यक्ति अरसिक अथवा काष्ठ-कुड्याश्मसन्निभ कहाते हैं, और दूसरे तथा तीसरे प्रकार के व्यक्ति सहृदय। सहृदय के दो प्रकार सम्भव हैं—सामान्य सहृदय और कवि-सहृदय। विषय की सरलता के लिए इन्हें क्रमशः

सहृदय और कवि नामों से अभिहित किया जाता है। उक्त व्यक्तिप्रकारों में दूसरे प्रकार के व्यक्ति 'सहृदय' हैं और तीसरे प्रकार के 'कवि।' किसी भावोद्बोधक घटना, पदार्थ अथवा रचना से भावन-प्रक्रिया द्वारा तरंगित हो उठने की प्रतिभा दोनों में विद्यमान है, अन्तर इतना है कि कवि में भावन-क्रिया को काव्य के रूप में बाह्य आकार देने की प्रतिभा विद्यमान है, पर सहृदय इस प्रतिभा से वंचित है। राजशेखर ने कवि की प्रतिभा को 'कारयित्री' कहा है, और सहृदय की प्रतिभा को 'भावयित्री'।[1] यह तो स्पष्ट है ही कि कवि की कारयित्री प्रतिभा भावयित्री भी है, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार उन्होंने इसे कारयित्री नाम से अभिहित किया है। काव्य-निर्मिति के लिए कवि में इस 'प्रतिभा' नामक काव्यहेतु का होना नितान्त अनिवार्य है जिसके बिना सफल कवि-कर्म की निष्पत्ति नितान्त असम्भव है। प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य हेतुओं की भी काव्यशास्त्रियों ने चर्चा की है।

विभिन्न काव्य-हेतु—संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्यहेतुओं का निरूपण किया है दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट उल्लेख्य हैं। दण्डी ने तीन काव्यहेतु माने हैं—नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास[2]। रुद्रट तथा कुन्तक ने भी इनकी संख्या तीन गिनाई है—शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास।[3] वामन ने भी तीन प्रकार के काव्यहेतु माने हैं—लोक अर्थात् लोकव्यवहारज्ञान विद्या अर्थात् विभिन्न शास्त्रज्ञान और प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अन्तर्गत इन्होंने इन छः हेतुओं को सम्मिलित किया है—लक्ष्यज्ञत्व (अन्यकाव्यानुशीलन) अभियोग वृद्धसेवा (गुरुसेवा द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण अर्थात् उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण, प्रतिभान

---

१ कारयित्रीभावयित्र्याविति भेदे प्रतिभाभिदे। का० मी० ... पृष्ठ ११।

२ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ का० द० १।१०३

३. (क) तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ रुद्र का०(द) १।१४
(ख) व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १०१

(प्रतिभा) और अवधान (चित्तैकाग्रता)।[1] परवर्ती मम्मट के सम्मुख उपर्युक्त सभी काव्यहेतु थे। उन्होंने स्वसम्मत तीन काव्य-हेतुओं में उपरि लिखित सभी हेतुओं को अन्तर्भूत कर दिया है—

> शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
>
> काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ का० प्र० १।३।

मम्मट प्रस्तुत 'शक्ति' रुद्रट और वामन द्वारा सम्मत प्रतिभा का अपर नाम है। मम्मट की 'निपुणता' के अन्तर्गत दण्डि-सम्मत निर्मल शास्त्रज्ञान, रुद्रट-सम्मत व्युत्पत्ति और वामन-सम्मत लोक, विद्या, लक्ष्यज्ञत्व और अवेक्षण का समावेश हो जाता है और इनके 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन द्वारा सम्मत अभियोग का; तथा वामन द्वारा सम्मत वृद्धसेवा का। वामन-प्रस्तुत 'अवधान' भी अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है, पर यह काव्य का हेतु न होकर निपुणता और अभ्यास का हेतु है। अवधान साधन है, और ये दोनों साध्य हैं। अतः इसे स्वतंत्र हेतु न मान कर इसका अन्तर्भाव निपुणता और अभ्यास दोनों में किया जाना सहज-सम्भव है।

निरूपण—भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत किया है, अथवा इसे अनिवार्य और सर्वोत्कृष्ट काव्यहेतु के रूप में स्वीकृत किया है।

प्रतिभा का लक्षण—प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत करने वाले उल्लेख-नीय आचार्यों में रुद्रट, भट्ट तौत और जगन्नाथ ने काव्य के वस्तुविषय को ध्यान में रखा है और कुन्तक तथा मम्मट ने प्रतिभोत्पत्ति के कारण को। रुद्रट के कथन का अभिप्राय है—जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विविध अभिधेयों (काव्य विषयों) को अनुकूल शब्दों में अना-यास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति अर्थात् प्रतिभा कहते हैं।[2] इसी से मिलता जुलता लक्षण जगन्नाथ ने प्रस्तुत किया है—सा (प्रतिभा)

---

१ (क) लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि। का० सू० वृ० १।३।१।

(ख) लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।

वही १।३।११

२ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।

अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

का० अ० १।१५

काव्यबन्धाननुकूलशब्दार्थोपस्थितिः ।[1] रुद्रट और जयदेव की परिभाषाओं में काव्य के बाह्य (शब्द) और आन्तरिक (अर्थ) दोनों रूपों की चर्चा है, पर भट्ट तौत के शब्दों में केवल आन्तरिक रूप की चर्चा लक्षित शब्दावलि में की गई है—नए नए (अर्थों) का स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहाती है—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।[2] इन सब के विपरीत कुन्तक और मम्मट का लक्ष्य प्रतिभा के कारण पर विशिष्ट प्रकाश डालना है—

'पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति प्रतिभा कहाती है।[3] (कुन्तक)

'कवित्व निर्माण के बीज रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं।'[4] (मम्मट)

प्रतिभा की अनिवार्यता—सर्वप्रथम भामह ने प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करते हुए इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनके कथनानुसार शास्त्र पढ़ लेना और बात है और काव्य का निर्माण कर लेना और बात। शास्त्र-पठन तो गुरूपदेश द्वारा जड़बुद्धि के लिए भी सम्भव हो सकता है पर काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है।[5] भामह के उपरान्त वामन ने प्रतिभा को 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गिना कर उसे प्रमुख स्थान न देते हुए भी उसे 'कवित्व का बीज' मान कर प्रकारान्तर से उसकी महत्ता दिखाई है।[6]

प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता—विभिन्न काव्यहेतुओं के निर्दिष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्यों के सम्मुख इन प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक था—क्या सभी काव्यहेतु आवश्यक हैं? यदि हाँ, तो कौन सा हेतु

---

१ र गं १ म पा , पृ ३

२ सा द (पी. वी काणे) नोट्स पृ ५

३ प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।
 व जी १।२९ (वृत्ति) पृ १०

४ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। का प्र १।३ (वृत्ति)

५. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
 काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥ का भ १।५

६ कवित्वबीजं प्रतिभानम्। का सू वृ १।३।१६

सर्वोत्कृष्ट है ? और यदि नहीं, तो कौन सा हेतु अनिवार्य है ? इन विकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर में प्रतिभा का ही पलड़ा भारी रहा, इसे सर्वोत्कृष्ट भी स्वीकार किया गया और अनिवार्य भी। शेष दो स्थूल हेतुओं—व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास को गौण स्थान भी मिला और ये प्रतिभा के परिपोषक और परिवर्द्धक हेतु रूप में भी स्वीकृत हुए। इस सम्बन्ध में दण्डी आनन्दवर्द्धन, मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र वाग्भट प्रथम वाग्भट द्वितीय, जयदेव पीयूषवर्ष और जगन्नाथ के कथन उल्लेख्य हैं।

दण्डी के अनुसार प्रतिभा निस्सन्देह एक आवश्यक काव्य हेतु है, पर इसके अभाव में भी श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है।[1] अलंकारवादी दण्डी प्रतिभा जैसे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हेतु के अभाव में श्रुत और यत्न जैसे बाह्य तथा स्थूल हेतुओं को यदि कुछ सीमा तक ग्राह्य समझते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है पर फिर भी इन दोनों हेतुओं को इन्हें गौण स्थान ही देना अभीष्ट है यह असन्दिग्ध है।

पर आनन्दवर्द्धन शक्ति (प्रतिभा) को अनिवार्य हेतु के रूप में स्वीकृत करते हैं। उनके कथनानुसार कवि का अशक्तिजन्य दोष तुरन्त और अनायास स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है, पर कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को उसकी शक्ति आच्छादित कर जाती है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥ ध्वन्या ३। ६ (वृ)

दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। इस कथन से आनन्दवर्द्धन को निस्सन्देह यह कहना अभीष्ट है कि शक्ति अनिवार्य हेतु है, पर व्युत्पत्ति अनिवार्य न होते हुए भी अभिवाञ्छित हेतु अवश्य है। इधर मम्मट की धारणा भी आनन्दवर्द्धन के प्रतिकूल नहीं है। प्रतिभा को कवित्व का बीज और अनिवार्य हेतु मानते हुए भी मम्मट निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को काव्य के आवश्यक हेतु मानते हैं। इनके विवेचन की विशेषता यह है कि इन्होंने

---

[1] न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
का द १।१०४

इन तीनों के समन्वित रूप को ही काव्य का हेतु माना है, न कि तीनों को पृथक्-पृथक् : हेतुर्न तु हेतवः ।

मम्मट के उपरान्त काव्यहेतु-विषयक विवेचन धारा की दिशा बदल गई । वाग्भट प्रथम ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत किया; व्युत्पत्ति को इन्होंने काव्य का आभूषण माना और अभ्यास को सामान्य रूप से एक मात्र तत्त्व, न कि अनिवार्य अथवा आवश्यक हेतु ।[1] संस्कृत-साहित्यशास्त्र में हेमचन्द्र सम्भवतः प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने शायद प्रतिभा के रुद्रट-सम्मत उत्पाद्या (अर्थात् व्युत्पत्ति-जन्य) नामक एक भेद से[2]; अथवा प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टता-सूचक राजशेखर-प्रस्तुत धारणा[3] से प्रेरणा प्राप्त कर प्रतिभा आदि तीनों हेतुओं में से केवल प्रतिभा को, उस प्रतिभा को जो व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा परिष्कृत होती है काव्य का हेतु माना—प्रतिभास्य हेतुः । व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या ।[4] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतिभा काव्य का हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक अथवा परिष्कारक हेतु हैं, न कि काव्य के । हेमचन्द्र के इस कथन को वाग्भट द्वितीय ने ज्यों का त्यों अपना लिया ।[5] जयदेव पीयूषवर्ष ने एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण और अनुमोदन किया—जिस प्रकार मिट्टी और जल से युक्त बीज लता की उत्पत्ति का हेतु है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा काव्य का हेतु है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥ च० आ० १।६

---

१ प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥ वा० अ० १।३

२ प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
का० अ० (रु०) १।१६

३ 'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः । विप्रसृतिश्च सा प्रतिभा व्युत्पत्तिभ्याम् ।
—का० मी० ४र्थ अ० पृष्ठ ११

४ का० अनु० (हेम०) पृष्ठ ६

५ व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः । का० अ० (वाग्भट) पृष्ठ २

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अन्तिम महान् आचार्य जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। हेमचन्द्र के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होंने प्रतिभा का कारण स्वीकृत किया है न कि काव्य का। पर उनके विचार में व्युत्पत्ति और अभ्यास किन्हीं परिस्थितियों में प्रतिभा के कारण नहीं भी होते। इस अवस्था में अदृष्ट को अर्थात् देवता अथवा महापुरुषादि द्वारा प्रदत्त वरदान-जन्य प्रसाद को प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।[1]

निष्कर्ष—उपर्युक्त निरूपण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत-साहित्याचार्यों में—

(१) केवल दण्डी प्रतिभा (शक्ति) के बिना भी किन्हीं अवस्थाओं में व्युत्पत्ति और अभ्यास के आधार पर काव्योत्पत्ति को स्वीकृत करते हैं, पर शेष आचार्यों के मत में प्रतिभा का होना अनिवार्य है।

(२) आनन्दवर्धन और मम्मट प्रतिभा अथवा शक्ति को काव्य का अनिवार्य हेतु और व्युत्पत्ति अथवा निपुणता तथा अभ्यास को काव्य का काम्य हेतु स्वीकार करते हैं।

(३) हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय जयदेव और जगन्नाथ प्रतिभा को काव्य का हेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का हेतु मानते हैं।

विवेचन—हम राजशेखर, हेमचन्द्र और उनके अनुयायियों के समान केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत करते हैं, जिसके सद्भाव में (व्युत्पत्ति के न होने पर भी) सुन्दर ग्राम्य-गीतों की सृष्टि देखी जाती है और जिसके अभाव में तुक्कड़ कवियों की तुकबन्दियाँ हास्यास्पद बन जाती हैं। प्रतिभा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि प्रतिभा पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में अर्जित संस्कारों का अथवा पैतृक संस्कारों का ही सुपरिणाम है। इस विषय में कुन्तक से सहमत होते हुए भी हम इस जन्म के संस्कारों को प्रतिभा का उत्पादक कारण नहीं मानते पोषक कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में जगन्नाथ के इस कथन पर कि (पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना) अदृष्ट अर्थात् देवता अथवा महापुरुष आदि के

---

[1] तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। × × × तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। र. गं. १म आ., पृष्ठ ८

प्रसाद से प्रतिभा की उत्पत्ति होती है, आधुनिक विचारधारा में परिपुष्ट कोई भी व्यक्ति सहज विश्वास नहीं कर सकता।

यहाँ एक अन्य शंका का भी समाधान कर लेना समुचित है—क्या सभी कवियों की प्रतिभा एक सी होती है। इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं अन्यथा सभी कवियों और उनके काव्यों में समानता होने के कारण न तो कवियों म स्तर और उस क आधार पर कोई विशिष्टता रहती और न काव्य क उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेद स्वीकृत किए जाते। इस सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा उल्लेखनीय है—प्रतिभासम्पन्न कवि और उसकी प्रतिभा में अभेद होने क कारण सुकुमार स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा सहजा (सुकुमार) होती है; विचित्र-स्वभावयुक्त कवियों की विचित्र और उभयस्वभाव -युक्त कवियों की प्रतिभा मिश्रित शोभाशालिनी होती है।[1]

व्युत्पत्ति अर्थात् विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन अथवा लोक व्यवहार से ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा का परिपोष होता है। इससे प्रतिभा परिष्कृत प्रखर, चमत्कृत, शक्ति-सम्पन्न मर्मस्पर्शिनी और सारग्राहिणी हो उठती है पर इससे प्रतिभा के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्यथा सभी शास्त्रज्ञ और लोकव्यवहार-पटु व्यक्ति कविता करने की क्षमता रखते। इसी प्रकार धननाशादि-जन्य सांसारिक संघात अथवा पति-पत्नी-पुत्रादि विरह अन्य मानसिक आघात के कारण भी कभी कभी सुप्त प्रतिभा जाग्रत हो जाती है। अतः इन संघातों अथवा आघातों को भी प्रतिभा का उत्पादक कारण न मान कर प्रेरक कारण मानना चाहिए। अन्यथा हानि उठाए हुए व्यापारी, हारे हुए जुआरी, पुत्र-वियुक्त पिता अथवा विधवाएँ और विधुर—ये सभी के सभी कवि-कर्म में तत्पर दीखने चाहिएँ। वास्तव में प्रतिभा सहजा है, उत्पाद्या नहीं है। अतः रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा के उत्पाद्या अर्थात् व्युत्पत्तिजन्या नामक भेद से हम तभी सहमत हैं, जब इस का अर्थ 'जन्या' न होकर 'पोष्या' माना जाए। हेमचन्द्र की धारणा निस्सन्देह मान्य है,

---

1 सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। × × × तथैव चैतस्माद् विचित्रस्वभावो यस्य कवेः, × × × तस्य च काचिद् विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। × × × एवमेतदुभयकविमिश्रस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव उभयच्छायोचित-शोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति। व जी १।२४ (वृत्ति)

जिसके अनुसार व्युत्पत्ति द्वारा पूर्व-विद्यमान प्रतिभा का संस्कार होता है, उसका उत्पादन नहीं होता।

शेष रहा अभ्यास का प्रश्न। राजशेखर के कथनानुसार आचार्य मंगल ने इसी को काव्य का प्रमुख हेतु माना है।[१] पर न तो यह काव्य का प्रमुख हेतु है न अनिवार्य हेतु और न आवश्यक हेतु। क्योंकि ऐसे भी कवि संसार में हो चुके हैं, जिनकी प्रथम रचना ही उनकी अमर कृति बन गई है। उदाहरणार्थ, वाल्मीकि का 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् × × × यह प्रथम श्लोक ही इस तथ्य का प्रमाण है। हाँ, अभ्यास से कवि प्रतिभा में और उसके द्वारा तत्प्रणीत काव्य में परिष्कार अवश्य आ जाता है, अतः प्रतिभा-परिष्कार के लिए इस तत्त्व का महत्व नितान्त आवश्यक है।

ग काव्य-प्रयोजन

प्राचीन ग्रन्थकार परम्परागत परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण के उपरान्त स्वग्रंथ-निर्माण के प्रयोजनों का भी प्रायः निर्देश कर देते थे। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों और उनके अनुकरण पर हिन्दी के भी कुछ-एक प्रमुख काव्यशास्त्रियों ने इसी परिपाटी का परिपालन किया है।

संस्कृत के *प्रख्यात काव्यशास्त्रियों* में से भामह, रुद्रट, वामन, भोज कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने उक्त परिपाटी का परिपालन करते हुए ग्रन्थारम्भ में काव्य प्रयोजनों की चर्चा की है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में और अग्निपुराण में भी नाट्य-(काव्य) प्रयोजनों के संकेत मिल जाते हैं, पर *ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आरम्भ में स्थान न मिलने के कारण इन दोनों ग्रंथों में परम्परा का उल्लंघन अवश्य हुआ है।*

भरत के कथनानुसार नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक हितकारक, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

और भामह के शब्दों में उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता को और प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है—

१

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥[1] का० अ० १।२

इन प्रयोजनों को गिनाते समय भामह के सामने सम्भवतः भरत का आदर्श रहा हो, और शायद यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साम्य दृष्टिगत हो जाता है। भरत के 'धर्म्य' और 'यशस्य' विशेषण भामह के यहाँ क्रमशः 'धर्म' और 'कीर्ति' रूप में निर्दिष्ट हुए हैं। भरत का 'बुद्धिविवर्धन' विशेषण भामह के शब्दों में 'कलाओं में वैचक्षण्य' रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, भरत के 'हित' और भामह के 'अर्थ' शब्दों में लगभग साम्य ही है—'अर्थ' हित का ही एक प्रमाण अथवा साधन है। भरत-सम्मत 'लोकोपदेशजनन' और भामह-सम्मत 'मोक्ष' में यदि कारण-कार्य-सम्बन्ध मान लिया जाए तो एक और साम्य भी परिलक्षित हो जाता है। शेष रहा भामह-सम्मत 'प्रीतिकारिता' अर्थात् आनन्द रूप प्रयोजन, इसे भरत ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट नहीं किया; पर रसवादी आचार्य भरत को यह प्रयोजन अवश्य स्वीकार होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इनके उपरान्त प्रायः सभी भावी आचार्यों के सम्मुख इस विषय में भामह का आदर्श रहा। उन्हीं के अनुकरण में एक ओर रुद्रट तथा कुन्तक ने स्वसम्मत काव्य-प्रयोजनों में चतुर्वर्ग को भी स्थान दिया, और विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग और अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्य-प्रयोजन माना;[2] दूसरी ओर वामन और भोज ने कीर्ति और प्रीति

---

1. भामह-सम्मत 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' पाठ से उक्त काव्य-प्रयोजन केवल कवि तक ही सीमित थे पर विश्वनाथ ने साधुकाव्यनिषेवणम् (सा० द० १म परि०) पाठ स्वीकृत करके इन्हें प्रकारान्तर से सहृदय और कवि विशेषतः सहृदय के लिए मान्य ठहरा दिया है।

2. (क) ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥
का० अ० (रु०) १२।१

(ख) व० जी० १।३

(ग) सा० द० १।२

(घ) त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत् । अ० पु० ३३८।१०

को काव्य-प्रयोजनों के रूप में अपना लिया।[1] उपर्युक्त चतुर्वर्गफल-प्राप्ति रूप प्रयोजन के अतिरिक्त रुद्रट और कुन्तक ने अन्य प्रयोजनों का भी उल्लेख कर मम्मट के लिए एक भूमि तैयार कर दी। रुद्रट-प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—अनर्थोपशम विपद्-निवारण, रोग-विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति[2]; और कुन्तक-प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—व्यवहारौचित्य का परिज्ञान तथा हृदयाह्लाद अथवा अन्तश्चमत्कार।[3] अब मम्मट के सामने भरत से कुन्तक तक निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजनों की एक सूची सी तैयार हो गई थी, जिसे उन्होंने निम्नांकित रूप में ढाल दिया—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ का० प्र० १।२

मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र आदि संस्कृत के आचार्यों तथा हिन्दी के भी प्रायः आचार्यों ने इस विषय में मम्मट का ही अनुकरण किया है।

काव्य-प्रयोजनों की समीक्षा

मम्मट-सम्मत प्रयोजनों के सम्बन्ध में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। पहला प्रश्न है इन प्रयोजनों में से

---

1 (क) काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
का० सू० वृ० १।१।५

(ख) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥
स० कं० १।२

2. अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
सुत्वा तथा हि दुर्गां केचिज्जीर्णां दुस्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्॥
का० अ० (रु०) १।८,९

3 (क) धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
(ख) व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
व जी ११२ १

सर्वोपरि प्रयोजन कौन सा है; और दूसरा प्रश्न है किन प्रयोजनों का अधिकारी कवि है और किन का सहृदय।

प्रथम प्रश्न के उत्तर में मम्मट ने 'सद्यःपरनिर्वृति' को स्पष्ट शब्दों में प्रमुख प्रयोजन माना है — 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्'[1]। मम्मट से पूर्ववर्ती कुन्तक ने भी 'अन्तश्चमत्कार' को प्रधान प्रयोजन घोषित किया है। सद्यःपरनिर्वृति अथवा अन्तश्चमत्कार को भामह-सम्मत प्रीति का पर्याय माना जा सकता है, और चतुर्वर्गान्तर्गत 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति रूप अभिप्राय लिए जाएं तो इसे भी उन दोनों का पर्याय मान सकते हैं। इस प्रकार संस्कृत के सभी आचार्यों ने इस प्रयोजन को किसी न किसी रूप में प्रथम स्थान दिया है। निस्सन्देह यह प्रयोजन प्रमुख है भी। इसके बिना काव्यत्व की सत्ता ही नष्ट हो जाएगी। काव्य या तो एक इतिवृत्त मात्र रह जाएगा या कोरा उपदेश-ग्रन्थ। ऐसी रचना से यश अर्थ और व्यवहार-ज्ञान की प्राप्ति भले ही किसी न किसी प्रकार से हो जाए, पर कान्ता-सम्मित उपदेशयुक्तता की कसौटी पर, जिसे हमारे विचार में उक्त प्रयोजनों में द्वितीय स्थान देना चाहिए, खरा न उतर सकने के कारण यह रचना 'काव्य' पद से च्युत हो जाएगी।

दूसरा प्रश्न है इन प्रयोजनों में से किन का अधिकारी कवि है; और किन का सहृदय। मम्मट ने इसका निर्णय काव्यशास्त्र के अध्येताओं पर छोड़ दिया है। इन प्रयोजनों में से यश अर्थ और शिवेतरक्षति का तो सम्बन्ध कवि के साथ है और व्यवहार-ज्ञान तथा कान्तासम्मित उपदेश प्राप्ति का साथ सम्बन्ध सहृदय के साथ। काव्यों के अध्ययन अथवा अध्यापन द्वारा कोई सहृदय यश और अर्थ की भी प्राप्ति कर सकते हैं और स्वनिर्मित ग्रन्थों के द्वारा कोई कवि भी आजीवन व्यवहार ज्ञान अथवा उपदेश ग्रहण करते रहते हैं—इस दृष्टि से इन प्रयोजन-युग्मों को क्रमशः सहृदय और कवि के साथ भी उपचार द्वारा सम्बद्ध किया जा सकता है।

शेष रहा एक प्रयोजन—सद्यःपरनिर्वृति अर्थात् रसास्वादप्राप्ति। काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार प्रतीत होता है कि मम्मट को सहृदय के ही साथ इस प्रयोजन को सम्बद्ध करना अभीष्ट है। कवि

---

१ सकलप्रयोजनमौलिभूतं × × ×। का० प्र० १।२ (वृत्ति)

को भी यदि रसास्वाद प्राप्ति होगी तो उसे सहृदय के लिए सहृदय ही मानना होगा—

यच्चोऽर्थविमर्शनिवृत्तिरिव कवेरेव। व्यवहारश्चानोपदेशयोगो सहृदयस्यैव। पर निवृत्तिरपि सहृदयस्यैव। रसास्वादकत्वे कवेरपि सहृदयान्तःपातित्वात्।

का० प्र० १म उ० बा० बो० टीका पृष्ठ १०-११

पर मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्य अभिनवगुप्त और उनके गुरु भट्ट तौत ने कवि और सहृदय को समान स्तर पर रखते हुए प्रकारान्तर से दोनों को रसोपभोक्ता स्वीकार किया है—

(क) कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। —अ० भा० १म भाग पृष्ठ २१८

(ख) यथोक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'। —ध्व० लोचन, पृष्ठ १२

सहृदय द्वारा रसानुभूति की प्राप्ति में तो कोई सन्देह ही नहीं है, पर कवि द्वारा इस प्राप्ति का प्रश्न विवादग्रस्त है। समस्या को सहज रूप में सुलझाने के लिए आदि कवि वाल्मीकि का उदाहरण ले लिया जाए। क्रौञ्च मिथुन में से एक के वध को देखकर वाल्मीकि का शोकाकुल हो जाना उसी प्रकार सहज-सम्भव था, जिस प्रकार किसी भी अन्य करुणापूर्ण व्यक्ति का। निस्सन्देह यहाँ तक वाल्मीकि एक सामान्य सहृदय के समान लौकिक शोक रूप भाव का ही अनुभव कर रहे हैं, न कि करुण रस का। कारण स्पष्ट है शास्त्रीय दृष्टि से विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की संज्ञा केवल काव्यगत कारण, कार्य और सहकारी कारणों को ही जाती है, न कि लौकिक कारणादि को; और शास्त्रीय दृष्टि से रसाभिव्यक्ति भी विभावादि के संयोग द्वारा सम्भव है, न कि लौकिक कारण आदि के संयोग द्वारा—

न हि लोके विभावानुभावादय केचन सन्ति। हेतुकार्यसहकारिभावामात्रप्रसिद्धा लोके तेषाम्॥ —अ० भा० (प्र भा०) पृष्ठ १

अब वास्तविक समस्या का आरम्भ यहाँ से होता है। यहाँ मूल प्रश्न के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला भाग यह कि उपर्युक्त शोक-भाव के 'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः × × ×' इस श्लोक रूप में फूट पड़ने के समय[1], अर्थात् इस श्लोक के निर्मित होने के समय, क्या कवि वाल्मीकि

---

1 क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। ध्व० १।५

को करुण रस की अनुभूति हो रही होती है ? और दूसरा भाग यह कि श्लोक-निर्मिति के उपरान्त उसी समय अथवा वर्षों बाद उसी श्लोक को पढ़ते समय क्या उन्हें सामान्य सहृदय की भाँति करुण रस की अनुभूति होने लगती है ?

इस समस्या के समाधान के लिए हमें वाल्मीकि को महर्षि के रूप में न देख कर कालिदास आदि के समान कवि-रूप में देखना होगा। उपर्युक्त दोनों प्रश्न-भागों के उत्तर में हमारी धारणा है कि वाल्मीकि अथवा किसी भी कवि को इन दोनों अवस्थाओं में रसानुभूति की प्राप्ति सहज-सम्भव है। काव्य-निर्माण के समय उसके सामने इस जन्म अथवा पूर्वजन्म-जन्मान्तरों के अनुभव-जन्य संस्कार हैं। उक्त घटना से जागृत उन संस्कारों की स्मृति को, जो अब लौकिक न रह कर अलौकिक बन चुकी है, कवि अपनी लेखनी की नोक पर लाता जा रहा है। यह लेखन-क्रिया निस्सन्देह लौकिक है, पर उसके पीछे लेखक का उमड़ता हुआ स्मृतिरूप आवेग, जो उसे वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य बनाकर लौकिक भावनाओं से ऊँचा उठाए हुए है, रसानुभूति करा रहा है। कवि के वास्तविक अनुभवों में जो लौकिक कारण कार्य और सहकारी कारण थे वे इस अनुभव-जन्य-संस्कार अथवा स्मृति के समय शास्त्रीय दृष्टि से क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की संज्ञा से अभिहित होकर कवि के स्थायिभाव को रस रूप में अभिव्यक्त कर रहे होते हैं। कवि की यह रसानुभूति उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार काव्य-पठन अथवा नाटक-दर्शन के समय सहृदय की रसानुभूति स्वीकार की जाती है। अन्तर केवल इतना है कि सहृदय की रसानुभूति का माध्यम ग्रन्थांकित वाक्य-विन्यास है अथवा रंगमंचीय एक-एक दृश्य है, और कवि की रसानुभूति का माध्यम स्वानुभवजन्य संस्कार है। दूसरे शब्दों में, सहृदय का माध्यम बाह्य अथवा चाक्षुष है और कवि का आन्तरिक अथवा परोक्ष है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों माध्यमों का नाम रसानुभूति नहीं है। जिस प्रकार ग्रन्थांकित वाक्य-विन्यास अथवा रंगमंचीय प्रत्येक दृश्य का अधमत प्रभाव सहृदय के सामने अलौकिक कारणादि अर्थात् विभावादि का चित्र समुपस्थित करके उसे रसानुभूति करा देता है; ठीक उसी प्रकार कवि के स्वानुभव-जन्य संस्कारों की स्मृति भी कवि के सामने विभावादि का चित्र समुपस्थित करके उसे रसानुभूति करा देती है—और इसका प्रबल प्रमाण है कवि की वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता।

इस सम्बंध में दो शंकायें अब भी शेष रह जाती हैं। पहली शंका यह है कि कवि का लेखन-कर्म उसकी रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। पर इस शंका का सीधा उत्तर यह है कि जिस प्रकार काव्य पठन अथवा नाटक-दर्शन के उपरान्त भी जब कोई सहृदय काव्य अथवा नाटक की घटनाओं का वर्णन अपने इष्ट मित्रों से कर रहा होता है, तब भी उसे विभावादि-जीवितावधि रस की अनुभूति होती रहती है—उसका बोलना इस अनुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कवि का लेखन-कर्म भी उसकी रसानुभूति में व्याघातक नहीं बन सकता। लेखन अथवा भाषण रसानुभूति के साथ-साथ चलने वाली बाह्य क्रियायें मात्र हैं रसानुभूति का सम्बंध तो कवि अथवा सहृदय के आन्तरिक उद्वेगों और अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा रहे हुए भावावेगों के साथ है, जो लेखन अथवा भाषण रूप में साथ ही साथ अभिव्यक्त हो रहे होते हैं। अभिनव गुप्त द्वारा कवि और सामाजिक को एक स्तर पर रखने का आशय भी यही है कि रसानुभूति तो दोनों को समान रूप से होती है, पर कवि में अपने भावावेगों को समर्थ शब्दों में लिख अथवा बोल कर अभिव्यक्त करने की दैवी शक्ति होती है, जिसका सहृदय में अभाव रहता है। इस शक्ति से सम्पन्न कोई भी सहृदय 'कवि' रूप उच्च पद का अधिकारी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी शंका यह है कि लेखन जैसे कठिन कर्म में भावानुकूल समुचित शब्दों का चयन कवि की रसानुभूति में बाधक सिद्ध हो सकता है। यह शंका निस्सन्देह निर्मूल नहीं है, पर प्रथम तो सफल सिद्धहस्त कुशल कवियों को शब्दचयन की आवश्यकता ही नहीं रहती—एक के बाद एक शब्द हाथ बाँधे उनके सामने आते जाते हैं[1], और यदि उसे उपयुक्त शब्दचयन के लिए कभी रुकना भी पड़ता है तो उतनी देर तक उसकी रसानुभूति में बाधा अवश्य पड़ जाती है और यह बाधा ठीक उस प्रकार होती है, जिस प्रकार किसी पाठक को काव्य का कोई स्थल और किसी दर्शक को नाटक का कोई दृश्य समझ में नहीं आ रहा होता। पर इस काल से पूर्व और उत्तरवर्ती काल में सहृदय के ही समान कवि को भी रसानुभूति होती रहती है।

---

१ अलंकारान्तराणि × × × रससमाहितचेतस: प्रतिभावत: कवे: अहम्पूर्विकया परापतन्ति। —ध्व० २। १६ वृत्ति

अब प्रश्न के दूसरे भाग को लें। इसके उत्तर में भी हमारी धारणा यही है कि रचना-निर्माण के उपरान्त अपने काव्य को पढ़ते अथवा अपने नाटक को देखते समय कवि को सहृदय के ही समान रसानुभूति होती रहती है। कवि तथा अन्य सहृदयों में अन्तर यह है कि उस रचना में कवि का तो 'स्वत्व' विद्यमान है और अन्य सहृदयों का उसमें अपना कुछ भी नहीं है। पर अपनी कृति को भी पढ़ते अथवा देखते समय तल्लीनता के कारण अपने स्वत्व को भूल कर कवि के लिए अन्य सहृदयों के समान रसानुभूति की प्राप्ति करना नितांत सम्भव है। निस्सन्देह ऐसी स्थिति भी कई बार—कई बार क्यों? प्रायः—आती रहती है, जब वह अपने 'स्वत्व' को भूल नहीं पाता। ऐसी स्थिति में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि कवि का सफलता-जन्य आनंद उसके काव्यचमत्कारजन्य अलौकिक आनंद को और भी उद्दीप्त कर उसे रसमग्न कर देता है और दूसरी सम्भावना यह कि सफलता-जन्य आनन्द उसके अलौकिक आनन्द पर आच्छादित होकर उसकी रसानुभूति में पूर्ण व्याघातक सिद्ध हो जाता है। पहली सम्भावना में वह 'कवि' के रूप में रस रूप अलौकिक आनन्द का उपभोग करता है, और दूसरी सम्भावना में साधारण मनुष्य के रूप में लौकिक आनन्द का। और जब रंगमंच पर अभिनीत अथवा ध्वन्यात्मकरूप में वाचित अपनी कृति को कोई कवि इस विचार से देखने अथवा सुनने जाता है कि देखें सामाजिकों पर उसकी कृति का क्या प्रभाव पड़ता है तब वह कवि न रह कर शुद्ध व्यावहारिक व्यक्ति बन जाता है। उस समय उसके लिए रसानुभूति-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि—

(१) *काव्य-निर्मिति के समय कवि को कवि रूप में रसास्वादन* प्राप्ति होती है

(२) तदुपरान्त स्वरचना को पढ़ते अथवा देखते समय उसे कभी कवि रूप में तथा कभी सहृदय रूप में रसास्वादन होता है,

(३) पर जब उसे किन्हीं कारणों से रसास्वादन नहीं होता तब वह न कवि होता है, और न सहृदय, वरन् एक साधारण मनुष्य मात्र होता है।

तृतीय अध्याय

शब्दशक्ति

स्रोत : व्याकरण

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों का शब्दशक्ति-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन समग्र रूप में मूलतः अपना नहीं है। शब्दशक्ति का विस्तृत और सुव्यवस्थित विवेचन पूर्वमीमांसा के ग्रन्थों[1] और आगे चल कर न्याय के ग्रन्थों में[2] उपलब्ध होता है। इसी प्रश्न को लेकर व्याकरण के ग्रंथों में भी प्रसंगानुसार चर्चा की गई है। यों तो काव्यशास्त्रियों ने उक्त सभी स्रोतों से सामग्री ग्रहण की है, पर विवादास्पद स्थलों पर इन्होंने मीमांसकों और नैयायिकों की अपेक्षा प्रायः वैयाकरणों के ही सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया है। अतः स्रोत के प्रसंग में हम केवल व्याकरण-ग्रंथों की ही चर्चा कर रहे हैं।

शब्द—शब्द के सम्बंध में वैयाकरणों के मत का सार यह है—शब्द दो प्रकार का है—कार्य (अनित्य) और नित्य[3]। 'अनित्य' शब्द से वैयाकरणों का तात्पर्य है उच्चारणजन्य और श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अथवा नाद, तथा 'नित्य' शब्द से उनका तात्पर्य उस मूल शब्दतत्त्व से है, जो न तो उच्चारणजन्य है और न श्रोत्रग्राह्य। इसे इन्होंने 'स्फोट' की संज्ञा दी है। स्फोट की स्वरूप-निरूपक व्युत्पत्ति है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात्

---

1 (क) शाबरभाष्य (शबर) १।१।५।१२
(ख) तन्त्रवार्तिक (कुमारिल) १।१।५।१२

2 (क) तत्त्वचिन्तामणि (गंगेश उपाध्याय) इसे सबसे शक्तिवाद
(ख) पदार्थतत्त्वनिरूपण (रघुनाथ शिरोमणि)
(ग) शक्तिवाद (गदाधर भट्टाचार्य)

3 तत्र स्वेर निर्णयः। पक्षे व नित्यः। मध्यौव कार्यः। उभयथापि लक्षणं प्रवर्तयितव्यं। म भा १म भा, पृ १६

अब प्रश्न के दूसरे भाग को लें। इसके उत्तर में भी हमारी धारणा यही है कि रचना-निर्माण के उपरान्त अपने काव्य को पढ़ते अथवा अपने नाटक को देखते समय कवि को सहृदय के ही समान रसानुभूति होती रहती है। कवि तथा अन्य सहृदयों में अन्तर यह है कि उस रचना में कवि का तो 'स्वत्व' विद्यमान है और अन्य सहृदयों का उसमें अपना कुछ भी नहीं है। पर अपनी कृति को भी पढ़ते अथवा देखते समय तल्लीनता के कारण अपने स्वत्व को भूल कर कवि के लिए अन्य सहृदयों के समान रसानुभूति की प्राप्ति करना नितांत सम्भव है। निस्सन्देह ऐसी स्थिति भी कई बार—कई बार क्यों? प्रायः—आती रहती है जब वह अपने 'स्वत्व' को भूल नहीं पाता। ऐसी स्थिति में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि कवि का सफलता-जन्य आनंद उसके काव्यचमत्कारजन्य अलौकिक आनंद को और भी उद्दीप्त कर उसे रसमग्न कर देता है और दूसरी सम्भावना यह कि सफलता-जन्य आनन्द उसके अलौकिक आनन्द पर आच्छादित होकर उसकी रसानुभूति में पूर्ण व्याघातक सिद्ध हो जाता है। पहली सम्भावना में वह 'कवि' के रूप में रस रूप अलौकिक आनन्द का उपभोग करता है और दूसरी सम्भावना में साधारण मनुष्य के रूप में लौकिक आनन्द का। और जब रंगमंच पर अभिनीत अथवा सभामण्डप में भावित अपनी कृति को कोई कवि इस विचार से देखने अथवा सुनने जाता है कि देखें सामाजिकों पर उसकी कृति का क्या प्रभाव पड़ता है तब वह कवि न रह कर शुद्ध व्यावहारिक व्यक्ति बन जाता है। उस समय उसके लिए रसानुभूति-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि—

(१) काव्य-निर्मिति के समय कवि को कवि रूप में रसास्वादन प्राप्ति होती है;

(२) तदुपरान्त स्वरचना को पढ़ते अथवा देखते समय उसे कभी कवि रूप में तथा कभी सहृदय रूप में रसास्वादन होता है;

(३) पर जब उसे किन्हीं कारणों से रसास्वादन नहीं होता तब वह न कवि होता है, और न सहृदय, वरन् एक साधारण मनुष्य मात्र होता है।

का अस्थायक वाक्य ही है। पर सीधे भूयमाण वाक्य से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यह प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से होती है। अतः वैयाकरणों ने अन्ततोगत्वा सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्यस्फोट को ही स्वीकार किया है।

वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बंध को नित्य माना है। महाभाष्यकार पतंजलि ने कात्यायन-प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए उक्त कथन की पुष्टि की है।[1] भर्तृहरि ने अर्थ के स्वरूप को शब्द की ही भित्ति पर अवलम्बित किया है—जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस शब्द का ही अर्थ है।[2] और महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट के कथनानुसार इस नित्य सम्बंध का एक ही कारण है—प्रत्येक शब्द में अर्थावबोध की योग्यता और शब्द की नित्यता के कारण उसकी यह योग्यता भी नित्य है।[3] इसी नित्यता के ही बल पर भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप माना है तथा इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न कहा है।[4]

शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों अथवा स्फोटवादियों के मत का यही सार है। इन का प्रभाव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों पर भी पड़ा है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को वे भी स्वीकार करते चले आये हैं। भरत के अनुसार नाटक (काव्य) मृदु एवं ललित पदों और अर्थों से युक्त होना चाहिए।[5] भामह ने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है; और रुद्रट ने शब्दार्थ को। मम्मट ने स्वसम्मत काव्य लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है और

---

१ म भा १।१ वृत्ति (पृष्ठ १६ १७)

२ यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ वा प २।३३

३. अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद् योग्यताया नित्यत्वात् सम्बन्धस्य ।
तस्मान्न शब्दार्थसम्बन्धस्य च नित्यत्वाद्दोषः ।
—म भा (कै व्या०) पृष्ठ १७

४ एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । वा प २।३१

५. मृदुललितपदार्थं × × × × ×
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ ना शा १०।११२

जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। ध्वनि से व्यक्त होने पर ही स्फोट अर्थ-विशेष का प्रत्यायक होता है।[१] दूसरे शब्दों में, स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि उसका व्यंजक है।[१]

ध्वनि और स्फोट के सम्बन्ध में स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। ध्वनि अनन्त और क्षीण होती रहती है, पर स्फोट सदा एकरूप रहता है। ध्वनि में ह्रस्व दीर्घ, और प्लुत तथा द्रुत मध्य, विलम्बित आदि विलम्बित वृत्तियों के कारण अंतर पड़ जाना स्वाभाविक है, परंतु स्फोट अभिन्न-कालिक निरवयव, पूर्ण और नित्य है।[२] अर्थप्रत्यायन का मूल हेतु स्फोट है। अतः वस्तुतः स्फोट ही शब्द है। लोक-व्यवहार में ध्वनि को भी शब्द नाम से पुकारना उपचार मात्र है।[३] लोक में जिस शब्द को अनित्य कहा जाता है, वह ध्वनि है; पर स्फोट तो नित्य है। अतः इसमें ध्वनि के समान पूर्वापर-क्रम की अवधारणा की सम्भावना भी नहीं है।[४]

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित है कि वैयाकरण सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्य-स्फोट को ही स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार न तो कोई पद है, न कोई पद का निर्माता वर्णसमूह है और न ही कोई वर्ण का निर्माता वर्णावयव है। पद और वाक्य में मूलतः कोई वास्तविक भेद नहीं है;[५] व्याकरण-प्रक्रिया में भले ही यह भेद स्वीकार किया जाए। अब

१　(क) ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
　　व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥ वा० प० १।९८
　(ख) एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः।
　　　　　　　　म० भा० १।१।७०
२　(क) स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
　　ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥ वा० प० १।७६
　(ख) शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
　　ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ वा० प० १।७८
३　अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य अनध्यवसितत्वात् ध्वनिभेदेन व्यवहारे ऽपि न दोषः। म० भा० कैयट व्याख्या, पृष्ठ ३
४　नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः। वा० प० १।४८
५　पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
　　वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वा० प० १।७३

का प्रत्यायक वाक्य ही है। पर सीधे भूयमाण वाक्य से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यह प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से होती है। अतः वैयाकरणों ने अन्ततोगत्वा सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्यस्फोट को ही स्वीकार किया है।

वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बंध को नित्य माना है। महाभाष्यकार पतंजलि ने कात्यायन-प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए उक्त कथन की पुष्टि की है।[1] भर्तृ हरि ने अर्थ के स्वरूप का शब्द की ही भित्ति पर अवलम्बित किया है—जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस शब्द का ही अर्थ है।[2] और महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट के कथनानुसार इस नित्य सम्बंध का एक ही कारण है—प्रत्येक शब्द में अर्थावबोध की योग्यता और शब्द की नित्यता के कारण उसकी यह योग्यता भी नित्य है।[3] इसी नित्यता के ही बल पर भर्तृ हरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप माना है तथा इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न कहा है।[4]

शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों अथवा स्फोटवादियों के मत का यही सार है। इन का प्रभाव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों पर भी पड़ा है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को वे भी स्वीकार करते चले आये हैं। भरत के अनुसार नाटक (काव्य) मृदु एवं ललित पदों और अर्थों से युक्त होना चाहिए।[5] भामह ने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है; और रुद्रट ने शब्दार्थ को। मम्मट ने स्वसम्मत काव्य लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है और

---

1 म भा १।१ वृत्ति (पृष्ठ १३ १५)

2 यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ वा प २।३३

3 अनित्येष्वर्थेषु सम्बन्धस्य नित्यतेति यद् योग्यतालक्षणत्वात् सम्बन्धस्य ।
तस्याश्च शब्दार्थलक्षणसम्बन्धस्य च नित्यत्वाददोषः ।
—म भा (कै व्या) पृष्ठ १५

4 एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । वा प २।३१

5 मृदुललितपदार्थं × × × × ×
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ ना शा १७।१२१

विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[1] दण्डी और जगन्नाथ ने स्वसम्मत काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ को यदि पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किया है[2] तो चमत्कार आदि के अनुसार इस का यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं तो इस का कारण लौकिक व्यवहार ही है, पर वस्तुतः ये अभिन्न और एक रूप में अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्॥

वा० प० (१।२६) की वृत्ति में उद्धृत

काव्यशास्त्रियों पर स्फोटवादियों का एक अन्य प्रभाव है—ध्वनि नामक काव्य-तत्त्व की स्वीकृति। वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोटवादियों ने उच्चार्यमाण 'शब्द' अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य। इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ दोनों को ध्वनि की संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने ही इस अप्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा की है—

बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि[3] न्यग्भावितवाच्य-व्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। का० प्र० १।४ (वृत्ति)

ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का 'ध्वनि' शब्द वस्तुतः केवल उक्त दो अर्थों तक ही सीमित नहीं है। इसके तीन अर्थ और भी हैं—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनि-प्रधान काव्य।

निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द वैयाकरणों से लिया है और अपने शास्त्रानुसार इसका बहुविध प्रयोग किया है। दोनों के सिद्धान्तों में शब्द-साम्य होते हुए भी अन्तर स्पष्ट है—वैयाकरण नाद

१, २. देखिये प्र० प्र० काव्यलक्षण-प्रकरण पृष्ठ १०, ११, ११

३. वस्तुतः 'तन्मतानुसारी' शब्द भ्रामक है। काव्यशास्त्री इस सम्बन्ध में वैयाकरणों के सर्वथा अनुयायी नहीं हैं जैसा कि स्वयं मम्मट ने यहाँ स्वीकार किया है।

अथवा शब्द रूप व्यंजकों को 'ध्वनि' नाम से पुकारते हैं और व्यंग्य को 'स्फोट' नाम से। इधर काव्यशास्त्री शब्द और अर्थ रूप व्यंजकों को भी ध्वनि कहते हैं और इनके व्यंग्यार्थ को भी। वैयाकरणों की 'ध्वनि' केवल व्यंजक है, पर काव्यशास्त्रियों की 'ध्वनि' अपने भिन्न भिन्न अर्थों के कारण पंचरूपात्मक।

शब्दशक्ति—काव्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण को शब्दशक्ति कहते हैं। इसके तीन भेदों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से प्रथम दो शक्तियों के स्रोत व्याकरण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से प्राप्त हैं, परन्तु मम्मट से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में व्यंजना शक्ति से सम्बद्ध ऐसे संकेत प्रत्यक्ष अथवा स्पष्ट रूप से प्रायः प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजना शक्ति का मूल स्रोत माना जा सके। हाँ, मम्मट के उपरान्त वैयाकरणों ने इस शक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। नागेश जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण ने न केवल व्यंजना का स्वरूप काव्यशास्त्रानुकूल निर्दिष्ट किया है, अपितु इसे व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है।[1]

(क) अभिधा—अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसंग व्याकरण-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

१ भर्तृहरि के शब्दों में अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) का सम्बन्ध अभिधा (नामक शक्ति) के द्वारा नियम-बद्ध किया जाता है।[2]

२ काव्यशास्त्रियों ने अभिधामूला व्यंजना के प्रसंग में अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियंत्रक संयोग, विप्रयोग आदि १४ कारणों का उल्लेख किया है, उनका सर्वप्रथम स्रोत वाक्यपदीय में उपलब्ध है।[3]

---

१ स्फोटस्य च व्यञ्जना (मत्) इत्यादिमिष्यते च। स्फोटकत्वं च सम-भिव्याहृतपदार्थव्यञ्जनमेव—इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः। —वै सि म पृष्ठ ११०

२ क्रियाव्यपे० सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥ वा प २। ३ ८

३. वा प ।। ३१० ३१८

३ प्रयोजनार्थ मुख्यतः लोक-व्यवहार से जाना जाता है, इसका स्रोत महाभाष्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।[1]

४ संकेतित शब्द के चार भेदों—जाति, गुण, क्रिया, और यदृच्छा (द्रव्य) का उल्लेख भी महाभाष्य में किया गया है। स्वयं मम्मट ने इस सम्बन्ध में उनका आभार स्वीकार किया है।[2]

(ख) लक्षणा—इसी प्रकार लक्षणा शक्ति के विषय में भी व्याकरण-ग्रन्थों में संकेत मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, पतंजलि ने पाणिनि के सूत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' (अष्टा० ४,१ ४८) की व्याख्या में प्रसंग वशात् एक प्रश्न उपस्थित किया है कि दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता अथवा तादात्म्य सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। इसके उत्तर में उन्होंने चार प्रकारों का निर्देश किया है—

(१) तात्स्थ्य—जैसे मचान हँसते हैं;
(२) ताद्धर्म्य—जैसे ब्रह्मदत्त जटी है;
(३) तत्सामीप्य—जैसे गंगा में घोष है;
(४) तत्साहचर्य—जैसे कुन्तों को अन्दर भेज दो।[3]

मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत लक्षणा शक्ति के प्रकरण में न केवल उक्त संकेतों का आधार ग्रहण किया गया है अपितु उदाहरण भी इसी प्रसंग से लिए गए हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र

संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का सर्वप्रथम एकत्र, व्यवस्थित, विशद तथा संग्रहात्मक निरूपण मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। उनका 'शब्दव्यापार-विचार' भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक में तथा मुकुल भट्ट अभिधावृत्तिमातृका में इन पर प्रकाश डाल चुके थे पर इन ग्रन्थों में एक साथ सम्पूर्ण सामग्री संगृहीत नहीं हुई। ध्वन्यालोक में व्यंजना शक्ति और तत्सम्बद्ध व्यंग्यार्थ का ही विशद विवेचन है; शेष दो शक्तियों की प्रसंगवश

---

१ उदाहरणार्थ—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।
—म भा १म आ पृष्ठ १०

२ म भा १म आ पृष्ठ १०; का प्र १म उ पृष्ठ ३१

३. र गं नागेश कृत टीका—भाग पृष्ठ १०२

'लक्ष्यते' क्रिया का प्रयोग किया है,[1] जिससे प्रतीत होता है कि वे लक्षणा शक्ति के स्वरूप से थोड़ा बहुत अवश्य परिचित होंगे।

व्यंजना (ध्वनि)—अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने रस, भाव आदि को, जिन्हें परवर्ती ध्वनिवादियों ने ध्वनि का एक भेद माना है, रसवदादि अलंकारों का नाम देकर रसध्वनि को तो अलंकार के अन्तर्गत सम्मिलित किया ही है साथ ही कुछ-एक अलंकारों के लक्षणों में ध्वनि (व्यंजना) के मूलभूत तत्त्व—'एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति (गम्यमानता व्यंजकता अथवा अवगमन)'—का समावेश करके उन्होंने न केवल ध्वनि के मूल स्वरूप से परिचिति दिखाई है, अपितु 'अलंकार' के व्यापक रूप में इसे अन्तर्भूत भी कर दिखाया है। उदाहरणार्थ—

भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथन-विशेष) को पर्यायोक्त[2]।

इसी प्रकार दण्डि-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो यह है, जिसमें उपमान उपमेयगत सादृश्य शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है पर दूसरा वह जिसमें सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्त के स्वरूप को प्रकारान्तर कथन' पर आधृत माना है।[3] इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ का सा सं ५।६

---

१ इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते। का द १।७८

२ (क) समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥
का अ (भा) २।३४

(ख) यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ वही २।७९

(ग) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वही ३।८

३. का द २।१८६, २।२९५

(घ) अभिनव गुप्त रचित दो टीकाएँ—अभिनव भारती और लोचन।[1]

मम्मट-पूर्ववर्ती इन आचार्यों को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य और (२) आनन्दवर्द्धन तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य।

ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य—

आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अभिधा आदि तीनों शक्तियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं सूक्ष्म विवेचना से भले ही ये आचार्य परिचित न हों पर इनके नाम रूप से ये अवश्य अवगत थे। उदाहरणार्थ—

अभिधा—उद्भट ने भामह की एक कारिका (का० अ० १।९) की व्याख्या करते हुए शब्द के अर्थ-बोधन में समर्थ व्यापार को अभिधान या अभिधा नाम दिया है। इसके इन्होंने दो भेद माने हैं—मुख्य और गौण—

शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

भा० वि० पृ० १२

सम्भवतः 'मुख्य' शब्द का तात्पर्य वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) है, और गौण' शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ है।

आगे चल कर आनन्दवर्द्धन के समकालीन आचार्य रुद्रट ने 'अभिधा' शक्ति और 'वाचक' शब्द का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, तथा शब्द के चार विभागों की गणना की है—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥

का० अ० (७) १॥

लक्षणा—वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप सादृश्य-मूला लक्षणा पर निर्धारित किया है।[2] इनसे पूर्ववर्ती दण्डी ने भी एक स्थल पर

---

१ इन ग्रंथों के अतिरिक्त अग्निपुराण (३४७।०-१५) में भी अभिव्यक्ति नामक शब्दार्थालंकार के प्रसंग में शब्दशक्ति की चर्चा की गई है, पर मम्मट पर इसका कोई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष

।

२ का० सू० ४।३।८

चर्चा मात्र कर दी गई है।[1] अभिधावृत्तिमातृका में एक तो व्यंजना को लक्षणा का ही एक रूप माना गया है,[2] और दूसरे, लक्षणा को भी अभिधा का ही रूपान्तर माना गया है। हाँ, काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों ग्रन्थों से पूर्ण सहायता अवश्य ली है। उदाहरणार्थ व्यंजना के स्वरूप तथा कुछ-एक व्यंजना-विरोधी मतों के खण्डन के लिए वे आनन्दवर्धन के ऋणी हैं[3]; और अभिधा-प्रसंगगत संकेत के जाति आदि चार भेदों, लक्षणा के विविध भेदों तथा तात्पर्यार्थ वृत्ति के स्वरूप निरूपण के लिए मुकुल भट्ट के ऋणी हैं। इसी प्रकार अभिनव गुप्त रचित दोनों टीकाओं— लोचन और अभिनव भारती से भी मम्मट ने सहायता ली है, पर इस सब विपुल सामग्री को सर्वप्रथम व्यवस्थित संचयन का रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। यही कारण है कि इस दिशा में न केवल संस्कृत के भावी आचार्य इनके ऋणी हैं अपितु हिन्दी के आचार्य भी इन के अथवा इनके अनुकर्त्ता विश्वनाथ के ऋणी हैं।

मम्मट से पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शब्दशक्ति-सम्बन्धी सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(क) आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में एतद्विषयक संकेत।

(ख) आनन्दवर्धन और मुकुल भट्ट के स्वतन्त्र ग्रन्थ।

(ग) ध्वनिविरोधी आचार्यों—भट्टनायक, धनंजय तथा महिम भट्ट— के ध्वनि-विरोध-सम्बन्धी उल्लेख। इनके अतिरिक्त कुन्तक ने ध्वनि का साक्षात् खण्डन तो नहीं किया पर उस की तुलना में 'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व का निर्माण कर, तथा आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के विविध उदाहरणों को 'वक्रोक्ति' के विविध भेदों पर घटित करके प्रकारान्तर से इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की अस्वीकृति अवश्य की है।

---

१ ध्वन्या० १।१ १

२ लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिङ्मुन्मीलयितुमिदमुक्तम्।

—अ. वृ. मा. १२—वृत्ति, (दीधिति सहित) पृष्ठ १७

३. ध्वन्या० ३।७ १४ १६ १७ १८

३ अभिधेयार्थ मुख्यतः लोक-व्यवहार से जाना जाता है, इसका स्रोत महाभाष्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।[1]

४ संकेतित शब्द के चार भेदों—जाति, गुण, क्रिया, और यदृच्छा (द्रव्य) का उल्लेख भी महाभाष्य में किया गया है। स्वयं मम्मट ने इस सम्बन्ध में उनका आभार स्वीकार किया है।[2]

(ख) लक्षणा—इसी प्रकार लक्षणा शक्ति के विषय में भी व्याकरण-ग्रन्थों में संकेत मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, पतंजलि ने पाणिनि के सूत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' (अष्टा० ४ १ ४८) की स्वमस्तुत व्याख्या में प्रसंग-वशात् एक प्रश्न उपस्थित किया है कि दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता अथवा तादात्म्य सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। इसके उत्तर में उन्होंने चार प्रकारों का निर्देश किया है—

(१) तात्स्थ्य—जैसे मचान हँसते हैं;
(२) ताद्धर्म्य—जैसे ब्रह्मदत्त जटी है
(३) तत्सामीप्य—जैसे गंगा में घोष है;
(४) तत्साहचर्य—जैसे कुन्तों को अन्दर भेज दो।[3]

मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत लक्षणा शक्ति के प्रकरण में न केवल उक्त संकेतों का आधार ग्रहण किया गया है, अपितु उदाहरण भी इसी प्रसंग से लिए गए हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र

संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का सर्वप्रथम एकत्र, व्यवस्थित, विशद तथा संग्रहात्मक निरूपण मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। उनका 'शब्दव्यापार-विचार' भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक में तथा मुकुल भट्ट अभिधावृत्तिमातृका में इन पर प्रकाश डाल चुके थे पर इन ग्रन्थों में एक साथ सम्पूर्ण सामग्री संगृहीत नहीं हुई। ध्वन्यालोक में व्यंजना शक्ति और तत्सम्बद्ध व्यंग्यार्थ का ही विशद विवेचन है; शेष दो शक्तियों की प्रसंगवश

१ उदाहरणार्थ—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।"
—म भा १म भा पृष्ठ १०

२ म भा १म भा पृष्ठ ३७, का प्र २य उ पृष्ठ ३६

३ द र मं नागेश कृत टीका—भाग पृष्ठ २०२

चर्चा मात्र कर दी गई है।[1] अभिधावृत्तिमातृका में एक तो व्यंजना को लक्षणा का ही एक रूप माना गया है;[2] और दूसरे लक्षणा को भी अभिधा का ही रूपान्तर माना गया है। हाँ, काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों ग्रन्थों से पूर्ण सहायता अवश्य ली है। उदाहरणार्थ व्यंजना के स्वरूप तथा कुछ-एक व्यंजना-विरोधी मतों के खण्डन के लिए वे आनन्दवर्धन के ऋणी हैं[3] और अभिधा-प्रसंगगत संकेत के जाति आदि चार भेदों, लक्षणा के विभिन्न भेदों तथा तात्पर्यार्थ वृत्ति के शास्त्रीय निरूपण के लिए मुकुल भट्ट के ऋणी हैं। इसी प्रकार अभिनव गुप्त रचित दोनों टीकाओं—लोचन और अभिनव भारती से भी मम्मट ने सहायता ली है, पर इस सब विपुल सामग्री को सर्वप्रथम व्यवस्थित संकलन का रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। यही कारण है कि इस दिशा में न केवल संस्कृत के भावी आचार्य इनके ऋणी हैं अपितु हिन्दी के आचार्य भी इन के अथवा इनके अनुकर्ता विश्वनाथ के ऋणी हैं।

मम्मट से पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शब्दशक्ति-सम्बन्धी सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(क) आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में एतद्विषयक संकेत।

(ख) आनन्दवर्धन और मुकुल भट्ट के स्वतन्त्र ग्रन्थ।

(ग) ध्वनिविरोधी आचार्यों—भट्ट नायक, धनंजय तथा महिम भट्ट—के ध्वनि-विरोध-सम्बन्धी उल्लेख। इनके अतिरिक्त कुन्तक ने ध्वनि का स्पष्टतः खण्डन तो नहीं किया पर उस की तुलना में 'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व का निर्माण कर, तथा आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के विभिन्न उदाहरणों को 'वक्रोक्ति' के विभिन्न भेदों पर घटित करके प्रकारान्तर से इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की अस्वीकृति अवश्य की है।

---

१ ध्वन्या ३।३, १०

२. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।

—अ० वृ० मा०, १२—वृत्ति, (टंकित प्रति) पृष्ठ १७

३. ध्वन्या० ३।७ ३३ ३६ ३० ३४

(५) अभिनव गुप्त रचित दो टीकाएँ—अभिनव भारती और लोचन।[1]

मम्मट-पूर्ववर्ती इन आचार्यों को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य और (२) आनन्दवर्धन तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य।

ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य—

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अभिधा आदि तीनों शक्तियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं सूक्ष्म विवेचना से भले ही ये आचार्य परिचित न हों पर इनके नाम रूप से ये अवश्य अवगत थे। उदाहरणार्थ—

अभिधा—उद्भट ने भामह की एक कारिका (का० अ० १।९) की व्याख्या करते हुए शब्द के अर्थ-बोधन में समर्थ व्यापार को अभिधान या अभिधा नाम दिया है। इसके इन्होंने दो भेद माने हैं—मुख्य और गौण—

शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

भा० वि० पृ० १३

सम्भवतः 'मुख्य' शब्द का तात्पर्य वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) है, और 'गौण' शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ है।

आगे चल कर आनन्दवर्धन के समकालीन आचार्य रुद्रट ने 'अभिधा' शक्ति और 'वाचक' शब्द का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, तथा शब्द के चार विभागों की गणना की है—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥

का० अ० (रु०) ७।१

लक्षणा—वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप सादृश्य-मूला लक्षणा पर निर्धारित किया है।[2] इनसे पूर्ववर्ती दण्डी ने भी एक स्थल पर

---

1 इन दोनों के अतिरिक्त अग्निपुराण (३४४।७-१४) में भी अभिव्यक्ति नामक शब्दार्थालंकार के प्रसंग में शब्दशक्ति की चर्चा की गई है, पर मम्मट पर इसका कोई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा।

2 सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। का० सू० ४।३।८

'लक्ष्यते' क्रिया का प्रयोग किया है,[1] जिससे प्रतीत होता है कि वे लक्षणा शक्ति के स्वरूप से थोड़ा बहुत अवश्य परिचित होंगे।

व्यंजना (ध्वनि)—अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने रस, भाव आदि को, जिन्हें परवर्ती ध्वनिवादियों ने ध्वनि का एक भेद माना है, रसवदादि अलंकारों का नाम देकर रसध्वनि को तो अलंकार के अन्तर्गत सम्मिलित किया ही है साथ ही कुछ-एक अलंकारों के लक्षणों में ध्वनि (व्यंजना) के मूलभूत तत्त्व—'एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति (गम्यमानता व्यंजकता अथवा अवगमन)'—का समावेश करके उन्होंने न केवल ध्वनि के मूल स्वरूप से परिचिति दिखाई है, अपितु 'अलंकार' के व्यापक रूप में इसे अन्तर्भूत भी कर दिखाया है। उदाहरणार्थ—

भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की 'गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथन विशेष) को पर्यायोक्त[2]।

इसी प्रकार दण्डि-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो वह है, जिसमें उपमान उपमेयगत सादृश्य शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है पर दूसरा वह जिसमें सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्त के स्वरूप का 'प्रकारान्तर कथन' पर आधृत माना है।[3] इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

> पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
> वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ का सा सं० ५।६

---

१ इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुक्तः साधु लक्ष्यते। का द १।७८

२ (क) समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥
का अ (भा) २।३४

(ख) यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥ वही २।७९

(ग) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वही ३।८

३. का द २।१८६ ; २।२६५

अर्थात् पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहाँ अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाए; और वह अन्य प्रकार है वाच्य-वाचक वृत्ति अर्थात् अभिधावृत्ति से शून्य अन्य अर्थ का अवगमन।

यह हुई अलंकारवादियों के ध्वनि निर्देशक स्थलों की चर्चा। रुय्यक के कथनानुसार रुद्रट के भी (जिन पर अलंकारवादियों का पर्याप्त प्रभाव है) रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं।[1] रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के अनुसार रुद्रट-सम्मत भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य'।[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन से पूर्व 'ध्वनि' को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आनन्दवर्धन को यह कहा कैसे सह्य होता कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में किया जाए। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नोक्त धारणाएँ[3] उल्लेखनीय हैं—

(क) अलंकार और ध्वनि में महान् अन्तर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है, पर ध्वनि-व्यंग्य-व्यंजक भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्व हेतुभूत अलंकार ध्वनि के अंगभूत हैं, और ध्वनि उनका अंगी है।

(ख) समासोक्ति, आक्षेप दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति पर्यायोक्त और संकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए आनन्दवर्धन ने यह सिद्ध किया है कि (व्यंग्य प्रधान) ध्वनि का (वाच्य प्रधान) अलंकारों में अन्तर्भाव मानना युक्ति-संगत नहीं है।

(ग) इसी प्रसंग में उन का एक अन्य प्रकारक तर्क भी अवेक्षणीय है—जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि अलंकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर

---

१ अलं॰ सर्व॰ पृष्ठ ७-८

२. अलंकार सर्वस्व पृष्ठ ७-८ तथा टीकाभाग पृष्ठ ६

३. ध्वन्या॰ १।१३ वृत्तिभाग तथा २।१०

भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ ध्वनि नाम से व्यवहार नहीं होता और यदि पर्यायोक्त आदि अलंकारों के उदाहरणों में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो भी तो उस अलंकार का अन्तर्भाव महाविषयीभूत (अंगीभूत) ध्वनि में किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में। ध्वनि तो काव्य की आत्मा है अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न अलंकार में उस का अन्तर्भाव किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके साथ अपनी सहमति प्रकट की है। उदाहरणार्थ—

शब्दार्थशरीरवर्तिनोः काव्यस्याऽऽत्मा ध्वनिर्मतः।
तेनालंकार्यं पृथगस्य नालंकारत्वमर्हति ॥ धर्म महो १।१७

परन्तु आनन्दवर्धन के उक्त खण्डन करने पर भी परवर्ती आचार्य प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट-प्रणीत काव्यालंकारसारसंग्रह की स्वनिर्मित टीका में वस्तुगत, अलंकारगत तथा रसगत ध्वनि को विभिन्न अलंकारों में अन्तर्भूत किया है[1] और विवक्षितवाच्य ध्वनि के स्वतन्त्र १६ भेदों का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलंकार में करने का निर्देश किया है, तथा अविवक्षित वाच्य ध्वनि के ४ भेदों का अप्रस्तुतप्रशंसा में[2]। प्रतिहारेन्दुराज की इन चार बातों का अधिक सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि वे मूल ग्रन्थ के कर्त्ता अलंकारवादी उद्भट का पुष्ट समर्थन करना चाहते थे।

आनन्दवर्धन तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य—

आनन्दवर्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्य तत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि इन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है,[3] पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्धन को ही ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। यह अनुमान कर लेना भी सहज-सम्भव है कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनि-विषयक मौखिक सिद्धान्तों की केवल पण्डित-गोष्ठियों में चर्चा-मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रथित और स्वतन्त्र ग्रन्थ का

---

१ का० सा० सं० (लघुवृत्ति टीका) पृष्ठ ८५-८८

२. वही (स० ह०) पृष्ठ ८५ तथा ९१

३. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः । ध्वन्या १।१

निर्माण नहीं हुआ होगा[1]। हाँ, इतना तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त आनन्दवर्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गए थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्धन को अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी थी। इन विरोधियों में से तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी[2]। प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं है तथा तृतीय वर्ग इस की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्धन ने कर ली हो, अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है, क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गई और दूसरे इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्धन ने भी नहीं किया।

ध्वनिविरोधी आचार्य और व्यञ्जना की स्थापना

इधर आनन्दवर्धन के पश्चात् भी ध्वनि सिद्धान्त के अन्य विरोधी उत्पन्न हो गए। ध्वनि को भट्ट नायक ने भावकत्व व्यापार में अन्तर्भूत किया, धनिक ने तात्पर्याख्य वृत्ति में, कुन्तक ने वक्रोक्ति में और महिम भट्ट ने अनुमान में। इनमें से भट्ट नायक का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया, और धनिक तथा महिमभट्ट का मम्मट ने। हाँ, कुन्तक का न विरोध किया गया और न समर्थन। विश्वनाथ का 'वक्रोक्ति' पर आक्षेप शिथिल भी है तथा असंगत भी। भट्टनायक के सिद्धान्त पर हम आगे रस-प्रकरण में विचार करेंगे। मम्मट ने तात्पर्यवाद और अनुमानवाद के अतिरिक्त अभिधावाद और लक्षणावाद का भी खण्डन किया है। इन में से अभिधावाद भट्ट लोल्लट आदि काव्यशास्त्रियों तथा प्राभाकर मीमांसकों का मत है, और लक्षणावाद गुणवृत्ति' (लक्षणा शक्ति) को स्वीकार करने वाले उद्भट के साथ संयुक्त

1 विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनमित्यभिप्रायः।

—ध्वन्या० (लोचन) पृष्ठ 11

2. ध्वन्या० 1।1

किया जाता है। व्यंजना की स्थापना के लिए इन वादों का खण्डन करना आवश्यक है—

१,१. अभिधावाद और तात्पर्यवाद—

अभिधा शक्ति और तात्पर्य शक्ति—मीमांसकों में कुमारिल भट्टमतानुयायी 'भाट्ट' मीमांसक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को भी मानते हैं। इनके मत में अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों के ही संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। इस अर्थ के लिए तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। ये मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' कहाते हैं, क्योंकि इनके मत में 'अभिधा से अभिहित अर्थात् प्रोक्त अर्थों का आपस में एक अन्य-'तात्पर्य' नामक-वृत्ति के द्वारा अन्वय (सम्बन्ध) स्थापित करना पड़ता है।"[1] इनके विपरीत प्रभाकर-मतानुयायी 'प्राभाकर' मीमांसक वाक्य के विभिन्न पदों का अभिधा ही के द्वारा स्वतः अन्वय मान कर वाक्यार्थ-बोध के लिए तात्पर्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं मानते। अन्वित पदार्थों का अभिधा के द्वारा बोध मानने के कारण ये मीमांसक 'अन्विताभिधानवादी' कहाते हैं।[2] उक्त दोनों प्रकार के मीमांसक व्यंजना शक्ति को क्रमशः अभिधा शक्ति में और तात्पर्य शक्ति में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं। अतः इन्हें अभिधावादी और तात्पर्यवादी कहना चाहिए। सम्भवतः मुकुल भट्ट ही एक ऐसे मीमांसक हैं जो लक्षणा का भी अन्तर्भाव अभिधा में मानते हैं पर शेष सभी मीमांसक लक्षणा को तो स्वीकार करते हैं पर व्यंजना को नहीं।

वाच्य और व्यंग्य में अन्तर—भट्ट लोल्लट प्रभृति अभिधा-वादी अपने मत की पुष्टि के लिए जिन तर्कों अथवा सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं उनका निर्देश और खण्डन करने से पूर्व ध्वनिवादियों के मत में अभिधाजन्य वाच्यार्थ और व्यंजनाजन्य व्यंग्यार्थ के अन्तर पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यह अन्तर निम्नोक्त आठ तत्त्वों पर आधारित है—

---

१ अभिहितानां स्वस्वार्थ पदैरपस्यर्थितानामर्थानामन्वय इति वादिनः अभिहितान्वयवादिनः। का म (बा बो) पृष्ठ २९।

२ अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधान वादिनः। वही—पृ २०

(१) निमित्त—वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द-ज्ञान है पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा-नैर्मल्य। इसी कारण वाच्यार्थ का ज्ञाता श्रोता कहाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।

(२) आश्रय—वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त शब्द का एक देश, वर्ण अथवा वर्णसंघटना आदि हैं, और कभी-कभी चेष्टादि भी।

(३) कार्य—वाच्यार्थ का कार्य वस्तुमात्र की प्रतीति कराना है पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार की प्रतीति कराना है।

(४) काल—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद में। यह अलग प्रश्न है कि यह प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि दोनों अर्थों में पौर्वापर्य का क्रम लक्षित नहीं हो पाता।

(५, ६) श्रोता और संख्या—एक वाक्य का वाच्यार्थ सब श्रोताओं के लिए एक समान होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न श्रोताओं के लिए अलग-अलग। उदाहरणार्थ, 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ ब्राह्मण, अभिसारिका, भगवद्भक्त, मांभी आदि सब के लिए एक है, पर व्यंग्यार्थ इन सब के लिए अलग-अलग होने के कारण अनेक हैं।

(७) विषय—कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, पर व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

(८) स्वरूप—कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषेध रूप, कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक, और कहीं वाच्यार्थ निन्दा-परक होता है तो व्यंग्यार्थ स्तुति-परक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इनसे विपरीत भी होती है।

अभिधावाद और उसका खण्डन—अभिधावादी अपने मत की पुष्टि में मीमांसा-सम्मत कतिपय सिद्धान्त उपस्थित करते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ अभिधावादियों के मत में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है, दूसरे शब्दों में, वह सम्पूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ ही कहलाता है, व्यंग्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ 'गंगा पर घोष है' इस कथन से वक्ता को यदि मकान की पवित्रता और शीतलता

बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है। इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है।

पर ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त सिद्धान्त-कथन का यह अभिप्राय नहीं है जो अभिधावादियों ने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इसका अभिप्राय यह है कि किसी वाक्य में जितना अर्थ प्राप्त होता है अर्थात् दहन-न्याय के अनुसार केवल उतने का ही ग्रहण कर लिया जाता है; और यह ग्रहण भी वाक्य में उपात्त अर्थात् प्रयुक्त शब्दों के ही अर्थ का होता है, अनुपात्त अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं।[1] पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा कोई नियत विधान नहीं हो सकता कि वह केवल उपात्त शब्दों से ही सम्भव हो, वह अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'गंगा में घोष है' इस कथन में कोई भी शब्द शीतलता अथवा पवित्रता का वाचक नहीं है।

२. अभिधावादियों के मत में अभिधा शक्ति का व्यापार उस प्रकार दीर्घ-दीर्घतर है, जिस प्रकार किसी बलवान् पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का। जिस प्रकार वह बाण कवचभेदन, उरोभिदारण और प्राणहरण तीनों का कारण बनता है उसी प्रकार अभिधा शक्ति का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध कराने में समर्थ है।[2] परन्तु व्यञ्जना-स्थापकों के मत में अभिधावादियों का यह कथन भी असंगत है। इसके निम्नोक्त कई कारण हैं—

(क) अभिधा-जन्य वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ होता है न कि इनसे प्रतीयमान अर्थ के साथ भी। उदाहरणार्थ,

---

१ × × × उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीयमाने।
का प्र ५ म उ पृ ११७—११८

२ (क) सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।
का प्र ५म उ पृ० २२५

(ख) यथा बलवता प्रेरित एक एवेषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपोर्वर्मच्छेदं मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते तथा सुकविप्रयुक्त एक एव शब्द एकेनैवाभिधाख्यव्यापारेण पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते इत्यर्थः।
—का प्र बालबोधिनी टीका पृष्ठ २२५

'मित्र ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है' इस वाक्य से प्रतीयमान हर्ष-भाव किसी भी शब्द अथवा शब्द-समूह का वाच्यार्थ नहीं है।

(ख) यदि अभिधा शक्ति ही तीनों अर्थों की वाचिका है तो फिर लक्ष्यार्थ के लिए (कुमारिल भट्ट के अतिरिक्त सम्भवतः शेष सभी) मीमांसकों ने लक्षणा शक्ति की स्वीकृति क्यों की है ! यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति भी स्वीकृत करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(ग) यदि व्यंग्यव्यंजक भाव न स्वीकार किया जाकर केवल वाच्य वाचकभाव स्वीकार किया जाए तो वाक्य में शब्द के क्रम-परिवर्तन अथवा पर्याय-परिवर्तन को सदा ही सदा समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'कुरु रुचिम्' को 'रुचिंकुरु' में परिवर्तित करने से 'चिंकु' पदांश में अश्लील दोष की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए, तथा 'शिव शंकर हमारा कल्याण कीजिए' इस वाक्य में 'शिव शंकर' के स्थान पर 'रुद्र' शब्द का प्रयोग सदोष नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार शुभवता को शृङ्गार, करुण आदि रसों में तो दोष स्वीकृत किया जाता है, परन्तु वीर, रौद्र आदि रसों में नहीं और इधर च्युतसंस्कृति को सभी रसों में दोष माना जाता है—दोषों की यह नित्यानित्य-व्यवस्था भी अभिधा-जन्य वाच्यार्थ पर अवस्थित नहीं हो सकती, इसका आधार व्यंजना-जन्य व्यंग्यार्थ ही है।

(घ) अभिधा को दीर्घ-दीर्घतर व्यापार स्वीकृत कर लेने की स्थिति में मीमांसा का यह सिद्धान्त कि "श्रुति, लिंग वाक्य प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छः प्रमाणों के समवाय में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तरोत्तर प्रमाण की अपेक्षा सबल होता है" व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि इन सब सबल-दुर्बल प्रमाणों का कार्य दीर्घ-दीर्घतर अभिधा से ही सिद्ध हो जाने के कारण इनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती।

१. मीमांसक अपने मत की सिद्धि के लिए एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित करते हैं—'निमित्तानुसारेण नैमित्तिकानि कल्प्यन्ते'[1]; अर्थात् जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा, नैमित्तिक (कार्य) भी उसी के अनुकूल

---

१ तुलनार्थ—सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, नाभ्यति।
—शबर भाष्य (मा मा)

होगा। व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त 'शब्द' के अतिरिक्त और कोई भी नहीं हो सकता। अतः शब्द बोधक अथवा वाचक है और व्यंग्यार्थ बोध्य अथवा वाच्य है। यह वाचक-वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो सकता है, तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है[1]।

पर व्यंजनावादी व्यंग्यार्थ का निमित्त 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो कारक निमित्त बन सकता है और न ज्ञापक निमित्त। शब्द व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशक है अतः 'कुम्भकार-घट' इस कारण कार्य-सम्बन्ध में कुम्भकार के समान शब्द व्यङ्ग्यार्थ का कारक निमित्त नहीं है। शब्द व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त भी नहीं है क्योंकि 'दीप-घट' इस कारण-कार्य-सम्बन्ध में दीप के समान व्यङ्ग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञान परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है पर व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता। इस प्रकार शब्द 'निमित्त' के किसी भी उक्त रूप पर घटित नहीं होता इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका नैमित्तिक मानना समुचित नहीं है। अतएव अभिधा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की गम्यता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

४ अन्विताभिधानवादी अभिधा के समर्थन में कह सकते हैं कि अभिहितान्वयवादियों के विपरीत इनके मत में अभिधा शक्ति केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञान मात्र करा के विरत नहीं हो जाती, अपितु वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष (अथवा सामान्यावच्छादित विशेष) ज्ञान करा देती है; अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं करनी चाहिए।[2] पर व्यंजनावादियों के मत में एक तो व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता; और दूसरे यह

---

१ ननु व्यंग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलम्भात् शब्द एव निमित्तम्। तत्र बोध्यबोधकत्वरूपं निमित्तत्वं वृत्तिं विना न संभवतीति अभिधैव वृत्तिरिति मीमांसकैकदेशिमतमाशङ्कते।
—का० प्र० बा० बो० टीका पृष्ठ २२१

२ ××××तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधान-वादिनः।
—का० प्र० ५ म० उ० पृष्ठ २२६

विशेष से भी बढ़ कर 'अति विशेष' होता है और कहीं वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है। अतः अभिधा द्वारा इसकी सिद्धि सम्भव नहीं है।[1]

शेष रहे अभिहितान्वयवादी। इनके मत में अभिधा शक्ति जब परस्पर-सम्बद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती, इसके लिए इन्हें तात्पर्य शक्ति माननी पड़ती है, तो फिर यह व्यंग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कराने में कैसे समर्थ होगी?[2]

तात्पर्यवाद और उसका खण्डन—अभिहितान्वयवादी मीमांसक तात्पर्य वृत्ति में व्यंजना शक्ति का अन्तर्भाव मानते हैं। काव्यशास्त्रियों में धनंजय और धनिक तात्पर्यवादी आचार्य हैं। धनंजय के कथनानुसार जिस प्रकार 'द्वार द्वार' कहने से वक्ता की अभूयमाण भी क्रिया 'खोलो' अथवा 'बन्द करो' का ज्ञान प्रकरणादिवश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थायिभाव का ज्ञान काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।[3] इसके लिए अलग वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इस समता का समन्वय इस प्रकार है—

वाक्य—विभावादि युक्त काव्य [दोनों का प्रकरणादि वश वाक्यार्थ
अश्रूयमाण क्रिया—स्थायिभाव [(तात्पर्य वृत्ति) द्वारा बोध

धनिक ने धनंजय के उक्त अभिप्राय को थोड़ा भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार काव्य भी (कवि के) तात्पर्य पर आश्रित रहता है। वस्तुतः तात्पर्य कोई तुला-धृत

---

1 तेषामपि सतो सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यति-विशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य 'निःशेषच्युत' इत्यादौ विध्यादेः चर्चा। वही—पृष्ठ २२१-२२२

2 ××× विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासंनिधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रा पदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्। वही—पृष्ठ २२६

3 वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरैः॥ द० रू० ४।३७

पदार्थ तो है नहीं कि जिसके विषय में यह कहा जा सके कि इसकी विश्रान्ति अर्थात् सीमा यहाँ तक नियत है, इसके आगे नहीं।"[1]

ध्वनिवादी तात्पर्यवादियों से इसी बात पर सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ-बोधन के लिए व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है पर तात्पर्यवादी इस 'विश्रान्ति' को स्वीकार नहीं करते—

अनिरुद्धेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तात्पर्यं त्वविश्रान्तौ, तद् विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ द० रू० ४।३७(वृ)

निष्कर्ष यह कि तात्पर्यवादी वाक्यार्थ मात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ के लिए भी तात्पर्य शक्ति की स्वीकृति करते हैं, पर ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति की। यहाँ एक स्वाभाविक शंका उपस्थित होती है—क्या वाक्यार्थ और प्रतीयमानार्थ दोनों एक हैं। स्वयं तात्पर्यवादी इन्हें भिन्न-भिन्न तथा पौर्वापर्य रूप से स्थित मानते हैं। अतः मीमांसकों के ही सिद्धान्त "शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" के अनुसार तात्पर्य शक्ति वाक्यार्थ मात्र का बोध करा चुकने के बाद विरत हो जाती है। अब प्रतीयमान अर्थ के बोध के लिए किसी अन्य शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य है इसे तात्पर्यवादी भले ही 'तात्पर्य शक्ति' नाम दे दें पर इसकी कार्य-सीमा वहीं से प्रारम्भ होगी, जहाँ प्रथम तात्पर्य शक्ति की विश्रान्ति होगी। अब केवल नाम में ही अन्तर रह जाता है—उसे तात्पर्य शक्ति कहें, अथवा व्यंजना शक्ति, पर है यह प्रथम तात्पर्य से भिन्न ही।

३ लक्षणावाद—

मह उद्भट प्रभृति आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्षणा में किया जाना चाहिए, अतः लक्षणा शक्ति से परे व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। पर लक्षणावाद के विरुद्ध निम्नलिखित चार युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

---

१ (क) पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ द० रू० ४।३७ (वृ०)
(ख) यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्। द० रू० ४।३७ (वृ०)

(१) लक्षणा शक्ति तीन तथ्यों पर आधारित है—मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति; तथा रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक हेतु की उपस्थिति। पर व्यञ्जना-गम्य अर्थ पर उपर्युक्त कोई भी तथ्य घटित नहीं होता। अभिधामूला ध्वनियों के उदाहरणों में मुख्यार्थ-बाध नहीं होता, व्यंग्यार्थ सदा मुख्यार्थ से भिन्न और असम्बद्ध रहता है, तथा रूढ़ि और प्रयोजन इन दोनों हेतुओं की इसे चिन्ता नहीं होती।

(२) इसके अतिरिक्त स्वयं लक्षणा शक्ति को भी अपने प्रयोजन गत भेदों के लिए व्यञ्जना शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'गंगा पर मकान है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का 'गंगा-तट' लक्ष्यार्थ तभी सम्भव है जब वक्ता को मकान का शीतलत्व और पावनत्व रूप प्रयोजन अभीष्ट हो और यह प्रयोजन व्यञ्जना का ही विषय है। और यदि 'शीतल आदि' अर्थ को व्यंग्यार्थ न मान कर लक्ष्यार्थ माना जाए तो इस लक्ष्यार्थ के लिए किसी अन्य प्रयोजन की स्वीकृति करनी पड़ेगी, जिससे विषय अनवस्थित हो जाएगा।[1]

(३) लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सदा नियत सम्बन्ध रहता है, पर व्यंग्यार्थ का उसके साथ कभी नियत सम्बन्ध रहता है कभी अनियत सम्बन्ध और कभी सम्बद्ध सम्बन्ध।[2]

(४) लक्षणा शक्ति शब्द के अधीन है पर व्यञ्जना शक्ति शब्द के अतिरिक्त निरर्थक वर्णों तथा भ्रूविनिक्षेपादि चेष्टाओं के भी अधीन है।[3]

इस प्रकार व्यञ्जना के समर्थकों ने इस शब्दशक्ति का अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा शक्तियों में अन्तर्भाव स्वीकार नहीं किया। इनके कथनानुसार जब उक्त तीनों शक्तियाँ अपने अपने कार्य से विरत हो जाती हैं तभी व्यञ्जना शक्ति अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, इससे पूर्व नहीं—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥[4]
सा द २।१२

---

१ का प्र २।१२ सूत्र   २ वही—५म उ पृ २७
३ वही—पृ २७१
४ मुख्यार्थ—उपयत्तोत्तमतात्पर्य पद् तथान्यं प्रकाशयेत्।
तस्मा व्यञ्जनां विमृद् व्यञ्जुर्जैविरपी भवेत् ॥ ध्व १।१७

४ अनुमानवाद—

महिमभट्ट ने सम्पूर्ण व्यञ्जना-व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ का निर्माण किया है।[1] उनके मत का सार यह है कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है। यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। दूसरे शब्दों में, तथाकथित 'व्यंग्यव्यञ्जकभाव' के लिए व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वीकृति अनिवार्य है। अतः व्यञ्जना व्यापार अनुमान प्रमाण का विषय है।

अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति और पक्षधर्मता—ये दो मुख्य अंश हैं। व्याप्ति कहते हैं हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य को। उदाहरणार्थ, जहाँ-जहाँ धुँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह व्याप्ति है। इस वाक्य में धूम हेतु है और अग्नि साध्य। पक्षधर्म कहते हैं उस आश्रय को जिसमें साध्य सन्दिग्ध रूप से रहता है। उदाहरणार्थ 'यह पर्वत वह्निमान् है' इस कथन में पर्वत पक्षधर्म है। अनुमान का आश्रय भी तभी लिया जाता है जब किसी पक्षधर्म में साध्य की स्थिति सिद्ध करनी हो जैसे—पर्वत में अग्नि की स्थिति। महानस जैसे सपक्ष धर्म अर्थात् निश्चित आश्रय और सरोवर जैसे विपक्ष धर्म अर्थात् असम्भव आश्रय में अग्नि रूप साध्य को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि सपक्ष धर्म में साध्य की स्थिति निश्चित है, और विपक्ष धर्म में असम्भव है। पर्वत में अग्नि की स्थिति सिद्ध करने के लिए अनुमान के विभिन्न पाँच अवयवों का स्वरूप इस प्रकार होगा—

(क) यह पर्वत अग्निमान् है = प्रतिज्ञा

(ख) धूम वाला होने से = हेतु

(ग) जो जो धूमयुक्त होता है वह अग्नियुक्त होता है जैसे महानस, जो धूमयुक्त नहीं होता वह अग्नियुक्त भी नहीं होता, जैसे सरोवर = उदाहरण

(घ) यह पर्वत अग्नि से व्याप्य धूम से युक्त है, अथवा यह पर्वत महानस के समान धूमवान् है = उपनय

(ङ) अतः यह पर्वत अग्निमान् है = निगमन।

---

1 अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ व्य० वि० १।१

महिमभट्ट ने उक्त प्रक्रिया के आधार पर आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान-गम्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, गोदावरी तीर-स्थित संकेत कुंज में आ धमकने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति से कुलटा का यह कथन कि 'अब इस कुंज में निर्भय होकर भ्रमण करो, क्योंकि वहाँ के वासी सिंह ने कुत्ते को मार डाला है'[1] वाच्यार्थ रूप में विधि-वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यंग्यार्थ रूप में निषेध-वाक्य है कि यहाँ मत घूमा करो। महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमान गम्य है, न कि व्यञ्जना-गम्य। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

यह धार्मिक व्यक्ति (पक्ष) सिंह-युक्त गोदावरी-तीर पर भ्रमणवान् नहीं है = साध्य

क्योंकि कुत्ते के हौर जाने पर ही वह घर में भ्रमण कर सकता है = हेतु

किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान = दृष्टान्त

परन्तु ध्वनिवादी इस निषेध रूप अर्थ को अनुमान का विषय नहीं मानते। अनुमान की व्याप्ति सद् अर्थात् निश्चित हेतु से ही सम्भव है; असद् अर्थात् अनिश्चित हेतु से नहीं। पर ध्वनि-काव्य कवि की कल्पना पर आश्रित होने के कारण असद्हेतु से युक्त भी होता है। उक्त उदाहरण में 'जहाँ जहाँ भीरु का भ्रमण होगा, वहाँ वहाँ भय का कारण अभाव होगा'—यह व्याप्ति असंगत है, क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा अथवा प्रिया के अनुराग अथवा किसी अन्य कारण से भ्रमण करते देखे जाते हैं। अतः यहाँ सद् हेतु न होकर अनैकान्तिक (अनिश्चयात्मक) हेत्वाभास है।

इसके अतिरिक्त उक्त अनुमान-प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्तिसंगत नहीं है। वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उस से भयभीत हो कर तो वहाँ भ्रमण नहीं कर सकता पर वीर व्यक्ति होने से सिंह से भयभीत न होने के कारण वह उस स्थान पर भ्रमण कर सकता है—यह विरुद्ध हेत्वाभास है। गोदावरी तीर पर सिंह

---

1 भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥
का० प्र० ५।१३९ (संस्कृतच्छाया)

है भी या नहीं—यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है और न अनुमान प्रमाण द्वारा। आप्त प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि *सिंह का सूचना देने वाली कुलटा अथवा सामान्या नारी है; जिसका कथन* प्रमाण नहीं माना जा सकता—यह असिद्ध हेत्वाभास है। इन सब कारणों से व्यंजना शक्ति के स्थान पर अनुमान का मानना सर्वथा असंगत है।

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने अन्य विरोधी पक्षों का युक्ति-संगत खण्डन करके व्यंजना की सुदृढ़ स्थापना की है।

शब्दशक्तियों के भेदोपभेद—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना में से अभिधा के भेदोपभेदों का उल्लेख आचार्यों ने नहीं किया। शेष दो शब्द-शक्तियों के भेदों का विवरण निम्नोक्त प्रकार से है—

लक्षणा—मम्मट के अनुसार लक्षणा शब्दशक्ति के दो प्रमुख भेद हैं—शुद्धा और गौणी। शुद्धा के दो भेद हैं—उपादान-लक्षणा और लक्षण लक्षणा। इन दोनों के पुनः दो दो उपभेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के चार भेद हुए। गौणी लक्षणा के दो उपभेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार ये कुल छः भेद हुए—

(१) शुद्धा सारोपा उपादान लक्षणा
(२) शुद्धा साध्यवसान उपादान लक्षणा
(३) शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा
(४) शुद्धा साध्यवसाना लक्षण लक्षणा
(५) गौणी सारोपा
(६) गौणी साध्यवसाना

मम्मट के अनुसार लक्षणा के उक्त छहों भेदों में कोई न कोई *प्रयोजन* विवक्षित रहता है, अतः ये भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं। यह लक्षणा सदा व्यङ्ग्य सहित होती है। इसी कारण इसे व्यङ्ग्या लक्षणा भी कहते हैं। व्यङ्ग्या लक्षणा के दो उपभेद हैं—गूढ़ व्यङ्ग्या और अगूढ़ व्यङ्ग्या। प्रयोजनवती लक्षणा अथवा व्यङ्ग्या लक्षणा के अतिरिक्त मम्मट ने एक और लक्षणा भी मानी है—रूढ़ा, जो सदा व्यङ्ग्यरहित होती है। इसी कारण इसे निर्व्यङ्ग्य लक्षणा भी कहते हैं।

मम्मट-सम्मत उक्त प्रतिपादन से प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने लक्षणा के निम्नोक्त ८० भेदों की गणना की है—

लक्षणा के प्रमुख दो भेद—रूढ़ा और प्रयोजनवती।

इन दोनों के दो दो भेद—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा।

इन चारों के दो दो भेद—सारोपा और साध्यवसाना।

इन आठों के दो दो भेद—गौणी और शुद्धा।

इस प्रकार कुल १६ भेद हुए—आठ रूढ़ा के और आठ प्रयोजनवती के।

आठों प्रयोजनवती लक्षणा के दो दो भेद—गूढ़-व्यङ्ग्या और अगूढ़ व्यङ्ग्या।

सोलहों प्रयोजनवती लक्षणा के दो दो भेद—धर्मिगत और धर्मगत।

इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के बत्तीस और रूढ़ा लक्षणा के आठ भेद—कुल मिला कर चालीस भेद हुए।

इन चालीसों भेदों के दो दो भेद—पदगत और वाक्यगत।

इस प्रकार ये अस्सी भेद हुए।

व्यञ्जना—व्यञ्जना शक्ति के दो मुख्य भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन भेदों का अभिप्राय यह नहीं है कि शाब्दी व्यञ्जना में केवल शब्द ही और आर्थी व्यञ्जना में केवल अर्थ ही व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में व्यञ्जक होते हैं, अपितु दोनों अवस्थाओं में शब्द और अर्थ व्यञ्जक हो कर एक दूसरे के सहायक बनते हैं। हाँ शाब्दी व्यंजना में व्यञ्जक शब्द की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता और आर्थी व्यंजना में व्यञ्जक अर्थ की प्रधानता रहती है और व्यञ्जक शब्द की गौणता। यही प्रधानता ही शाब्दी अथवा आर्थी नामों का कारण है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥ का० प्र० २।२

शाब्दी व्यञ्जना के दो उपभेद हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।

अभिधामूला व्यंजना के द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है जो निम्नोक्त १५ कारणों से अवाच्य घोषित हो जाता है—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य विरोधिता, अर्थ प्रकरण,लिंग अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिति, देश, काल, व्यक्ति, स्वर अभिनय आदि। यहाँ यह स्मरणीय है कि संयोग आदि किसी शब्द की वाचकता के नियामक कारण हैं, ये अभिधामूला व्यंजना के भेद नहीं हैं। अतः इनके

उदाहरण अभिधामूला व्यंजना के प्रत्युदाहरण-स्वरूप हैं, इसके उदाहरण-स्वरूप नहीं हैं।

आर्थी व्यंजना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति निम्नोक्त १ वैशिष्ट्यों में किसी एक वैशिष्ट्य के कारण होती है—वक्ता बोद्धव्य, काकु वाक्य वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि। इन वैशिष्ट्यों के आधार पर आर्थी व्यंजना दस प्रकार की है।

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य

'ध्वनि' शब्द के विभिन्न अर्थ

काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच विभिन्न अर्थों में किया है[1] —व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना शब्दशक्ति, व्यंग्य अर्थ और व्यंग्यार्थ-समन्वित काव्य।[2]

ध्वनि का स्वरूप

(क) आवश्यकता—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन से पूर्व केवल भरत रसवादी आचार्य माने जाते हैं। भामह, दण्डी आदि ने भी रस के प्रति आस्था दिखाई है। शेष आचार्यों में से उद्भट अलंकारवादी थे तथा वामन रीतिवादी। इन दोनों वादों का क्षेत्र काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशतः सीमित था। यदि रस भाव आदि की चर्चा की गई तो वह भी इन्हें रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार मात्र मान कर[3]; और यदि अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना की ओर संकेत किया गया तो प्रायः अलंकारों को ही लक्ष्य में रख कर तथा अस्पष्ट साधारण रूप में।[4] उधर भरत का रसवाद भी विभावादि सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर घटित होता था प्रबन्ध काव्य पर भी घटित हो जाता था; पर विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री से शून्य होते हुए भी चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं को रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन ही नहीं, असम्भव था। आनन्दवर्धन

---

१ तथा च स तथाविधः शब्दवाच्यव्यंग्यव्यंजनसमुदायात्मकः काव्य विशेषो ध्वनिरिति कथितः। —लोचन (बालप्रिया) पृष्ठ १९।

२ 'शब्द शक्ति' नामक पिछले अध्याय में ध्वनि शब्द का प्रयोग प्रायः व्यंजना शक्ति के पर्याय रूप में किया गया है और इस अध्याय में प्रायः व्यंग्यार्थ और 'व्यंग्यार्थ-समन्वित काव्य' अर्थ में।

३ देखिए प्र० प्र० में रस-प्रकरण के अन्तर्गत 'अलंकार-सम्प्रदाय और रस'।

४ देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ११६-११८

ने इस मर्म को समझा और समकालीन अथवा पूर्ववर्ती (अब अज्ञात) आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की।[1]

साधन और साध्य—आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका आख्यान इस प्रकार है—जिस प्रकार किसी अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है; और जिस प्रकार दीप और उनसे निस्सृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ और उनसे अभिव्यक्त ध्वनि (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के अलंकार मात्र हैं, पर ध्वनि कोई अन्य (अनिर्वचनीय) पदार्थ है। जिस प्रकार अवयव-समुदाय और लावण्य में; तथा दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्य भाव है; उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन-साध्यभाव है, और यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की सदा अपेक्षा रखनी पड़ती है।[2] पर शब्दार्थ और ध्वनि का यह सम्बन्ध उक्त लौकिक उदाहरणों से किंचित् असदृश भी है। अवयवसमुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण अथवा हीन नहीं बनना पड़ता; पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब शब्द अपने आप को तथा अर्थ अपने आप को गौण बना दे—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्या० १।१३

और इसी ध्वनि को आनन्दवर्धन ने 'काव्य की आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः × × × × × (ध्व० आ० १।५)

(ख) ध्वनि-भेद—आनन्दवर्धन के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट

---

१ (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। —ध्वन्या० १।१
(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम्॥ वही १।१९

२ (क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—वही १।४
(ख) आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ वही १।९

ने ध्वनि के प्रमुख ५१ भेदों की गणना की है, और फिर इन्होंने ध्वनि के इस विशाल क्षेत्र को दो प्रधान भागों में विभक्त कर दिया है—वाच्यतावह और वाच्यता-असह। वाच्यतावह के दो रूप हैं—अविवक्षित और विवक्षित। इनमें से दूसरा रूप पहले रूप की अपेक्षा कविकल्पना पर अधिक आश्रित रहता है। अविवक्षित का दूसरा नाम वस्तुध्वनि है और विवक्षित का अलंकारध्वनि। वाच्यता-असह को रस-ध्वनि कहते हैं, क्योंकि रस भाव आदि वाच्यार्थ को किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकते—न तो 'शृङ्गार शृङ्गार' अथवा 'रति रति' कहने से रसाभिव्यक्ति होती है[1]; और न शृङ्गार अथवा रति शब्द के अर्थबोध से।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि जैसे मानसिक व्यापार और व्यापक काव्य-तत्त्व की स्थापना का सुपरिणाम यह हुआ कि एक ओर अलंकार और रीति जैसे बाह्य काव्यांगों का शताब्दियों से प्रचलित अनावश्यक महत्त्व समाप्त हो गया और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण मुक्तक काव्य भी, जो रस के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकते थे, अब ध्वनि-काव्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश पा गए। इन्हें वाच्यतावह अर्थात् वस्तुध्वनि अथवा अलंकारध्वनि में स्थान मिल गया।

पर आनन्दवर्धन ने अब भी देखा कि दो प्रकार की ऐसी रचनाएँ और हैं जो चमत्कारपूर्ण होते हुए भी ध्वनि के उक्त प्रमुख तीन रूपों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं हो सकतीं—

(१) जिन में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारोत्पादक होता है; दूसरे शब्दों में, उसका अंग बन जाता है।

(२) जिनमें व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है।

उदारचेता आचार्य ने इनको भी काव्य जैसे महनीय अभिधान से सुशोभित करने के लिए व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन प्रकार गिना दिए—ध्वनि गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। चित्र काव्य के अन्त-

---

1 न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः।
—ध्वन्यालोक १।४ (वृत्ति) पृष्ठ २६

गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विषय समाविष्ट किया गया।[1] मम्मट ने इन तीन प्रकारों को तारतम्य के अनुसार क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) काव्य भी कहा है।[2] संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिभाशाली आचार्य जगन्नाथ ने इस विभाजन में एक अन्य कोटि का परिवर्धन कर दिया। उन्होंने शब्दालंकारों को अधम काव्य कहा; अर्थालंकारों को मध्यम काव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि को क्रमशः उत्तम और उत्तमोत्तम।[3] उनके विचार में शब्दालंकार और अर्थालंकार को एक कोटि में रखना समुचित नहीं है।[4] पर यदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध अर्थालंकारों के उदाहरणों को देखा जाए तो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उन्हें मम्मट के शब्दों में 'चित्र' अथवा 'अधम' (अवर) काव्य और जगन्नाथ के शब्दों में 'मध्यम' कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। हमारे विचार में वे सभी गुणीभूतव्यंग्य के ८ भेदों में किसी न किसी भेद में समाविष्ट हो सकते हैं। अतः चित्र-काव्य का विषय केवल वहीं मानना चाहिये, जहाँ केवल शब्द अथवा अर्थ का चमत्कार हो और ऐसे स्थलों को 'काव्य' की संज्ञा भी उपचार से ही देनी चाहिए।

रसध्वनि और काव्यशास्त्रीय व्यवस्था

आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना ने शताब्दियों से चली आ रही काव्यशास्त्रीय व्यवस्था को भिन्न किया। अब अलंकार, गुण और रीति जैसे काव्यांगों का महत्त्व सीमित हो गया। पर इसका श्रेय ध्वनि के उक्त प्रमुख तीनों भेदों में से रसध्वनि को है वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि को नहीं। स्वयं आनन्दवर्धन के कथनानुसार अब अलंकारों का महत्त्व इसी में रह गया कि वे शब्दार्थ के आश्रित रह कर परम्परा-संबंध से रस का उपकार करें। गुण रस के ही उत्कर्षक धर्म घोषित किये गए; तथा रीति को भी रस की ही उपकर्त्री रूप में स्वीकृत किया गया। यहाँ

1 ध्वन्या० ३।४३ ४५,४२,४६

2 का० प्र० १।४५

3 र० गं० पृष्ठ ११

4 शब्दार्थचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तम् काव्य प्र, तारतम्यस्य स्फुटमुपलम्भात्। र० गं० १म आ० पृष्ठ १२

तक कि दोनों की नित्यानित्य-व्यवस्था का मूलाधार भी रस को ही माना गया।[1] रस के इस केन्द्रीकरण से निस्सन्देह यह भी सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन रसध्वनि को शेष दो ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, तथा कुछ-एक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश भी। उदाहरणार्थ, ध्वनि-भेदों के उपसंहार-वाक्य में उन्होंने कवि को रसध्वनि की ओर ही अधिक प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है अन्य भेदों की ओर नहीं—

> व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
> रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ध्वन्या ४।५

इसी प्रकार शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग का आदेश देते हुए आनन्दवर्धन ने रस (रसध्वनि) को ही प्रधान लक्ष्य बनाया है, ध्वनि के दो अन्य प्रमुख रूपों को नहीं—

> वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
> रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ध्वन्या० ३।३२

वस्तुतः वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के उदाहरणों में ध्वनितत्त्व के प्रधान रूप से विद्यमान होने के कारण एक ओर तो वे गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरणों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं और दूसरी ओर वाच्यता-सह होने के कारण रस ध्वनि के उदाहरणों की अपेक्षा वे कम चमत्कारोत्पादक हैं। विश्वनाथ ने वस्तुध्वनि (और अलंकार-ध्वनि) को भाव रसाभास, भावाभास आदि में अन्तर्भूत करते हुए इन्हें अस्वीकृत किया है।[2] पर हमारे विचार में वाच्यता-सहत्व के कारण ये भाव आदि के अपेक्षाकृत उच्च पद पर नहीं पहुँच सकते।

आनन्दवर्धन-प्रस्तुत सामग्री से सहायता लेकर मम्मट ने ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का व्यवस्थापूर्ण विवेचन किया और प्रायः मम्मट की ही सामग्री पर आश्रित रह कर विश्वनाथ ने भी। आगे चल कर हिन्दी के आचार्यों में से कई मम्मट के अनुयायी हैं, कई विश्वनाथ के और कई दोनों के।

---

१ देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध में अलंकार गुण और रीति-प्रकरण

२. वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहारः इति चेत्, न। तत्रापि रसाभासवत्त्वमेवेति ब्रूमः। —सा द १म परि पृष्ठ २५

पंचम अध्याय

रस

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में आदि से अन्त तक रस-निरूपण को किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है। भरत ने रसविषयक प्रायः सभी सामग्री प्रस्तुत की है। उनके बाद लगभग सात सौ वर्षों तक यद्यपि अलंकार-सम्प्रदाय का महत्त्व बना रहा परन्तु एक तो स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने रस की महत्ता स्थान-स्थान पर घोषित की है; और दूसरे, सम्भवतः इसी काल में ही भट्ट लोल्लट आदि आचार्यों ने रसस्वरूप-निर्देशक भरत-सूत्र की गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत करके रससम्प्रदाय की धारा को अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने में सहयोग दिया है। अलंकारवादियों के बाद आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे युगप्रवर्तक ध्वनिवादियों का समय आता है। इनके अनुकरण में मम्मट, विश्वनाथ जगन्नाथ सरीखे महान् आचार्यों ने रस को ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकरण में हम भरत तथा भरत-सूत्र के व्याख्याताओं और अलंकार-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-विवेचन की चर्चा करेंगे।

भरत मुनि और रस

(१)

रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है। इस दृष्टि से भरत मुनि के लिए अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रसविषयक चर्चा का समावेश करना नितान्त अनिवार्य था। यही कारण है कि रससम्बन्धी सभी आवश्यक उपकरणों का विवरण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर को रस के प्रवर्तक होने का

भेद दिया गया है; और भरत को नाट्यशास्त्र के।[1] पर फिर भी भरत का रस के प्रति समादरभाव कुछ कम नहीं है। उक्त ग्रन्थ के 'रस विकल्प' और 'भावव्यंजक' नामक अध्यायों में उन्होंने रस और भाव के स्वरूप का उल्लेख किया है, इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश किया है। आठों रसों का परिचय देते हुए उन्होंने प्रत्येक रस के स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विकभावों का नामोल्लेख किया है। रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है; तथा रसों के भेदों की चर्चा की है।

(२)

भरत ने मूल रूप में चार रस माने हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।[2] शृङ्गार और हास्य, वीर और अद्भुत तथा वीभत्स और भयानक रस-युग्म का पारस्परिक कारणकार्यभाव होने के कारण उत्पाद्योत्पादक-सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। रौद्र और करुण में भी यह सम्बन्ध मनःस्थिति के आधार पर परिपुष्ट है। सबल पक्ष का निर्बल पक्ष पर अकारण और निर्दयतापूर्ण क्रोध सामाजिक के हृदय में करुणा की ही उत्पत्ति कर देता है।

इस प्रकरण में भरत ने रसों के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया है।[3] आगे चल कर इनमें से कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गए—

(क) प्रचलित भेद—शृङ्गार के सम्भोग और विप्रलम्भ दो भेद। हास्य के [उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों के प्रयोगानुसार] स्मित, विहसितादि छः भेद; तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये तीन भेद।

(ख) अप्रचलित भेद—शृङ्गार के वाङ्नैपथ्यक्रियात्मक—तीन भेद। हास्य के आत्मस्थ और परस्थ—दो भेद।

---

१ रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।
—का मी १म अ०, पृष्ठ ४

२. ना शा ६।३९-४१

३ ना शा ६।७४ वृत्ति; ६।७७-८३

हास्य और रौद्र के अंग-नेपथ्य-वाक्यात्मक—तीन तीन भेद।
करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद।
भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक—तीन भेद,
तथा व्याज-अपराध त्रास गत अन्य तीन भेद।
बीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद।
अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद।

(९)

भरत ने रस-प्रकरण में भावों की संख्या ४९ गिनाई है—८ स्थायिभाव, ३३ व्यभिचारिभाव और ८ सात्त्विक भाव।[1] आठ स्थायिभावों के अनुकूल रसों की संख्या भी इनके मत में आठ है[2]; शान्त रस का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। स्थायिभाव ही अन्य शेष ४१ भावों से संयुक्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है अतः स्थायिभाव और अन्य भावों में वैसा ही पारस्परिक [मुख्य-गौण] सम्बन्ध है जैसा राजा और उसके सहचरों में होता है।[3]

स्पष्ट है कि भरत ने स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों के साथ स्तम्भ स्वेद, वैपथु आदि सात्त्विक भावों को भी 'भाव' नाम से अभिहित किया है पर सात्त्विक भावों को 'भाव' की संज्ञा देना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः मानसिक आवेग ही काव्यशास्त्र में 'भाव' कहलाते हैं। सात्त्विक भावों के आधार निस्सन्देह विभिन्न मानसिक आवेग हैं, पर उन आवेगों की प्रतिक्रिया-स्वरूप ये स्वयं स्थूल रूप में प्रकट होते हैं। अतः, जैसा कि आगामी आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है, इन्हें 'अनुभाव' की संज्ञा मिलनी चाहिए, न कि 'भाव' की। स्वयं भरत ने 'भाव' की परिभाषा में कवि के मानसिक आवेगों को ही 'भाव' नाम से पुकारा है—

> वागङ्गमुखरागैश्च, सत्त्वेनाभिनयेन च।
> कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
> विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते।
> वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ ना शा ७।२ ३

---

१ ना शा ७।६ (वृत्ति)   २ ना शा ६।१५-१६
३. ना शा ७।७ (वृत्ति), पृष्ठ ४१

भरत के कथनानुसार भाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—"भावयन्तीति भावाः। किं भावयन्ति? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः"[1]—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा सामाजिक के हृदय में जो काव्यार्थों का भावन (अवगमन) कराते हैं, वे भाव कहाते हैं। सात्त्विक भावों को 'वागङ्गाभिनयों' की पंक्ति में सम्मिलित करना निश्चय ही इस तथ्य का पोषक है कि ये अन्तर्गत भावों के प्रदर्शक हैं, पर स्वयं भाव नहीं हैं।

यहाँ स्वभावतः एक अन्य प्रश्न उठता है; भाव और रस का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? भरत के अनुसार इनमें एक दूसरे के प्रति कारण कार्य-सम्बन्ध है—भावों से विभिन्न रसों की अभिनिर्वृत्ति (उत्पत्ति) होती है। रस की यह अभिनिर्वृत्ति स्वतः नहीं हो जाती—इसके लिए भावों को अभिनय का आश्रय लेना पड़ता है और तभी हम कह सकते हैं कि अब कोई भी भाव ऐसा नहीं है जिसमें रस नहीं है, और कोई भी ऐसा रस नहीं है जिसमें भाव नहीं है।[2]

भरत के अभिमत का निष्कर्ष यह है—

(१) स्थायिभाव, व्यभिचारभाव और सात्त्विक भाव ये सभी भाव कहाते हैं।

(२) इनमें से स्थायिभाव [अपने सहायक व्यभिचारिभावों के साथ] रसावस्था को तभी पहुँचते हैं जब इन्हें आंगिक वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का आश्रय मिलता है।

(३) भावों (स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों) और रसों में क्रमशः कारण कार्य सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

(४)

भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।[3] उनके इस सिद्धान्त-कथन में पर्याप्त

---

१ ना॰ शा॰ ७म अध्याय का आरम्भ

२ न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ ना॰ शा॰ ६।३६

३ ना॰ शा॰ पृष्ठ ७१

स्थायिभावों को स्थान नहीं मिला पर जैसा कि उनकी अपनी व्याख्या से स्पष्ट है, उन्हें अभीष्ट यही है कि स्थायिभाव ही उक्त विभावादि के द्वारा रसत्व को प्राप्त होते हैं।[1] भरत ने उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "नाट्य-जगत् में विभावादि का यह संयोग रस (आस्वाद) का जनक उस प्रकार है, जिस प्रकार लौकिक संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्टान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न कर देता है। स्थायिभावों का यह आस्वाद तभी सम्भव है, जब ये 'नानाभावाभिनय' (नाना प्रकार के भावों के नाटकीय अभिनय) से प्रकट किए गए हों, और वाग् (वाचिक)- अंग (आंगिक) तथा सत्त्व (सात्त्विक अभिनयों) से संयुक्त हों।'[2]—भरत-सूत्र की यह व्याख्या रसस्वरूप पर एक क्षीण सा प्रकाश डालती है। इस व्याख्या में प्रयुक्त 'नानाभावाभिनय' और 'वाग्-अंग' को अनुभाव के अन्तर्गत माना जा सकता है और 'सत्त्व' को सात्त्विकभाव के अन्तर्गत।

(४)

भरतसूत्र के व्याख्याता—भरत-प्रतिपादित सूत्र निस्सन्देह व्याख्यापेक्ष है। इसकी व्याख्या आगामी विद्वान् आचार्यों ने जिनमें से भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार करते करते रस का मूल भोक्ता कौन है—इस प्रश्न के साथ साथ इस जटिल समस्या को भी सुलझाने में प्रवृत्त हो गए कि भोक्ता को किस क्रम और किस विधि से रस का आस्वाद प्राप्त होता है। भरत से पूर्ववर्ती किसी आचार्य अथवा स्वयं भरत को भी इस कथन की इतनी विशद और विवादपूर्ण व्याख्या अभीष्ट होगी—आज तक की अनुसन्धानों के बल पर निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना अत्यन्त कठिन है। इस कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का जो स्वरूप भरत को अभीष्ट है, वही आगामी आचार्यों को

---

[1] × × × × एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। —ना शा पृ ७१

[2] यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। —ना शा० पृ ७१

भी है; पर विवादग्रस्त दो शब्द हैं—संयोग और निष्पत्ति, जिन पर प्रस्तुत विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख अपेक्षणीय है।

(१) भट्ट लोल्लट

'अभिनव-भारती' के अनुसार भरत-सूत्र[1] के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मत में—

(१) उपचितावस्था अर्थात् परिपक्वता को प्राप्त स्थायिभाव ही 'रस' नाम से अभिहित होते हैं। स्थायिभाव, जो कि स्वयं तो अनुपचित (अपरिपक्व) हैं विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संयोग पाकर जब उपचित होते हैं, तभी इनका नाम रस पड़ जाता है।

(२) यह रस अनुकार्य—वास्तविक रामादि—में भी रहता है; और अभिनय-कौशल के बल पर रामादि का अनुकरण करने वाले नट में भी।[2]

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वितीय अंश में थोड़ा संशोधन उपस्थित करते हुए वास्तविक रामादि में मुख्य रूप से रस की स्थिति मानी है और नट में गौण रूप से। भरतसूत्र-स्थित 'संयोग' और लोल्लट-प्रतिपादित 'उपचित' शब्दों के आधार पर लोल्लट-सिद्धान्त के प्रथम अंश की विशद व्याख्या करते हुए मम्मट ने विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों का स्थायिभावों के साथ संयोग-सम्बन्ध निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया है—

(क) आलम्बनोद्दीपन-विभावों तथा स्थायिभाव में जनक-जन्य संबंध है; (ख) अनुभाव तथा स्थायिभाव में गम्य-गमक-सम्बन्ध है, और (ग) व्यभि

---

१ यहाँ 'सूत्र' शब्द सिद्धान्त-कथन के अर्थ में प्रयुक्त किया जा रहा है अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

२ भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनः ततो रसनिष्पत्तिः। × × × × स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि—अनुकार्ये-अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्। भा ना (अ भा) पृष्ठ २७२।

कुछ इसी प्रकार की धारणा अलंकारवादी दण्डी ने भी प्रकट की थी—

रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगतः।

अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः॥

—का० भा पृष्ठ २८७, का द २।२८१ २८३

व्यभिचारिभावों तथा स्थायिभाव में पोषक-पोष्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार मम्मट की व्याख्यानुसार स्थायिभाव विभावादि के द्वारा क्रमशः जन्य, गम्य और पुष्ट होकर 'रस' रूप में प्रतीयमान होता है।[1] मम्मट को इस त्रि-सम्बन्ध-निर्देश की प्रेरणा निस्सन्देह अभिनव-भारती से मिली होगी।

भट्ट लोल्लट ने अपने सिद्धान्त में यद्यपि सहृदय का उल्लेख नहीं किया; पर निश्चित ही उसे अभीष्ट यही है कि सहृदय तो रस का भोक्ता है ही। वह नट-नटी के माध्यम से उसी रस को प्राप्त करता है; जिसे वास्तविक राम-सीतादि नायक-नायिका ने प्राप्त किया होगा।

भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त पर आगे चल भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याता शंकुक ने अनेक आक्षेप किए। उनका एक आक्षेप यह है कि 'उपचित स्थायिभाव को रस नाम से पुकारने में यह निश्चित कर सकना असम्भव है कि रति, हास आदि स्थायिभाव कितनी मात्रा तक उपचित होकर रस कहाते हैं। मात्रा-निर्धारण के लिए यदि यह मान लिया जाए कि उच्चतम पराकाष्ठा तक ही उपचित 'स्थायिभाव' रस कहाता है, तो भरत-सम्मत हास्य रस के स्मित, अवहसित आदि छः भेद; तथा शृङ्गार रस के अन्तर्गत निरूपित काम की अभिलाष आदि दश अवस्थाएँ असंगत हो जाएँगी क्योंकि इन दोनों रसों में स्थायिभाव केवल उच्चतम कोटि की उपचितावस्था के सूचक न होकर उत्तरोत्तर प्रकर्ष के सूचक हैं।[2] अतः लोल्लट का मत सीमा-निर्धारक न होने के कारण शिथिल है।

शंकुक का दूसरा आक्षेप है कि लोल्लट द्वारा प्रतिपादित विभाव और स्थायिभाव में उत्पाद्योत्पादक रूप कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध की स्थापना भी निम्नलिखित दो कसौटियों पर खरी नहीं उतरती—(१) कारण (कुम्भकारादि) के नष्ट हो जाने पर भी कार्य (घट) की स्थिति बनी रहती है; और (२) कारण (चन्दनावलेपन) और कार्य (सुगन्ध-सुखानुभव) की

---

१ का० प्र० ४।२८ (वृत्ति)

२ अनुपचितावस्थः स्थायी भावः, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो मन्दतममन्दतरमन्दमध्येत्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्तिः। एवं रसस्यापि तीव्रतीव्रतरतीव्रतमपरिमितभेदत्वं प्रसज्यते। अथोपचयचरमावधौ भाव एव रस उच्यते तर्हि 'स्मितमथ विहसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्' इति षोढात्वं हास्यरसस्य कथं भवेत्। —अ० भा०, पृष्ठ ६६ प्रथम भाग

एक साथ स्थिति कदापि सम्भव नहीं है—इनमें थोड़ा-बहुत पूर्वापरभाव अवश्य रहता है। पर इधर एक तो विभाव के नष्ट हो जाने पर (स्थायि भावात्मक) रस भी नष्ट हो जाता है और दूसरे विभाव और रस दोनों साथ साथ अवस्थित रहते हैं उनमें पूर्वापर-सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं है।[1]

शंकुक का एक अन्य प्रबल आक्षेप है कि लोल्लट का यह सिद्धान्त कि "सामाजिक नायक-नायिका द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन नट-नटी के माध्यम से प्राप्त करता है" अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। जिसमें रति आदि स्थायिभाव होगा, रस भी उसी में होगा, न कि किसी अन्य में—इस व्याप्ति के अनुसार केवल नायक-नायिका ही रसास्वादन-प्राप्ति के अधिकारी ठहरते हैं, न कि नट-नटी और न उन के माध्यम से सामाजिक भी। और फिर, सामाजिक मूल नायक के रति-हासादि भावों से कदाचित् आनन्द मूलक रस प्राप्त कर भी ले, पर शोक-भयादि भावों से रस प्राप्त करने में वह नितान्त असमर्थ रहेगा। लोल्लट के पक्षपाती यदि यह कहें कि "सामाजिक नट में ही रामादि का ज्ञान प्राप्त कर रामगत-मूल रस का आस्वादन प्राप्त कर लेते हैं" तो फिर उन्हें यह भी मान लेना होगा कि लौकिक शृङ्गार आदि को देख कर अथवा 'शृंगार' शब्द को सुन कर सामाजिकों को रस का आस्वादन प्राप्त हो सकता है।[2]

शंकुक के उपर्युक्त आक्षेपों से प्रेरणा प्राप्त कर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने नट को रसोपभोक्ता न मानने के लिए एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया है कि लोक में क्रोध, शोक आदि चित्तवृत्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास होते रहने के कारण नट के लिए—जो न तो सर्वज्ञ है, और न योगी है—यह जान सकना नितान्त असम्भव है कि राम आदि नायक में

---

१ कदाचित् विभावादिनिमित्तनाशेऽपि रसानुवृत्तिप्रसंग इति भावः। न [illegible] लौकिकस्य [illegible]।
—प्रभावली (प्रथम भाग) पृष्ठ ८०।

तदर्थं—न हि [illegible] [illegible] [illegible] संभवति।
—का प्र, ४।२ वृत्ति

२ सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च [illegible] [illegible]। [illegible] तदापत्तेः। लौकिक[illegible] [illegible]। —का प्र (प्रदीप) पृष्ठ ८१

अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक रति, शोक क्रोध आदि का अनुभव किया होगा और अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक।[1] अतः लोल्लट के मतानुसार सामाजिक के लिए नट के माध्यम से रामादि के द्वारा आस्वादित मूल रस का आस्वादन कर सकना नितान्त असम्भव है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो लोल्लट पर किए गए आक्षेपों में से एक आक्षेप है—विभाव और रस में कारणकार्यसम्बन्ध की लौकिक सीमा का उल्लंघन, और दूसरा आक्षेप है—नायक गत रसास्वाद-प्राप्ति के लिए नट रूप माध्यम की व्यर्थता। लोल्लट के पक्षपातियों के पास उक्त दोनों प्रधान आक्षेपों को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक ही प्रबल तर्क है—काव्यकृति को सर्वांश रूप में अलौकिक मानना। मूल नायक और उसके रत्यादि स्थायिभाव तो निस्सन्देह लौकिक हैं और जिन्हें काव्य-नाटकादि में वर्णित हो जाने पर क्रमशः विभाव और रस नामों से अभिहित किया जाता है; अलौकिक बन कर अब लौकिक कारण-कार्यसम्बन्ध की परिभाषा और सीमाओं के बन्धन से नितान्त विनिर्मुक्त हो जाते हैं। माना कि नट मूल रामादि नायक की चित्तवृत्तियों का चित्रण कर सकने में नितान्त असमर्थ है, पर वस्तुतः उसका सम्बन्ध तो केवल रामायणादि काव्य-नाटकगत अलौकिक नायक आदि के साथ है। अभ्यास-पटु नट नाट्य-संगीत-शास्त्रादि में निर्धारित नियमों के आधार पर काव्य-नाटकादि में चित्रित पात्रों की उन्हीं मार्मिक चित्तवृत्तियों का जो कि काव्यसौन्दर्यप्रदान की क्षमता रखती हैं सफलतापूर्वक अनुकरण करके सामाजिकों के लिए रसास्वादप्राप्ति का कारण बन जाता है। सामाजिक इस रसास्वाद को अपने परम्परागत संस्कारों की प्रबलता के कारण यदि रामायणादि काव्यों के पात्रों का रसास्वाद न समझ कर ऐतिहासिक रामादि का रसास्वाद समझने लग जाते हैं, तो इसमें बेचारे 'नट' का क्या अपराध और उसकी माध्यम रूप में स्वीकृति पर क्या आक्षेप? यही स्थिति कल्पिताख्यान-निबद्ध नाटकों पर भी घटित होती है; सामाजिक नट के अभिनय-कौशल द्वारा प्रबन्ध-गत पात्र के रसास्वाद को लोक में वर्तमान

---

1 सभ्यैरपेक्ष्यमाणा तादात्म्यसम्भावना मात्रामात्राच्च।

—का प्र (मरीचि) पृष्ठ ६१

तुलनाय—रसप्रदीप पृष्ठ २२ पंक्ति ६-७

तत्पश्चात् सामाजिक व्यक्ति का रसास्वाद समझ कर स्वयं भी वैसा ही आस्वाद प्राप्त कर लेता है।[1]

किन्तु वस्तुतः लोल्लट के पक्षपाती काव्य-नाटकादि के पात्रों को बीच में लाकर लोल्लट के विरोधियों को करारा जवाब देने का प्रयास करते करते लोल्लट-सम्मत धारणा को अन्य रूप में उपस्थित कर देते हैं। लोल्लट को नट के माध्यम से ऐतिहासिक रामादि नायक द्वारा आस्वादित रस की प्राप्ति अभीष्ट है न कि रामायणादि में कविनिर्मित रामादि द्वारा आस्वादित रस की। अस्तु। कुछ विद्वान् लोल्लट के इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' के नाम से पुकारते हैं। उनके अनुसार सामाजिक नट में मूल नायक का आरोप करके, उसे मूल नायक ही समझ कर, रसास्वादन करते हैं।[2] पर इसे 'आरोपवाद' कहना समुचित नहीं है। क्योंकि, 'आरोप' में उपमान और उपमेय दोनों का ज्ञान बराबर बना रहता है; पर लोल्लट के मत में नट को नट न समझ कर अभिनय-कौशल के बल से भ्रान्तिवश रामादि समझ लिया जाता है; अतः इस सिद्धान्त को 'भ्रान्तिवाद' कहना कहीं अधिक संगत प्रतीत होता है।

हमारे विचार में लोल्लट का सिद्धान्त इतना भ्रान्त नहीं है जितना कि बाल की खाल उतारते हुए उसके विरोधियों ने इसे ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया है। स्वयं शंकुक ने जैसा कि हम आगे देखेंगे, अपना मत अप्रत्यक्ष रूप से इसी भित्ति पर खड़ा किया है कि "जब तक सामाजिक नट को उसके अभिनय-कौशल के बल पर रामादि नहीं समझ पाता; तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।" शेष रहा सिद्धान्त का दूसरा पक्ष कि वास्तविक रामादि को रस-प्राप्ति मुख्य रूप से होती है और नट को गौण रूप से। यह पक्ष शिथिल अवश्य है पर अंशतः शिथिल है। वास्तविक नायक लौकिक था, उस का रत्यादिजन्य आनन्द अथवा शोकादिजन्य दुःख भी लौकिक था, अतः उसे शृंगार रस

---

1 रसप्रदीप—पृष्ठ ११

2 (क) 'दुष्यन्तस्य दुष्यन्तादिपत्व एव रसो रत्यादि × × × नायकर्ती नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। —रसगंगाधर पृष्ठ ११

(ख) नटे तु तत्तद्रूपतानुसन्धानबलात् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः। —का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ ६१

अथवा कल्प्य रस की संज्ञा देना शास्त्रसम्मत नहीं है। शेष रहा नट को रसास्वादप्राप्ति का प्रश्न। सफल अभिनेता तत्समय के लिए तो निश्चित ही यह भूल जाता है कि वह अभिनेता मात्र है, ठीक उसी तरह वह भी सामाजिक ही के समान रसास्वाद प्राप्त करने लग जाता है,[1] और तभी हम उसे वास्तविक रामादि समझने लगते हैं—रंगमंच की यही तो महत्ता है। इतना सब स्वीकार करते हुए भी लोल्लट के अनुसार हम रत्यादि स्थायिभाव को विभावोत्पन्न; और इस सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' के नाम से स्वीकार नहीं करते। स्थायिभाव हर व्यक्ति के हृदय में वासना रूप से सदा रहते हैं; विभावों के द्वारा उत्पन्न नहीं होते इन से आविर्भूत अवश्य हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे विचार में शंकुक की धारणा सर्वांश रूप में अमान्य, भ्रान्त अथवा निर्मूल नहीं है। इसके अतिरिक्त भरत-सूत्र के भावी व्याख्याताओं के लिए भी यह मार्ग प्रदर्शन करती है; इस दृष्टि से भी इसकी महत्ता कुछ कम नहीं है।

(२) शंकुक

भरत-सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक ने भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त का जितनी सूक्ष्मता और सतर्कता के साथ खण्डन करने के लिए महान् प्रयास किया है अपनी व्याख्या में उन्होंने उसी अनुपात से कोई विशेष नवीनता प्रस्तुत नहीं की। इनका सिद्धान्त नितान्त मौलिक न होकर लोल्लट के ही सिद्धान्त की मूल भित्ति—नट की माध्यम रूप से स्वीकृति—पर अवस्थित है। फिर भी दोनों के दृष्टिकोणों में किञ्चित् अन्तर है लोल्लट के मत में सामाजिक नट पर मूल नायकादि का 'आरोप' कर लेता है, और शंकुक के मत में वह 'अनुमान' कर लेता है। पर दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का परिणाम एक ही है—सामाजिक द्वारा उसी रस की आस्वाद-प्राप्ति जिसका आस्वादन ऐतिहासिक अथवा प्रसिद्ध कथानकों में रामादि; और काल्पनिक कथाओं में किसी भी लौकिक व्यक्ति ने प्राप्त किया होगा। लोल्लट ने इस स्वतःसिद्ध परिणाम का सम्भवतः जान बूझ कर उल्लेख न किया हो, पर शंकुक ने इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हुए इसके सर्वसम्मत मूलभूत साधन 'अनुमान' पर भी प्रकाश डाला है।

---

[1] विश्वनाथ ने रसास्वादयोग्य नट को भी 'सामाजिक' की संज्ञा दी है—काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्। —सा० द० ३।२०

शंकुक ने इस 'अनुमान' को अन्य लौकिक अनुमानों से विलक्षण माना है। अन्य अनुमानों की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशयात्मक अथवा सादृश्यात्मक होती है, पर नट को रामादि समझने का अनुमान उस प्रकार है, जिस प्रकार 'चित्र-तुरग न्याय' से चित्र पर अंकित भागता हुआ अश्व' जीवित अश्व न होता हुआ भी भागता सा प्रतीत होता है। यह अनुमान तभी सम्भव है जब नट स्वयं भी कविनिबद्धित अर्थ की गम्भीरता तक पहुँच कर अभिनय की शिक्षा और अभ्यास के बल पर मूल नायकादि का सफल अनुकरण करता हुआ अपने आप को रामादि समझने लग जाए। इस प्रकार शंकुक के सिद्धान्तानुसार भरतसूत्र-स्थित 'संयोग' शब्द विभावादि और रस के बीच लोल्लट के मतानुसार उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध का द्योतक न होकर अनुमापक-अनुमाप्य (गमक-गम्य) सम्बन्ध का द्योतक है। इस अनुमान की सिद्धि इस प्रकार होगी—रामोऽयं सीताविषयक-रतिमान्, सीताविषयककटाक्षादिमत्त्वात्।

इस प्रकार सामाजिक नट के सफल अभिनय को देखकर उसमें रामादि के रत्यादिभावों की विद्यमानता अनुमित कर लेता है। नट-सम्बन्धी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव अब उसे कृत्रिम न दिखाई देकर स्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। पर मूल समस्या अब भी शेष रह जाती है—नट के इन रत्यादिभावों से सहृदय का क्या सम्बन्ध है? उत्तर स्पष्ट है—नटगत रत्यादि स्थायिभाव अनुमित होते हुए भी रंगमंचीय सौन्दर्य के कारण इतने प्रबल होते हैं कि सहृदय इनके द्वारा स्वतः रस की चर्वणा करने लग जाता है और इस चर्वणा में सहायक होती हैं उसकी अपनी वासनाएँ अर्थात् पूर्वजन्म-संस्कार।[1] लोल्लट इस स्वतःसिद्ध धारणा के विषय में मौन रहा था पर शंकुक ने न केवल मूल विषय का स्पष्टीकरण कर दिया है अपितु भावी सुविख्यात आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा स्वीकृत रसानुभूति के मूलभूत साधन—सहृदयगत वासना का भी उल्लेख किया है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि शंकुक के सिद्धान्त के दो भाग हैं—(१) सामाजिक द्वारा नट में—उस नट में जो कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आप को भी रामादि नायक समझने लग जाता है—रामादि के रत्यादिभावों की अनुमिति, और (२) तभी सामाजिक की अपनी वासना

---

१ का० प्र० चतुर्थ उल्लास, श्री शंकुक का मत।

द्वारा उन भावों के रंगमंचीय सौन्दर्य-प्रभाव के बल पर रसानुभूति की प्राप्ति। शंकुक के परवर्ती आचार्यों ने अनुमानवाद पर अनेक आक्षेप किए। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के अनुयायियों ने, जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, 'अनुमान' को ध्वनि के अन्तर्गत माना है[1]; और इस प्रकार उन्होंने शंकुक के सिद्धान्त की जड़ काट दी है। आनन्दवर्धन से पूर्व भट्ट तौत और भट्ट नायक इस सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत कर आये थे। भट्ट तौत का प्रहार सिद्धान्त के प्रथम भाग पर था; और भट्ट नायक का दूसरे भाग पर।

भट्ट तौत के कथनानुसार यथार्थ अथवा मिथ्या भी साधन से तत्सम्बन्धी साध्य का तो अनुमान हो जाता है; पर वास्तविक साध्य के सदृश किसी अन्य साध्य का अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ, धूम अथवा कुज्झटिका से अग्नि का तो अनुमान सम्भव है, पर अग्निसदृश रक्तवर्ण जपा-कुसुमों का अनुमान हास्यास्पद है। अनुमानवाद की इस कसौटी पर शंकुक का सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। नट के कृत्रिम रत्यादि स्थायिभावों द्वारा सामाजिक को भले ही लोक में वर्तमान किसी रतिमान् व्यक्ति की अनुमिति हो जाए, पर तत्सदृश भूतकालीन 'राम' अथवा किसी अन्य व्यक्ति की अनुमिति जिसे किसी सामाजिक अथवा नट ने नहीं देखा, अनुमान का विषय नहीं है। इस प्रकार वास्तव में क्रुद्ध भी नट का क्रोध-व्यवहार समाज के किसी क्रुद्ध-प्रकृति व्यक्ति का अनुमान तो करा सकता है, पर भूतकालीन अदृष्टपूर्व भीमसेन आदि किसी क्रोधी व्यक्ति का नहीं।[2]

भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याता भट्ट नायक के कथनानुसार यदि तोष्यन्याय से सामाजिक द्वारा नट पर राम की अनुमिति स्वीकार की भी जाए, तो भी इससे सामाजिक को रसप्राप्ति होना सम्भव नहीं है। अनुमान प्रक्रिया द्वारा न राम-सीता अथवा न दुष्यन्त-शकुन्तला और न उनके

---

1 देखिए प्र० अ० पृष्ठ १७५-१७७

२. यदि वस्तुतस्तत्पूर्वं विमर्शनमिति भट्टतौतः। तथा हि × × × न हि वाष्पधूमत्वेन ज्ञातान्नीहारादग्न्यनुमानं तदनुकारत्वेन प्रतिभासमानादपि लिङ्गात् तदनुकारानुमानं युक्तम्, धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहाराद्धूमानुकारानुमानं प्रतीतिरेव। नतु भावुकोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति ॥

—अ० भा० पृ० ७१-७२; भ० ना० पृष्ठ २०१-२००

परस्परोद्दीपक व्यवहार हमारे विभाव बन सकते हैं। उनके प्रति हमारा संस्कारनिष्ठ श्रद्धाभाव हमारी रस-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होगा। सीता और शकुन्तला को अनुमान-प्रक्रिया द्वारा न तो हमारे लिए अपनी प्रेयसी के रूप में मान लेना सम्भव है, और न उन के स्थान पर हमें अपनी प्रेयसी की स्मृति हो आना सम्भव है। इसी प्रकार 'राम' सरीखे देवता अथवा महापुरुष आदि के साथ भी सामाजिकों का साधारणीकरण अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है, राम के समान समुद्रोल्लंघन जैसे असम्भव कामों को कर सकने की कल्पना तक तुच्छ सामाजिक अपने मन में नहीं ला सकता।[1] काल्पनिक कथानक-युक्त नाटकों के इहलौकिक पात्रों के साथ भी अनुमान द्वारा समानानुभूति रुचि-वैभिन्न्य के कारण सम्भव नहीं है। अतः अनुमान द्वारा रस-प्राप्ति में न तटस्थ (नट और रामादि) सहायक सिद्ध हो सकते हैं और न स्वयं सामाजिक ही स्वात्मस्थित विभावादि रस-सामग्री से इस प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं।[2]

स्पष्ट है कि अनुमानवाद पर भट्ट तौत का खण्डन मूलतः शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधृत है, और भट्ट नायक का व्यवहारमूलक तर्कों पर। ध्वनि में अनुमान के अन्तर्भूत होने की चर्चा हम पीछे यथास्थान कर आए हैं, अतः यहाँ उसकी आवृत्ति अनावश्यक है। भट्ट नायक के तर्क वस्तुतः उनके चरमसाध्य भावकत्व व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। उनके मत में सामाजिक नट को अनुमान द्वारा रामादि भले ही समझ ले पर नट के माध्यम से उसका रामादि के साथ साधारणीकरण (समानानुभूति) अनुमान द्वारा सम्भव न होकर भावकत्व व्यापार द्वारा सम्भव है, जो रसानुभूति-प्राप्ति की पूर्वावस्था है।

वस्तुतः देखा जाए तो अनुमान का विषय प्रत्यक्ष रूप से पूर्वदृष्ट घटनाओं पर अवलम्बित है। अतः सफल अभिनय को देखकर सामाजिक का नट को प्रयत्नपूर्वक राम दुष्यन्तादि के रूप में अनुमित कर

---

१ न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रोल्लंघनादेरसाधारण्यात्। —दश रूप (वृत्तिभाग) पृष्ठ ७१

२. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते।
—का० प्र० चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १

होना अनुमान का विषय नहीं है—किसी अन्य मत्यक्ष-दृष्ट व्यक्ति का अनुमान भले ही वह कर रहा हो। इस अनुमान के अतिरिक्त कभी कभी वह यह भी अनुमान लगा सकता है कि नट-नटी का रंगमंचीय जगत् से बाहर भी ऐसा ही रत्यादि-सम्बन्ध चलता होगा। स्पष्टतः ये दोनों अनुमान लौकिक हैं, और यदि शंकुक के अनुमानवाद को खींचतान कर देश-काल की परिधि से बाहर का विषय मान लें, तो सामाजिक यह भी अनुमान लगा सकता है कि इसी नट-नटी के ही समान दुष्यन्त-शकुन्तला आदि में रति-सम्बन्ध होगा; पर इससे आगे सामाजिक के रसास्वाद पर शंकुक का सिद्धान्त घटित नहीं होता। शंकुक के विरोधियों को सबसे बड़ी आपत्ति यही है। निस्सन्देह आज तक किसी भी सामाजिक ने रसानुभूति के समय निम्न अनुव्यवसाय-मूलक कथन का न तो कभी प्रयोग किया होगा और न कभी किसी के लिए कर सकना सम्भव है—'मेरा अनुमान है कि मैं स्वयं दुष्यन्त या शकुन्तला बन कर रसानुभूति को प्राप्त कर रहा हूँ'। ऐसे कथन का प्रयोक्ता निश्चित ही प्रक्षिप्त व्यक्ति समझा गया होगा, अथवा समझा जाएगा।

शंकुक का सिद्धान्त लोल्लट के सिद्धान्त से अनुप्रेरित है अतः लोल्लट के सिद्धान्त पर भट्ट नायक द्वारा प्रदर्शित उक्त त्रुटियाँ इस सिद्धान्त पर भी लागू होती हैं। किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त की अपनी विशिष्ट देन है। सामाजिक के प्रश्न को स्पष्ट रूप में उठा कर तथा सामाजिक की 'वासना' को—जो भट्ट नायक की 'भावना' और अभिनव गुप्त की 'चित्तवृत्ति' की पर्याय है—रसानुभूति का साधन मान कर शंकुक एक ओर तो लोल्लट से आगे बढ़ गए हैं, और दूसरी ओर भावी आचार्यों के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार कर गए हैं और साथ ही पूर्वापर सिद्धान्तों के बीच शृङ्खला-स्थापन भी। इसी में ही शंकुक-सिद्धान्त का महत्त्व निहित है।

३. भट्ट नायक

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक ने रसानुभूति की समस्या को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। लोल्लट का 'आरोपवाद' और शंकुक का 'अनुमानवाद' सामाजिक को नट के माध्यम से मूल नायक रामादि द्वारा अनुभूत रस की प्राप्ति कराने के पक्ष में था। पर उस में प्रमुख दो आपत्तियाँ थीं—अदृष्टपूर्व [रामादि] चरित्रों की रसानुभूति की मात्रा के सम्बन्ध में अज्ञान; और दूसरे के व्यवहारों के प्रति हमारी संस्कारनिष्ठ एवं

परम्परागत भक्ता, भूया अथवा अविवेकिता के कारण तादात्म्य-सम्बन्ध की अस्थापना। भट्ट नायक ने दोनों आपत्तियों का समाधान अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया। उनके मत में काव्य अर्थात् शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावकत्व और भोग। अभिधा व्यापार, जिस में अभिधा और लक्षणा दोनों शब्द शक्तियाँ अन्तर्भूत हैं सामाजिक का काव्यार्थ का बोध कराता है। काव्यार्थ-बोध होते ही साधारणीकरणात्मक 'भावकत्व' व्यापार द्वारा स्थायिभाव और विभावादि व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध न रह कर साधारण रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, दुष्यन्त और शकुन्तला के पारस्परिक रति-व्यवहार को रंगमंच पर अभिनीत देखकर अथवा काव्य में पढ़ कर सामाजिक को यह ज्ञान नहीं रहता कि यह व्यवहार ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला का है, अथवा रंगमंचीय नट-नटी का है उस का अपना और उसकी प्रेयसी का है, किसी 'पड़ोसी' दम्पती अथवा किसी अन्य प्रेमी-प्रेमिका का है। भावकत्व व्यापार काव्यनाटकीय उक्त व्यवहार को सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रेमी-प्रेमिकाओं के रति-व्यवहार का साधारण रूप दे देता है। परिणाम-स्वरूप अब सामाजिक को न तो दुष्यन्त-शकुन्तला के वास्तविक रतिव्यवहार के मात्रा-बोध की आवश्यकता शेष रह जाती है और न उन के प्रति परम्परागत भक्तिजन्य संस्कारों के कारण रसानुभूति की प्राप्ति में कोई अन्य बाधा रह जाती है। साधारणीकरण होते ही सामाजिक का सत्त्वगुण उस के हृदयस्थ अन्य सब प्रकार के रजोगुण और तमोगुण सम्बन्धी भावों का तिरस्कार करके स्वयं उद्रिक्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। इसी सत्त्वोद्रेक से प्रकटित आनन्दमय अनुभव को, जो तन्मयता के कारण अन्य सांसारिक भावों से शून्य अतएव अलौकिक रहता है, भट्ट नायक ने शब्द के तीसरे व्यापार 'भोग' अथवा 'भोजकत्व' नाम से पुकारा है। इसी के द्वारा सामाजिक रस का भोग अथवा आस्वादन प्राप्त करता है।[1] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के उक्त तीनों व्यापार इतनी त्वरित गति से सम्पन्न होते हैं कि काल-व्यवधान-सूचक होते हुए भी 'शतपत्रपत्रभेदनन्याय' से व्यवधान-रहित समझे जाते हैं।

अभिधा-व्यापार के द्वारा काव्यार्थ-बोध के उपरान्त भट्ट नायक का भोजकत्व (साधारणीकरण) व्यापार रसास्वादन प्रक्रिया में निस्सन्देह एक

---

१ का प्र चतुर्थ उल्लास, भट्ट नायक का मत, पृ ९

अनिवार्य कर्ता है। इसी व्यापार के ही बल पर एक ही काव्य अथवा नाटक से सभी देशों और कालों के विभिन्न वर्गों के सहृदय सामाजिक राग-द्वेष, श्रद्धा-अश्रद्धा, स्नेह-घृणा आदि द्वन्द्वों से निर्लिप्त होकर काव्य-रसास्वादन की पूर्व स्थिति तक पहुँच जाते हैं, और तभी 'भोग' व्यापार उन्हें रसास्वादन करा देता है। यह नायक को उक्त तीनों व्यापार काव्य-नाटकीय शब्द के ही अभीष्ट हैं, लोकवार्तागत शब्द के नहीं। कवि का महामहिमशाली कवित्व कर्म ही सामाजिक को साधारणीकरण की अलौकिक अवस्था तक पहुँचा देता है। तुलसी का कवित्व नास्तिकों अथवा विदेशियों के भी हृदय में, तत्क्षण के लिए ही सही, भारतीय अवतार राम के प्रति भक्तिभाव जगा देता है, भवभूति का कवित्व जननी सीता के भक्त सामाजिकों को भी एक क्षण के लिए सही सीता के सम्बन्ध में—

परिप्लुतिस्मृष्णासीदु संकाल्यक्रमनि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

—की स्मृति दिखाते दिखाते उसे साधारण कामिनी के रूप में उपस्थित कर देता है और कालिदास का कवित्व पार्वती माता के पुजारी सामाजिकों को भी पार्वती का अपूर्व यौवन-सौन्दर्य दिखाते दिखाते, कुछ क्षणों तक सही, उनके परम्परानिष्ठ भक्तिभाव को पराङ्मुखी करके उसे सामान्य सुन्दरी के स्तर पर पहुँचा देता है। और सब से बढ़कर कवि के कवित्व का ही यह प्रभाव है कि वाल्मीकि और तुलसी का काव्य एक ही दाशरथि राम के प्रति हमारे हृदय में समय समय पर भिन्न भिन्न भावों को जगा देता है। यह नायक-सम्मत भावकत्व-व्यापार के पीछे भी निस्सन्देह कवित्व-कर्म का महा महिमशाली प्रभाव झाँक रहा है; तभी उनके सिद्धान्त-वाक्य में 'काव्ये नाट्ये च' का प्रयोग हुआ है—जिन का कर्ता 'कवि' कहाता है। सम्भवतः भावकत्व-व्यापार की प्रेरणा यह नायक को भरत से मिली हो, जिन्होंने 'भाव' को कवि के अभीष्ट भावों पर आवृत स्वीकार किया है—कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७।१

रसानुभूति की समस्या को सुलझाने में यह नायक का भावकत्व व्यापार पर आश्रित साधारणीकरण नामक तत्त्व इतना सत्य चिरन्तन और मर्मस्पर्शी है कि अभिनव गुप्त जैसे तत्त्वविद् आचार्य ने न केवल इसे स्वीकार किया अपितु इसकी व्याख्या भी यथप्रमाण विभिन्न रूप में प्रस्तुत करके इस तत्त्व की अनिवार्यता घोषित कर दी।

भट्ट नायक के 'साधारणीकरण' तत्त्व से सहमत होते हुए भी अभिनव गुप्त इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों से सहमत नहीं हैं—"प्रथम तो ये दोनों व्यापार किसी अन्य शास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय किसी अन्य आचार्य द्वारा कभी भी प्रतिपादित नहीं किए गए,[1] और दूसरे भावकत्व व्यापार का ध्वनि में और भोजकत्व व्यापार का रसास्वाद में अन्तर्भाव बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। किन्तु किसी भी नवीन सिद्धान्त का केवल इसी आधार पर खण्डन करना अथवा उसे स्वसम्मत-सिद्धान्त में अन्तर्भूत करना कदापि युक्ति-संगत नहीं है कि यह आज तक पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और अनुमोदित नहीं हुआ। इसके लिए प्रबल तर्कों की अपेक्षा रहती है। अभिधा व्यापार का तो शब्द के साथ निस्सन्देह प्रत्यक्ष सम्बन्ध है; पर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों का यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं है। इन के स्वरूप में भी स्पष्ट अन्तर है—अभिधा व्यापार स्थूल और बाह्य है और शेष दोनों व्यापार सूक्ष्म और आभ्यन्तर हैं। भावकत्व व्यापार शब्द से प्रेरित न होकर विभावादि सम्पूर्ण सामग्री से प्रेरित होता है—साधारणीकरण जैसे मानसिक व्यापार को कोरे शब्द का व्यापार मान लेना मनोविज्ञान के विपरीत है। इसी प्रकार भोजकत्व व्यापार को भी, जो एक तो भावकत्व जैसे मानसिक व्यापार का अनुवर्ती है; और दूसरे सत्त्वोद्रेक जैसे उत्कृष्ट मनोव्यापार का उद्गमस्थित होने के कारण एक प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान है; स्थूल शब्द का व्यापार मान लेना असंगत है। अतः अभिनव गुप्त भावकत्व-व्यापार को ध्वनित (न कि भावित) स्वीकार करते हुए इसे भट्टनायक से पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रचारित 'ध्वनि' में अन्तर्भूत करते हैं और भोजकत्व-व्यापार को 'रसप्रतीति' में। वस्तुतः ध्वनिवादियों ने भावकत्व-व्यापार को ध्वनि के अन्तर्गत मानकर जितना अपने सिद्धान्त के प्रति पक्षपात प्रकट किया है, उतना भट्टनायक के प्रति अन्याय भी किया है। स्वयं ध्वनिवादी भी तो ध्वनि (व्यंजना) को शब्द का व्यापार स्वीकार करते हैं। भट्टनायक को निस्सन्देह 'शब्द' का केवल स्थूल रूप अभीष्ट नहीं होगा, अपितु सूक्ष्म रूप भी अवश्य अभीष्ट होगा।

---

१ एतद्व्यापारद्वयकल्पने प्रमाणाभावः।
—का प्र ४थ उ (बा बो टीका) पृ ११

४ अभिनवगुप्त

भरत-सूत्र की व्याख्या—भरत-सूत्र के चौथे व्याख्याता अभिनवगुप्त के मत में[1] भरत-सूत्र का सार रूप में अर्थ है—विभावादि और स्थायिभावों में परस्पर व्यंजक-व्यंग्य रूप संयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् विभावादि व्यंजकों के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत रूप में व्यंग्य होकर शृङ्गारादि रसों में अभिव्यक्त होते हैं; और यही कारण है कि जब तक विभावादि की अवस्थिति बनी रहती है, रसाभिव्यक्ति भी तब तक होती रहती है इसके उपरान्त नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्त के निरूपण प्रसंग में अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित तथ्यों को भी स्थान दिया है—

(१) सहृदय कहाने और रसानुभूति प्राप्त करने का अधिकारी वही सामाजिक ठहरता है, जिसमें पूर्वजन्म के संस्कारों इस जन्म के निजी अनुभवों अथवा लौकिक व्यवहारों के दर्शनाभ्यास के बल पर रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से सदा वर्तमान रहते हैं।

(२) काव्य-नाटकादि में जिन राम-सीतादि तथा उद्यान चन्द्रादि कारणों, भूविक्षेप, मुख-प्रसादनादि कार्यों तथा लज्जा हर्ष, आवेग आदि सहकारी कारणों का वर्णन किया जाता है, वे लोक में भले ही कारणादि नामों से पुकारे जाएं, पर काव्य-नाटक में अलौकिक रूप धारण कर लेने के कारण इन्हें क्रमशः विभाव अनुभाव और संचारिभाव की संज्ञा दी जाती है—(चाहें तो इन्हें अलौकिक कारणादि भी कह सकते हैं।)

(३) लौकिक कारणादि को विभावादि नामों से पुकारने का एक ही प्रमुख कारण है—लोक में इनका मूल रामादि रूप व्यक्तिविशेष से नियत सम्बन्ध रहते हुए भी काव्य-नाटकादि के प्रसंग में सहृदय-निष्ठ रत्यादि-वासना के द्वारा सर्वसाधारण के लिए प्रतीति-योग्य होना। दूसरे शब्दों में ये कारणादि अब व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध खोकर साधारण रूप से सकल सहृदय-सम्बद्ध हो जाते हैं।

विभावादि की साधारण रूप से प्रतीति की एक पहचान तो यह है कि उस समय सामाजिक इतना तन्मय आत्मविभोर और आनन्द विह्वल हो जाता है कि उसे न तो यह कहते बनता है कि ये विभावादि

[1] इस प्रकरण में अभिनवगुप्त का मत काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास (पृष्ठ ६१-६५) के आधार पर निरूपित किया गया है।

अमुक (रामादि) व्यक्ति के हैं, अथवा मेरे हैं, अथवा किसी अन्य व्यक्ति के हैं, और न यह कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक व्यक्ति के नहीं हैं, अथवा मेरे नहीं हैं, अथवा किसी भी व्यक्ति के नहीं हैं। और दूसरी पहचान यह है कि सामाजिक किसी भी अन्य ज्ञान के सम्पर्क से शून्य हो जाता है। बस, इन्हीं अवस्थाओं के द्योतक साधारणीकरण के होते ही सामाजिक को रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

वस्तुतः अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्ट नायक के भुक्तिवाद का ही ध्वनि-सिद्धान्त में ढाला हुआ रूपान्तर मात्र है। भट्ट नायक-सम्मत अभिधा व्यापार के अन्तर्भूत अभिधा और लक्षणा नामक दोनों शब्दव्यापारों को ध्वनिवादी भी स्वीकृत करते हैं। भट्ट नायक-सम्मत भावकत्व नाम से न सही पर इसके साधारणीकरणात्मक स्वरूप से अभिनवगुप्त पूर्णतः सहमत हैं। भट्ट नायक का 'भोजकत्व' अभिनवगुप्त के मत में 'रसाभिव्यक्ति' नाम से अभिहित हुआ है। रस को 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य' मानने के लिए अभिनवगुप्त को भट्ट नायक के 'सत्त्वोद्रेक' तत्त्व से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है क्योंकि सत्त्व के उद्रेक का सहज परिणाम है मन की समाहिति और मन की समाहिति ही एक प्रकार से वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यता है। शेष रहा अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत स्थायिभावों की सामाजिक के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थिति का प्रश्न। इस ओर भट्ट नायक ने तो निस्सन्देह कोई संकेत नहीं किया पर इस ओर शंकुक पहले स्पष्ट शब्दों में ही संकेत कर चुके थे। सम्भवतः भट्ट नायक ने स्थायिभाव को भरत-सूत्र में स्थान न मिलने के कारण सामाजिक के अन्तःकरण में स्थित स्थायिभावों की ओर जानबूझ कर कोई संकेत न किया हो; अथवा भरत के समय से ही प्रचलित स्थायिभावों की सामाजिक के अन्तःकरण में अवस्थिति को निर्विवाद और स्वतःसिद्ध मान कर इस ओर संकेत करने की कोई आवश्यकता ही न समझी हो पर सामाजिक के लिए साधारणीकरण जैसे मनोवैज्ञानिक तत्त्व को स्वीकृत करने वाले भट्ट नायक को सहृदयगत स्थायिभाव की स्थिति अवश्य मान्य होगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। हाँ अभिनवगुप्त का श्रेय विषय को स्पष्टतापूर्वक सुलझाने में अवश्य निहित है। इनके मत में शृंगारादि रस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु सामाजिक के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत विभावादि के द्वारा व्यंजित होकर शृंगारादि रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं—और लगभग इसी तथ्य को भरतसूत्र के प्रथम

व्याख्याता भट्ट लोल्लट ने प्रकारान्तर से इन शब्दों में प्रकट किया था—स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस'। स्थायी (भाव) त्वनुपचितः। (अ भा० पृष्ठ २७२)।

रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध—अभिनवगुप्त और उसके अनुयायियों के मत में सहृदय के अन्तःकरण में रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से उस प्रकार छन्न विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध; और जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाता है उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से व्यक्त (चर्वित) होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं।[1] एक अन्य लौकिक उदाहरण से यह सिद्धान्त और अधिक स्पष्ट हो जाएगा—जिस प्रकार जामन (मट्ठे आदि) के संयोग से दूध 'दही' के रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार विभावादि के संयोग से स्थायिभाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर रस' नाम से अभिहित होते हैं। दूसरे शब्दों में अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रत्यादि तभी तक स्थायिभाव कहे जाते हैं, जब तक वे विभावादि द्वारा चर्व्यमाण अवस्था तक नहीं पहुँच पाते। इसी अवस्था को पहुँचते ही उनका नाम 'रस' हो जाता है, अब वे स्थायिभाव नहीं कहाते। स्पष्ट है कि स्थायिभाव तो पूर्वसिद्ध हैं, पर रस पूर्वसिद्ध नहीं है। अतः स्थायिभावों की रस रूप में अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं मानी जाती, जिस प्रकार अन्धकारस्थ पूर्व विद्यमान घट दीपप्रकाश के द्वारा घट रूप में प्रकट होता है।[2] अन्धकारस्थ और प्रकाशस्थ दोनों ही घट एक हैं, पर वासना रूप में स्थित स्थायिभाव और चर्व्यमाणावस्थापन्न स्थायिभाव दोनों अलग अलग हैं। पहले का नाम स्थायिभाव है और दूसरे का नाम रस।

रस का विभावादि के साथ सम्बन्ध—इस सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) रस की प्रतीति तभी तक रहती है जब तक विभावादि की प्रतीति रहती है। दूसरे शब्दों में विभावादि और रस की प्रतीति में कारण

---

१ का प्र ४।२८

२ व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। सा द ३।१ (वृत्ति)

कार्यरूप पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है, अपितु दोनों प्रतीतियों का एकत्र और समकालीन अवस्थान है । अतः काव्यशास्त्र की भाषा में रस को 'समूहालम्बनात्मक'[1] और 'विभावादिजीवितावधि'[2] माना गया है ।

(२) रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव खण्डशः एक-एक करके प्रतीत होते हैं (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डशः प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नहीं होती)- पर रस-प्रतीति में ये तीनों अखण्ड एवं संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं; तभी रस को भी अखण्ड माना गया है ।[3] और यही कारण है कि रसचर्वणा में विभावादि में से किसी एक की स्वाधिक अथवा स्वातिरेकद्योतक रूप में प्रतीति नहीं मानी गई— प्रपानक रसन्याय से तीनों की संश्लिष्ट अतएव विचित्र और अवर्णनीय प्रतीति हो रही होती है ।[4]

(३) इसके अतिरिक्त रस प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं । यही कारण है कि किसी रचना में विभावादि में से केवल किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों का समान रूप से आक्षेप द्वारा रसप्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नहीं ।[5]

(४) लौकिक कारण कार्य और सहकारिकारणों को काव्य-नाट्य के अन्तर्गत क्रमशः विभाव अनुभाव और सञ्चारिभाव के नाम से भी तभी पुकारा जाता है जब ये व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर साधारणीकरण व्यापार द्वारा सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप प्राप्त कर लेते हैं ।[6] अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियों के मत में उन्हें यह रूप व्यंजना-वृत्ति के द्वारा प्राप्त होता है ।

---

१ यस्मादेव विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ।
तस्मान्न कार्यः × × × ॥ सा द ३।२१

२ का प्र पृष्ठ ६६

३ विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥ सा द पृष्ठ ६०

४ सा द ३।१६

५ यद्यपि विभावानामनुभावानां × × × व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ॥ —का प्र पृष्ठ ६८

६ का प्र० पृष्ठ ६१ ११

निष्कर्ष यह कि लौकिक कारणादि काव्य-नाटक में व्यंजना वृत्ति के बल पर विभावादि नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायिभावों को जब चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते हैं तो इन्हें 'रस' नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि विभावादि के संयोग द्वारा निष्पत्ति तो चर्वणा की होती है पर 'चर्वणा' को ही 'रस' का अपर पर्याय मान लेने पर विभावादि के संयोग द्वारा रस की भी निष्पत्ति गौण रूप से मान ली जाती है।[1] और यही कारण है कि विभावादि और चर्वणा में कारणकार्य सम्बन्ध की स्वतःसिद्ध स्वीकृति के साथ-साथ विभावादि और रस में भी कारणकार्य-सम्बन्ध की गौण रूप से स्वीकृति कर ली जाती है पर वस्तुतः विभावादि और रस में समूहालम्बनात्मक रूप सम्बन्ध होने के कारण विभावादि को 'कारण और रस को कार्य' नहीं माना जा सकता।[2]

रस का स्वरूप—किसी भी भावप्रधान और चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ का स्वरूप संयत, नियत और संक्षिप्त शब्दों में निर्धारित कर सकना न केवल कठिन है, अपितु नितान्त असम्भव है। ऐसे स्थलों में एक तो व्याख्यात्मक रूप को अपनाना पड़ता है; और दूसरे 'नेति-नेति प्रक्रिया' को। पर फिर भी जब स्वरूप की इयत्ता-मात्र के सम्बन्ध में आशंका तथा और अधिक ज्ञानप्राप्ति की जिज्ञासा बनी रहती है तो आप्त पुरुषों के अनुभव को साक्षी रूप में उपस्थित करके कुछ सीमा तक इसे शान्त कर दिया जाता है। ठीक यही स्थिति रसस्वरूप-निर्धारण के विषय में भी है इसे नपे तुले शब्दों में प्रस्तुत कर सकना आलंकारिकों के लिए नितान्त असम्भव सा हो गया।

आलंकारिकों ने रस को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदर, अखण्ड चिन्मय स्वप्रकाश और अलौकिक माना है।[3]

रसास्वादन के समय सहृदय का सत्त्वगुण अन्य दो गुणों—रजस् और तमस्—का आच्छादन कर लेता है यही कारण है कि उस समय किसी भी अन्य विषय का ध्यान तक पास नहीं फटकने पाता। यौगिक क्षेत्र में जिस प्रकार कोई विरला महान् समाधिस्थ योगी ब्रह्मास्वाद—ब्रह्मप्राप्ति रूपी

---

1 चर्वणाभिव्यक्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्।

—का० प्र० ४।८

२. सा द ३।२१ ३. सा द० ३।२,३

आनन्द—को प्राप्त करता है, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी कोई पुण्यवान् सहृदय लगभग वैसा ही आनन्द प्राप्त करता है।

रस अखण्ड चिन्मय और स्वप्रकाश है। रसास्वादन के लिए यद्यपि रत्यादि और विभावादि की सहायता की अपेक्षा रहती है, अतः विभिन्न विषयों से निर्मित होने के कारण रस को 'अखण्ड' मानने पर आपत्ति की जा सकती है, पर वस्तुतः रस रत्यादि और विभावादि से अलग और कुछ भी नहीं है; रत्यादि और विभावादि के ज्ञान से यह नितान्त अभिन्न है।[1] इनके समूहालम्बनात्मक ज्ञान का नाम ही तो रस है,[2] अतः अपने ही अंशों से निर्मित पदार्थ को 'अखंड' ही मानना चाहिए। रस स्वयं चिन्मय अर्थात् आत्मस्वरूप ज्ञान है यह ज्ञाप्य नहीं है। पर स्वयं ज्ञान होते हुए भी यह किसी ज्ञापक की अपेक्षा नहीं रखता—भला सूर्य को भी कभी अपने आपको प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता रही है—तभी रस को 'स्वप्रकाश' तथा 'स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि गोचरीकृतः' कहा गया है।[3]

लौकिक पदार्थों अथवा विषयों की परिधियों में बद्ध न हो सकने के कारण रस अलौकिक है। उदाहरणार्थ कतिपय परिधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१)

लौकिक पदार्थ कार्य और ज्ञाप्य होते हैं। उदाहरणार्थ कुलाल चक्रादि 'घट' के कारक हेतु हैं और 'दीप' अन्धकारस्थ 'घट' का ज्ञापक हेतु है। अतः घट कार्य भी है, और ज्ञाप्य भी। पर रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है। क्योंकि कुलाल-चक्रादि के विनष्ट होने पर भी घट की स्थिति बनी रहती है, किन्तु इधर रस विभावादि-जीवितावधि है—विभावादि के समूह पर ही इसकी स्थिति अवलम्बित है, इनके अभाव में रस की सत्ता ही सम्भव नहीं है। अतः यह कार्य नहीं है। यह ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि लौकिक ज्ञाप्य पदार्थ कभी कभी विद्यमान होते हुए भी प्रतीत नहीं होते जैसे अन्धकारस्थ घट, अथवा पृथ्वी में गड़ा हुआ धन; पर रस की विद्यमानता होने पर इसकी प्रतीति अवश्यम्भावी है।[4]

१, २ सा० द० ३।२८ वृ०   ३. सा० द० ३।२ वृत्ति पृष्ठ ४१

४ (क) स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्।—का० प्र० पृष्ठ ९७

(ख) सा० द० ३।२ वृ०

(२)

लौकिक पदार्थ वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत्कालीन होते हैं, पर रस साक्षात् आनन्दमय और प्रकाशरूप होने के कारण न भूत है और न भविष्यत् है। यह वर्तमान भी नहीं है। क्योंकि वर्तमान लौकिक पदार्थ कार्य अथवा ज्ञाप्य होते हैं; पर इधर रस के कार्य अथवा ज्ञाप्य न होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने इसे वर्तमान भी नहीं माना।[1] रस नित्य भी नहीं है, क्योंकि विभावादि के ज्ञान से पूर्व इसकी सत्ता ही सम्भव नहीं है।[2]

३

रस लौकिक विषयों के समान न तो परोक्ष ज्ञान है और न अपरोक्ष ज्ञान है। क्योंकि साक्षात् आनन्द का विषय होने के कारण इसे परोक्ष नहीं कह सकते हैं; और शब्द का विषय होने (दूसरे शब्दों में चाक्षुष विषय न होने) के कारण इसे अपरोक्ष नहीं कह सकते।[3]

(४)

रस न निर्विकल्पक ज्ञान है, और न सविकल्पक।[4] निर्विकल्पक ज्ञान किसी भी प्रकार की विशिष्टता की अपेक्षा नहीं रखता—घट के 'घटत्व' को जानने से पूर्व 'यह कुछ है' केवल इतना ही मात्र ज्ञान निर्विकल्पक कहाता है; पर रस विभावादि के बोध से सम्बद्ध भी है और परम आनन्दमय भी है—उसकी यह विशिष्टताएं उसके निर्विकल्पक ज्ञान होने में बाधक हैं। सविकल्पक ज्ञान शब्द का विषय होता है। उदाहरणार्थ घट, पट आदि पदार्थों का बोध इन्हीं शब्दों से हो जाता है। पर 'रस' शब्द कहने मात्र से रस का बोध नहीं होता। रस अनुभूति का विषय है तभी रस को वाच्य न मानकर व्यंग्य माना गया है। अतः रस सविकल्पक ज्ञान भी नहीं है।

पर सत्य तो यह है कि रस का इतना विशद, व्याख्यात्मक और नकारात्मक स्वरूप प्रस्तुत करके भी काव्यशास्त्रियों की इसके स्वरूप के विषय में जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और तभी उन्होंने इसे 'अनिर्वचनीय' कह कर प्रकारान्तर से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है। पर हाँ, 'रस

१, २ सा० द० ३। २२, २३; २१; २५

३ सा० द० ३।२२ २३; २१; २५

४ का० प्र० पृष्ठ ४७; सा० द० ३।२२ २५

नाम का कोई ज्ञान है अवश्य, और इसका प्रबल प्रमाण है—सहृदयों का चर्वणा-व्यापार, जो रस से अभिन्न होने के कारण रस का अपर पर्याय है।[1]

अलंकार-सम्प्रदाय और रस

अलंकारवादी आचार्य—अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख दो स्तम्भ हैं—भामह और दण्डी। इन आचार्यों ने रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस भाव आदि को रसवत् आदि अलंकारों के अन्तर्गत सम्मिलित कर अलंकार-सम्प्रदाय की पुष्टि की है। उद्भट भी निस्सन्देह अलंकारवादी आचार्य रहा होगा—अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में भामह द्वारा निरूपित सभी अलंकारों का लगभग भामह-सम्मत निरूपण सरल शैली में प्रस्तुत कर उन्होंने अलंकारवादी आचार्य भामह का अनुकरण करते हुए प्रकारान्तर से अलंकारवाद का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त इनका 'भामह-विवरण' नामक विख्यात [पर अप्राप्य] ग्रन्थ तो इन्हें भामह का अनुयायी सिद्ध करता ही है।

रुद्रट की स्थिति उपर्युक्त तीनों आचार्यों से विभिन्न है। वह एक ओर भामह आदि के अलंकार-सम्प्रदाय और दूसरी ओर भावी आचार्यों—आनन्दवर्धन आदि के रसध्वनि-सम्प्रदाय से प्रभावित है। निस्सन्देह उसका झुकाव रस-सम्प्रदाय की ओर अधिक है। यही कारण है कि एक ओर तो उसने रसवत् आदि अलंकारों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया और दूसरी ओर रसवादियों के समान रस की महत्ता स्वीकार करते हुए उसका पूरे चार (१२-१५) अध्यायों में विशद रूप से निरूपण किया है।

अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्त्व-स्वीकृति—भामह और दण्डी ने रस का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। दोनों आचार्यों ने रस को महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्त्व ठहराया है।[2] भामह के कथनानुसार नीरस और शुष्क भी शास्त्रीय चर्चा रस-संयुक्तता के ही कारण उस प्रकार सरल ग्राह्य बन जाती है, जिस प्रकार मधु अथवा शर्करा से आवेष्टित[3]

१ प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ सा० द० ३।२६

२ (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥ का० अ० १।२१

(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव-निरन्तरम् ॥ का० द० १।१८

३. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ का० अ० ५।३

कतु अोपधि । दण्डी ने स्वसम्मत वैदर्भ-मार्ग के प्राण-स्वरूप[1] गुणों में से माधुर्य गुण के दोनों रूपों—वाक्गत और वस्तु-गत—को रस पर ही अवलम्बित माना है। उनके शब्दों में माधुर्य गुण की मधु के समान रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[2] वाक्गत माधुर्य का अपर नाम श्रुत्यनुप्रास है[3] और वस्तुगत माधुर्य का अपर नाम अग्राम्यता है। 'अग्राम्यता' ही काव्य में रस-सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार (गुण) है।[4] दण्डी ने अग्राम्यता के दोनों उपरूपों—शब्दगत और अर्थगत, (विशेषत अर्थगत)—को भी रस पर ही अवलम्बित माना है।[5]

इस प्रकार अलंकारवादी भामह और दण्डी ने रस के प्रति समुचित समादर-भाव प्रकट किया है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। दोनों आचार्यों (विशेषतः दण्डी) का कविहृदय 'रस' के प्रति आकृष्ट होकर उसका गुण-गान करने को बाध्य हो गया हो। अथवा भरत के समय से (लगभग पिछले छः सात सौ वर्षों से) लेकर भामह और दण्डी के समय तक चला आ रहा रस-सम्प्रदाय का अक्षुण्ण प्रभाव अलंकार सम्प्रदाय के कट्टर पक्षपातियों को कुछ सीमा तक सही प्रभावित करने से विरत न हो सका हो। रुद्रट का झुकाव रससम्प्रदाय की ओर अधिक है—यह हम पीछे कह आए हैं। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।[6] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी आदि रीतियों और मधुरा, ललिता नामक वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग की ओर निर्देश किया है;[7] शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया

---

१ का० द० १।४२; विशेष विवरण के लिए देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध गुण-प्रकरण।

२. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १।५१

३ का० द० १।५२

४ कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १।६२

५. अग्राम्योऽर्थो रसावहः, शब्देऽपि ग्राम्यताऽस्त्येव।
का० द० १।६४-६५

६ का० अ० १६।१५ ७ का० अ० १२।३७; १५।२०

है;[1] और शृंगार रस का माहात्म्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है।[2] इन्होंने रस के ही आधार पर काव्य और शास्त्र में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी है—काव्य में रस के लिए कवि को महान् प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वह [नीरस] शास्त्र के समान उद्वेजक रह जाएगा।[3] रस के औचित्य पूर्ण प्रयोग करने पर भी रुद्रट ने बल दिया है। उनके कथनानुसार प्रसंगानुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का अनुचित प्रयोग अथवा प्रसंगानुकूल भी रस का निरन्तर (सीमातिरिक्त) प्रयोग 'विरसता' नामक दोष कहाता है।[4] स्पष्ट है कि रुद्रट का उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादियों के ही अनुकूल है।

अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अन्तर्भाव—भामह, दण्डी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलङ्कारों के नाम से अभिहित किया है तथा उद्भट ने 'समाहित नामक अन्य अलंकार को भावशान्ति का पर्याय माना है। भामह और दण्डी ने भी 'समाहित' अलंकार का निरूपण किया है, पर उसका सम्बन्ध रस' के साथ खींचतान कर ही स्थापित किया जा सकता है।

यद्यपि दण्डी को भामह से और उद्भट को भामह और दण्डी से इस विषय को प्रस्तुत करने में प्रेरणा मिली है पर उदाहरणों की दृष्टि से दण्डी और उद्भट का यह निरूपण क्रमशः उत्तरोत्तर श्लाघ्य है; और परिभाषाओं की दृष्टि से उद्भट इन सबसे आगे बढ़ गए हैं। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषाएँ विषय को अत्यन्त स्पष्ट और विकसित रूप में प्रस्तुत करती हैं।

रसवत् अलंकार की परिभाषा दण्डी के शब्दों में अत्यन्त सीधी-सादी और संक्षिप्त है—रसवद् रसपेशलम्। (का० आ० २।२७५)। उद्भट ने भामह के ही शब्दों को अपनाते हुए उसमें रस के अवयव-भूत [illegible] साधनों की ओर भी निर्देश कर दिया है—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ का सा० ५०४।३

इन पाँच साधनों में से स्थायी, संचारी और विभाव तो रसतन्त्रकार द्वारा स्वीकृत हैं, 'अभिनय' भरत-सम्मत आंगिकादि चार प्रकार के अभिनयों का पर्याय है। इस साधन की परिगणना से प्रतीत होता है कि उद्भट को या तो भरत के अनुसार केवल नाटक को ही रस का विषय मानना अभीष्ट है, काव्य के अन्य अंगों को नहीं; या फिर उद्भट के समय तक केवल नाटक को ही रस का विषय माना जाता रहा होगा। पाँचवा साधन है—'स्वशब्द'। प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है शृङ्गारादि रसों, रत्यादि स्थायिभावों और औत्सुक्यादि संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता।[1] स्वयं उद्भट ने रसवत् अलंकार के उदाहरण में स्थायिभाव वाची कन्दर्प (रति) और संचारिभाववाची औत्सुक्य, चिन्ता तथा प्रमोद (हर्ष) शब्दों का प्रयोग किया है।[2] रस के उदाहरणों में 'स्वशब्दवाच्यता' की यह शर्त उद्भट के समय में सम्भवतः अनिवार्य रही होगी जिसका कि आगामी आचार्यों को खण्डन करके इसे रस-दोष मानना पड़ा होगा।[3]

प्रेयः (प्रेयस्वत्) की परिभाषा भामह ने प्रस्तुत नहीं की। दण्डी-प्रस्तुत परिभाषा 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' (का आ २।२७५) को रसध्वनिवादियों द्वारा सम्मत 'भाव' के निकट खींचतान कर लाया जा सकता है। उद्भट की परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट और विषयानुकूल है—अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि स्थायिभावों का काव्य में कथन प्रेयस्वत् का विषय है।[4] दूसरे शब्दों में यह काव्य जिसमें स्थायिभावों को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया प्रेयस्वत् अलंकार कहाता है। निस्सन्देह रस-ध्वनिवादियों को ऐसे काव्य में ही 'भाव' की विद्यमानता अभीष्ट है, पर वहीं जहाँ 'भाव' अंगीभूत रूप में वर्णित न होकर अंगभूत रूप में वर्णित किया जाए।

ऊर्जस्वि अलंकार के भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से

1, 2 का सा सं (टीकाभाग) पृष्ठ ५३

3. का प्र० ७।६

4 रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ का सा सं ४।२

है;[1] और शृंगार रस का माहात्म्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है।[2] इन्होंने रस के ही आधार पर काव्य और शास्त्र में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी है—काव्य में रस के लिए कवि को महान् प्रयत्न करना चाहिए; अन्यथा वह [नीरस] शास्त्र के समान उद्वेजक रह जाएगा।[3] रस के औचित्य पूर्ण प्रयोग करने पर भी रुद्रट ने बल दिया है। उनके कथनानुसार प्रसंगा नुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का अनुचित प्रयोग अथवा प्रसंगानुकूल भी रस का निरन्तर (सीमातिशय) प्रयोग 'विरसता' नामक दोष कहाता है।[4] स्पष्ट है कि रुद्रट का उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादियों के ही अनुकूल है।

अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अन्तर्भाव—भामह, दण्डी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकारों के नाम से अभिहित किया है तथा उद्भट ने 'समाहित' नामक अन्य अलंकार को भावशान्ति का पर्याय माना है। भामह और दण्डी ने भी 'समाहित' अलंकार का निरूपण किया है, पर उसका सम्बन्ध 'रस' के साथ खींचतान कर ही स्थापित किया जा सकता है।

यद्यपि दण्डी को भामह से और उद्भट को भामह और दण्डी से इस विषय को प्रस्तुत करने में प्रेरणा मिली है पर उदाहरणों की दृष्टि से दण्डी और उद्भट का यह निरूपण क्रमशः उत्तरोत्तर प्रशस्त है; और परिभाषाओं की दृष्टि से उद्भट इन सबसे आगे बढ़ गए हैं। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषाएँ विषय को अत्यन्त स्पष्ट और विकसित रूप में प्रस्तुत करती हैं।

रसवत् अलंकार की परिभाषा दण्डी के शब्दों में अत्यन्त सीधी-सादी और संक्षिप्त है—रसवद् रसपेशलम्। (का० आ० २।२७५)। उद्भट ने भामह के ही शब्दों को अपनाते हुए उसमें रस के अवयव-भूत पाँच तत्त्वों की ओर भी निर्देश कर दिया है—

---

1 का० अ० १२वाँ १३वाँ अध्याय 2 का० अ० १४।३८

3 तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्॥ का० अ० १२।२

4 का० अ० ११।१२, १४

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम् ।

स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ का सा० ६०४।३

इन पाँच साधनों में से स्थायी, संचारी और विभाव तो रसतम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत हैं, 'अभिनय' भरत-सम्मत आंगिकादि चार प्रकार के अभिनयों का पर्याय है। इस साधन की परिगणना से प्रतीत होता है कि उद्भट को या तो भरत के अनुसार केवल नाटक को ही रस का विषय मानना अभीष्ट है, काव्य के अन्य ग्रंथों को नहीं या फिर उद्भट के समय तक केवल नाटक को ही रस का विषय माना जाता रहा होगा। पाँचवा साधन है—'स्वशब्द'। प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है शृङ्गारादि रसों, रत्यादि स्थायिभावों और औत्सुक्यादि संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता।[1] स्वयं उद्भट ने रसवत् अलंकार के उदाहरण में स्थायिभाव वाची कन्दर्प (रति) और संचारिभाववाची औत्सुक्य चिन्ता तथा प्रमोद (हर्ष) शब्दों का प्रयोग किया है।[2] रस के उदाहरणों में 'स्वशब्दवाच्यता' की यह शर्त उद्भट के समय में सम्भवतः अनिवार्य रही होगी, जिसका कि आगामी आचार्यों को खण्डन करके इसे रस-दोष मानना पड़ा होगा।[3]

प्रेय (प्रेयस्वत्) की परिभाषा भामह ने प्रस्तुत नहीं की। दण्डी-प्रस्तुत परिभाषा 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' (का आ २।२७५) को रसध्वनिवादियों द्वारा सम्मत 'भाव' के निकट खींचतान कर लाया जा सकता है। उद्भट की परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट और विषयानुकूल है—अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि स्थायिभावों का काव्य में बन्धन प्रेयस्वत् का विषय है।[4] दूसरे शब्दों में, वह काव्य जिसमें स्थायिभावों को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया प्रेयस्वत् अलंकार कहाता है। निस्सन्देह रस-ध्वनिवादियों को ऐसे काव्य में ही 'भाव' की विद्यमानता अभीष्ट है पर वहीं जहाँ 'भाव' अंगीभूत रूप में वर्णित न होकर अंगभूत रूप में वर्णित किया जाए।

ऊर्जस्वि अलंकार के भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से

1, 2. का सा सं० (टीकाभाग) पृष्ठ ५३
3. का प्र० ७।६०
4. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
   यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥ का सा० सं ४।२

प्रकट होता है कि इस अलंकार का सम्बन्ध केवल ऊर्जस्वि वचनों के कथन से है; रस और भाव सम्बन्धी किसी अनौचित्य से नहीं है।[1] दण्डि-प्रस्तुत परिभाषा—"ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्" (का द० २।२७५) भी ऊर्जस्वि के वास्तविक स्वरूप—रस-भावाभासत्व—को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करती। पर उद्भट ऊर्जस्वि के इस रूप को अपनी परिभाषा और उदाहरण दोनों में निस्सन्देह स्पष्ट कर गए हैं—काम, क्रोध आदि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप से प्रवर्तन ऊर्जस्वि अलंकार का विषय है।[2] उदाहरणार्थ—शिव जी के काम का वेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़ कर पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए।[3] उद्भट की यह परिभाषा रसध्वनिवादियों द्वारा सम्मत परिभाषा से मेल खाती है। अन्तर इतना है कि रसध्वनिवादी अंगभूत रसाभास-भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं और उद्भट अंगीभूत रसाभास-भावाभास को। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह और दण्डी के समय में ऊर्जस्वि अलंकार का जो स्वरूप था, वह उद्भट के समय तक आते आते रसध्वनिवादियों के उदीयमान प्रभाव के कारण बदल गया।

समाहित की परिभाषा में उद्भट ने रस भाव रसाभास और भावाभास की शान्ति को—इतनी अधिक शान्ति कि जिसमें (समाधि अवस्था के समान) अन्य किसी रस, रसाभास आदि के अनुभावों की प्रतीति न हो— इस अलंकार का विषय माना है।[4] रसध्वनिवादी आचार्यों और उद्भट की धारणा में यहाँ भी वही प्रधान अन्तर है, जिसका पीछे प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकार के निरूपण में उल्लेख किया जा चुका है। समाहित का अर्थ है एक भाव का परिहार अथवा शान्ति। समाधि और समाहित शब्दों में प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है

---

१ का० भ० ३।७; का० आ० २।२८१-२८५
२ अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ का० सा० सं० ४।५
३ तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्॥ का० सा० सं० वृत्ति ५४
४ रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत् समाहितम्॥ का० सा० सं० ४।७

कि भामह और विशेषतः दण्डी द्वारा प्रस्तुत समाहित अलंकार का उदाहरण तथा रुद्रट-सम्मत इस अलंकार का लक्षण भी रसध्वनि-वादी मम्मट के समाहित अलंकार का ही रूप प्रस्तुत करता है।[1] यदि अलंकार वादी आचार्य उद्भट ने इस अलंकार के निरूपण में भी भामह और दण्डी का अनुकरण न करके रसध्वनिवादियों का ही अनुकरण किया है, तो इसका श्रेय रस-सम्प्रदाय के वर्धमान प्रभाव को ही मिलना चाहिए।

इसी सम्बन्ध में उद्भट-प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद भी अपेक्षणीय है, जिसमें उन्होंने और उनके ग्रन्थ के व्याख्याता प्रतिहारेन्दुराज ने अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।[2] उनके इस कथन का अनुमोदन आगे चल कर अलंकार-सर्वस्व के प्रणेता रुय्यक ने भी किया है—

यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः, तदंगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः।

—अलं॰ सर्व॰ पृष्ठ २११

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्य—

(१) अंगीभूत रस, भाव रसाभास-भावाभास और भावशान्ति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वद्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं, और

(२) अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से।

रसवादियों द्वारा अलंकारवादियों का खण्डन—अलंकारवादी आचार्यों का दृष्टिकोण रसध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से नितान्त

---

१ का अ ३।१ का भा २।१६८ २६६; का प्र १०।११२ (सूत्र), ७६९ (पद्य संख्या)

२. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥

× × × × यत्र च रसास्तात्पर्येणाप्रकाशमानास्तत्र तेषां × × × रसवदलंकारो भवति। तेन 'उदात्त च यथा ओजे' इत्याद्युदात्तालंकारोदाहरणे कृतेऽस्य रसवदलंकारस्यापि। उपलक्षणतां प्राप्तमिति। का सा सं ४।८ (वृत्ति)

सिद्ध है। अलंकारवादियों के मत में काव्य के सभी अंग—गुण, रीति, वृत्ति रस आदि—उसके शोभाकारक धर्म हैं, और ये धर्म अलंकार नाम से अभिहित होते हैं। सम्भवतः इनसे प्रभावित होकर रीतिवादी वामन ने अलंकार को न केवल सौन्दर्यजनक धर्म कहा, अपितु 'सौन्दर्य' को ही अलंकार की संज्ञा दी। निष्कर्ष यह कि अलंकारवादी 'अलंकार' को काव्य का 'सर्वस्व' मानते हैं। पर इधर रसवादी इसे सौन्दर्योत्पादन का साधन-मात्र मानते हैं। इनके मत में इसका साध्य रस है। सौन्दर्य-वर्धन की प्रक्रिया इस प्रकार है—अलंकार प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हुए भी मूलतः रसरूप आत्मा का ही उपकार (शोभावर्धन) करते हैं। किन्तु यह नितान्त आवश्यक नहीं कि ये सदा ही इसका उपकार करें कभी नहीं भी करते। दृष्टिकोण की यही विभिन्नता ही रस को एक ओर गौण स्थान और दूसरी ओर प्रधान स्थान देने का प्रमुख कारण है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवदादि अलंकारों और रस, रसाभास आदि के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी लागू होता है। रसवादी रस, भाव रसाभास-भावाभास और भावशान्ति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित करते हैं, जब वे अंगी (प्रधान) रूप से वर्णित न हो कर अंग (गौण) रूप से वर्णित किए गए हों—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ ध्व० २।५

यही कारण है कि प्रायः सभी रसवादी आचार्य इन्हें गुणीभूतव्यंग्य के 'अपरस्यांग' नामक भेद के अन्तर्गत निरूपित करते हैं, न कि अनुप्रास उपमादि चित्रालंकारों के साथ। ध्वनिवादियों द्वारा अंगभूत रसादि को रसवदादि अलंकारों में अन्तर्भूत कर लेने पर उद्भट-सम्मत द्वितीय उदात्तालंकार सम्बन्धी धारणा भी स्वतः ही अमान्य सिद्ध हो जाती है—रसादीनामङ्गत्वे रसवदाद्यलंकारः अंगत्वे तु द्वितीयोदात्तालंकारः—इत्यपि परास्तम्। सा० द० १ ।१० (वृत्ति)

रसवादी आचार्य अलंकारवादियों की इस धारणा से किसी भी स्थिति में सहमत नहीं हैं कि अंगीभूत रसादि को अलंकारों के अन्तर्गत माना जाए। इनके मत में रसादि अलंकार्य हैं और उपमादि अलंकार। अलंकार का काम है अलंकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाए, तो फिर वह किस के चारुत्व को बढ़ाते हैं।

भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्व-हेतु हो सकता है—

यत्र च रसस्य वाच्यवाचकभावस्तत्र कथमलंकारत्वम्। अलंकारो हि चारुत्वहेतुःप्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। ध्व० २।५ (वृत्ति)।

अतः अलंकार्य तो अलंकार से सदा ही विभिन्न रहेगा।[1]

कुन्तक द्वारा अलंकारवादियों का खण्डन—रसवादियों की उपर्युक्त धारणा से वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी पूर्ण रूप से सहमत हैं। भामह, दण्डी और उद्भट के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए रसवादियों के समान उन्होंने भी रसादि को अलंकार का विषय नहीं माना। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किए हैं—

पहला तर्क यह कि रस अलंकार्य है। उसे रसवदादि अलंकार मान लेने पर अपने में ही क्रिया का विरोध हो जायगा—अलंकार्य अपना अलंकरण क्या करेगा? क्या कभी कोई अपने कन्धे पर स्वयं भी चढ़ सकता है।[2] वस्तुतः रस से अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य (अलंकार आदि) तत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकती फिर उसे अलंकार कैसे मान लिया जाए?

इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क यह है कि 'रसवदलंकार' इस पद के शब्दार्थ की संगति नहीं बैठती। इस पद के दो विग्रह सम्भव हैं—(क) रस जिसमें रहता है, वह रसवत् उस रसवत् का अलंकार = रसवदलंकार। (ख) जो रसवान् भी है और अलंकार भी—रसवदलंकार।[3] पर ये दोनों विग्रह रस (अलंकार्य) को अलंकार सिद्ध करने में संगत नहीं हो सकते—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि॥ व० जी० ३।११

किन्तु कुन्तक अलंकारवादियों का खण्डन करते हुए भी रसवत् अलंकार के स्वरूप के विषय में रसवादियों से सहमत नहीं हैं कि अंगभूत

---

1 रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥ का० म० ३।२१

2. व० जी० १।११ तथा वृत्तिभाग

3. (क) रसो विद्यते तिष्ठति यस्मिन्निति मतुप्प्रत्यये विहिते तस्यालंकार इति षष्ठीसमासः क्रियते।
(ख) रसवांश्चासावलंकारश्चेति विशेषणसमासो वा।
व० जी० पृष्ठ ३१०

रस को इस अलंकार की संज्ञा दे दी जाए। उन्होंने यहाँ परम्परा-विरुद्ध भी एक नितान्त मौलिक धारणा प्रस्तुत की है। 'रसवत्' का उन्होंने सीधा सा अर्थ किया है—जो अलंकार रस के तुल्य रहता है, उसे 'रसवत्' अलंकार कहते हैं। अलंकार की यह स्थिति तभी सम्भव है, जब रसवत्ता के विधान से वह सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने का कारण बन जाए—

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।

योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥ व० जी० ३।१५

और इसी महत्ता के कारण उन्होंने रसवत् अलंकार को सब अलंकारों का 'जीवित' माना है।[1]

कुन्तक का अभिप्राय यह है कि उपमादि अलंकार यदि केवल कोरी कल्पना की ही सृष्टि करते हैं, तब तो वे [साधारण] अलंकार मात्र हैं, पर जब वे विशिष्ट चमत्कारयुक्त विषय-सामग्री को—इतनी विशिष्ट कि जो 'रसवत्ता' के ही निकट पहुँच जाती है—प्रस्तुत करके सहृदयों को आह्लाद देते हैं तो वहाँ वही उपमादि अलंकार रसवदलंकार नाम से पुकारे जाते हैं।[2]

निष्कर्ष यह कि कुन्तक के मत में—

(१) उपमादि अलंकार सामान्य स्थिति में तो अपने अपने नामों से पुकारे जाते हैं।

(२) परन्तु जब वे सरस रचना के तुल्य आह्लाददायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं, तभी वे 'रसवदलंकार' से अभिहित होते हैं।

(३) रसवदलंकार रस के तुल्य आह्लादक होने के कारण सब अलंकारों का जीवित (सर्वोत्तम अलंकार) है; पर साक्षात् रस नहीं है।

उदाहरणार्थ किसी रस-विहीन रचना में उपमा का प्रयोग उपमा अलंकार कहा जाएगा; पर किसी अन्य [सरस] रचना में यही प्रयोग शृङ्गार रस अथवा किसी अन्य (वस्तु अथवा अलंकार सम्बन्धी) चमत्कृति का आधायक, अतएव सहृदयाह्लादकारी होने के कारण 'रसवदलंकार' नाम से पुकारा जाएगा।

कुन्तक ने उपयुक्त विग्रह के आधार पर रसवत् अलंकार के विषय

---

१ यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्। व० जी० ३।१७

२ यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति तद्वदुपमा-दिरप्युभयं विधायद्वद् निर्मितो रसवदलंकारः सम्पद्यते।—व० जी० ३।११

में जो नवीन धारणा उपस्थित की है, वह प्रेयस्वत् आदि अन्य अलंकारों के विषय में उपस्थित नहीं की। कारण यह हो सकता है कि 'प्रेयस्वदलंकार' आदि पदों का शाब्दिक अर्थ अथवा विग्रह उन की धारणा पर इतना चरितार्थ नहीं हो सकता जितना कि 'रसवदलंकार' का उपर्युक्त विग्रह। किन्तु फिर भी इन अलंकारों के विषय में भी उन्हें यही धारणा अभीष्ट होगी इसमें नितान्त सन्देह नहीं है।

कुन्तक की यह धारणा मौलिक और नवीन होते हुए भी हमारी दृष्टि में वैज्ञानिक नहीं है। प्रथम तो कोरा अलंकार-प्रयोग ना किसी भी (वस्तु, अलंकार अथवा रस के) चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करता, 'काव्य' संज्ञा से अभिहित होने का वास्तविक अधिकारी नहीं है; और दूसरे यदि चमत्कार-प्रदर्शक अतएव सहृदयाह्लादक अलंकार-प्रयोगों को 'रसवदलंकार' से अभिहित किया जाएगा, तो शुद्ध रस के उदाहरण नितान्त दुर्लभ हो जाएँगे। जिस किसी भी काव्य-स्थल में अलंकार के सैंकड़ों भेदापभेदों में से किसी भी एक भेद के कारण चमत्कारोत्पादन होगा, वहीं 'रसवदलंकार' की ही स्वीकृति प्रकारान्तर से यह सिद्धान्त मानने को बाध्य कर देती है कि शुद्ध रस का स्थल अलंकार-प्रयोग रहित होना चाहिये। वस्तुतः अलंकारवादियों का मत रसवादियों से केवल बाह्य रूप से ही भिन्न है आन्तरिक रूप से नहीं। अन्तर केवल संज्ञा-भिन्नता का है। अंगीभूत रसादि को 'रसादि' नाम से न पुकार कर वे 'रसवदलंकार' नाम से पुकारते हैं और अंगभूत रसादि को 'द्वितीय उदात्त अलंकार' नाम से और इधर रसवादी अंगीभूत रसादि को अलंकार की संज्ञा देने के पक्ष में नहीं हैं, अंगभूत रसादि को भले ही वे रसवदादि अलंकार नाम से अभिहित कर लें। इस प्रकार कुन्तक 'रसवदलंकार' की नवीन धारणा उपस्थित करके हमारे विचार में अलंकारवादियों से भी एक पग पीछे हटे हैं आगे नहीं बढ़े। अलंकार-ध्वनित काव्य-चमत्कार को ध्वनि का एक प्रकार न मान कर अलंकार मान लेना मनस्तोषक नहीं है।

रसवदादि अलंकारों की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता—रसादि को रसवदादि अलंकार नाम से अभिहित करते हुए भी रस की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकृत करने वाले अलंकारवादी आचार्य रसवद् अलंकारों को उपमादि अन्य अलंकारों की अपेक्षा कुछ अंश तक उत्कृष्ट कोटि के शोभा-कारक धर्म अवश्य मानते होंगे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना

चाहिए। आगे चल कर कुन्तक ने रसवत् अलंकार को अन्य अलंकारों का 'जीवित' मानकर इसकी उत्कृष्टता स्पष्ट शब्दों में घोषित की है। रसध्वनिवादी मम्मट आदि आचार्यों ने रसवदादि अलंकारों को उपमादि के साथ चित्रकाव्य में स्थान न देकर गुणीभूतव्यंग्य के 'अपरस्यांग' नामक भेद के अन्तर्गत निरूपित करके प्रकारान्तर से इन्हें उपमादि की अपेक्षा उच्च कोटि का काव्य स्वीकृत किया है।

परन्तु इधर विश्वनाथ ने 'अपरस्यांग' गुणीभूतव्यंग्य के प्रकरण में मम्मट-प्रस्तुत उदाहरणों के समकक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी रसवदादि अलंकारों को उपमादि अलंकारों के साथ निरूपित करके प्रकारान्तर से इन्हें सम-कोटि के ही अलंकार माना है। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत विचार-विमर्श अवलोकनीय है—

रसवदादि को अलंकारत्व के साथ सम्बद्ध करने के विषय में चार विकल्प सम्भव हैं—

क. रसवदादि अलंकार नहीं हैं;
ख. रसवदादि को गौण रूप से अलंकार कहना चाहिए;
ग. रसवदादि को प्रधान रूप से अलंकार मानना चाहिए;
घ. रसवदादि उपमादि के समकक्ष अलंकार हैं।

इनमें से प्रथम तीन विकल्पों को विश्वनाथ ने अज्ञात आचार्यों के नाम से उद्धृत करके अन्त में चतुर्थ विकल्प को अपना मन्तव्य ठहराया है—

(क) अलंकार वे होते हैं जो वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) की शोभा को उत्पन्न करते हुए रसादि के उपकारक हों;[1] पर रस भाव आदि तो शब्द और अर्थ के उपकार्य हैं उपकारक नहीं अतः वे (अंगरूप से वर्णित किए जाने पर भी) अलंकार नहीं हो सकते।[2]

(ख) रसवदादि को उपमादि के समान मुख्य रूप से न सही, पर

---

१ सा द १०।१
२ केचित्तु—वाच्यवाचकलक्षणालंकारमुखेन रसादीनुपकुर्वन्त एवालंकाराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्याः एवेति न तेषामलंकारता वक्तुं युक्ता।
—सा द १०।१० (वृत्ति)

गौण रूप से तो अलंकार मानना ही चाहिए, क्योंकि अंगभूत रसादि भी अंगीभूत रसादि का उपकार ही करते हैं।[1]

(ग) यदि अलंकारों का प्रमुख उद्देश्य रसोपकारत्व है, तब तो केवल रसवदादि को ही अलंकार कहना चाहिए। उपमा, रूपक आदि को अलंकार कहना तो 'अजागलस्तन' के समान है।[2]

पर विश्वनाथ को न तो रसवदादि को अलंकार न मानना अभीष्ट है; न वे इन्हें गौण रूप से अलंकार मानते हैं और न केवल रसवदादि को ही अलंकार मानना उन्हें स्वीकृत है। वे इन्हें उपमादि अलंकारों के समकक्ष अलंकार मानते हैं। उनका तर्क है कि अलंकार का अलंकारत्व केवल रसोपकार पर निर्भर नहीं है। रसोपकार तो वाचक आदि—पद, पदार्थ, वाक्य अर्थ आदि—भी करते हैं; पर इन्हें *अलंकार नहीं कहा जाता*।[3] वस्तुतः अलंकार का अलंकारत्व शब्द और अर्थ के उपकार के माध्यम से रस के उपकार करने में निहित है। यह धारणा जैसे उपमादि अलंकारों पर लागू होती है, वैसे रसवदादि अलंकारों पर भी—अंगभूत रसादि अपने व्यंजक शब्द और अर्थ से स्वयं उपकृत होकर प्रधान रस के व्यंजक शब्द और अर्थ के उपकार के द्वारा प्रधान रस का उपकार करते हैं,[4] न कि शब्द और अर्थ का उपकार किए बिना। उदाहरणार्थ—

> अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
> नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥[5]

---

१ अन्ये तु—रसाद्युपकारमात्रेणैवालंकृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तन-प्रसिद्ध्या गौणत्वमेव। सा० द० १।१० (वृत्ति)

२ अपरे च—रसाद्युपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु भाक्तमुपगमनम् अजागलस्तनन्यायेन। (वही)

३ यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालंकृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत। (वही)

४ अभियुक्तास्तु—स्वव्यंजकवाच्यवाचकोपकृतैरंगभूतैः रसादिभिरंगिनो रसादेर्व्यंजकवाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते। (वही)

५ महाभारत के युद्ध में भूरिश्रवा के कट कर अलग पड़े हुए हाथ को देखकर उसकी पत्नी का विलाप—'यह वह हाथ है, जो (सम्भोगप्रसंग पर)

इस पद्य में विश्वनाथ के मतानुसार अंगभूत शृंगार रस अपने व्यंजक शब्दार्थ से उपकृत होकर अङ्गीभूत (प्रधान) करुण रस के व्यंजक शब्दार्थ के उपकार के द्वारा उस प्रधान (करुण) रस का उपकार करता है, न कि (माधुर्य आदि गुणों के समान) रस का साक्षात् उपकार करता है।

विश्वनाथ द्वारा अलंकार की परिभाषा को रसवदादि अलंकारों पर घटित करने का यह प्रयास निस्सन्देह श्लाघ्य है; किन्तु यदि देखा जाए तो ये अलंकार उपमादि की अपेक्षा एक पग और आगे बढ़े हुए हैं। इनके उदाहरणों में रसादि में से किसी एक को—(जो कि वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद है)—गौण बनकर ही अन्य प्रधान रस के शब्दार्थ के उपकार द्वारा उस का उपकार करना पड़ता है, पर उधर उपमादि द्वारा रसोपकरण क्षेत्र में रसादि के गौण होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः रसवदादि अलंकार उपमादि अलंकारों की अपेक्षा उच्च कोटि पर अवस्थित हैं, इसी कारण हमारे विचार में इन्हें विश्वनाथ के मतानुकूल चित्र काव्य का विषय न मान कर मम्मट के मतानुकूल गुणीभूतव्यंग्य का ही विषय मानना अधिक तर्कसंगत और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

ध्वनिसम्प्रदाय और रस

ध्वनिवादी आचार्य और रस—भरत मुनि और अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्यों का युग आता है। ध्वनि-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं और ध्वनिनिरूपक प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट तथा जगन्नाथ। यों तो रसवादी विश्वनाथ ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया है तथा हेमचन्द्र विद्याधर और विद्यानाथ ने भी ध्वनि का निरूपण किया है, पर इन सबकी में विशेष नवीनता नहीं है। मम्मट और जगन्नाथ ने आनन्दवर्धन के अनुकरण में ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत रस भाव आदि का प्रतिपादन किया है पर विश्वनाथ ने रसादि को उक्त ध्वनि-भेद का समानार्थक स्वीकार करते हुए भी इसका विस्तृत निरूपण ध्वनि-प्रकरण से पूर्व ही प्रस्तुत किया है। कारण स्पष्ट है विश्वनाथ द्वारा ध्वनि के स्थान पर रस की काव्यात्म रूप में स्वीकृति। पर इतना साहस विश्वनाथ भी नहीं कर सके कि ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम

करधनी को खींचा करता था, नीविबन्धों का विमर्दन करता था, ऊरु, जघन का स्पर्श करता था और नीवी-बन्धन को खोला करता था।'

व्यंग्य (रसादि) नामक भेद की स्वीकृति करके वे ध्वनिवादियों की पुष्ट परम्परा का उल्लंघन कर देते।

रस : ध्वनि का एक भेद—रस, भाव रसाभासादि को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करने में आनन्दवर्धन का प्रमुख तर्क है कि रसादि की अनुभूति व्यञ्जना वृत्ति (ध्वनि) द्वारा होती है न कि अभिधा वृत्ति के द्वारा।[1] अतः वे वाच्य न होकर व्यंग्य ही हैं। इस तर्क की पुष्टि में एक प्रमाण तो यह है कि 'किसी भी रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस, स्थायिभाव और विभावादि, अथवा इनके विभिन्न प्रकारों में से एक अथवा अनेक का नामोल्लेख मात्र कर देने से रसानुभूति नहीं हो जाती।[2] उदाहरणार्थ—

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसः नः कोऽप्यजायत।

(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्।

(ग) प्रजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।

(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।

इन वाक्यों में रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दों की विद्यमानता होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती। उक्त तर्क की पुष्टि में दूसरा प्रमाण यह है कि 'विभावादि की संयुक्त सामग्री का [व्यञ्जना (ध्वनि) द्वारा प्राप्य] व्यंग्यार्थ ही रसानुभूति कराने में समर्थ है, न कि [अभिधा द्वारा प्राप्य] वाच्यार्थ।[4] उदाहरणार्थ—'शून्यं वासगृहं विलोक्य

---

1 रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। ध्वन्या १।४ (वृत्ति)

2 न हि केवलशृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। ध्वन्या० १।४ वृत्ति

3 (क) उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विचित्र रस उत्पन्न हो गया।
(ख) इस चन्द्र-मण्डल को देखकर हमारा मन शृंगार में मग्न हो गया।
(ग) तुम्हें देख लेने पर उस में रति उत्पन्न हो गई।
(घ) प्रिय के चुम्बन करने पर वह मुग्धा लज्जावती हो गई।

4 यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। [तस्मात् × × × अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथंचित्। ध्वन्या १।४ (वृत्ति) पृ ३०

घनाद्   " इत्यादि शृंगार रस युक्त रचना में विभावादि-सामग्री के संयोग की वाच्यार्थता चमत्कारोत्पादक नहीं है; अपितु नायक-नायिका के उत्साह और आवेग-युक्त प्रलाप की प्रतीति रूप व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हाँ, वाच्यार्थ साधन अवश्य है; पर साध्य तो व्यंग्यार्थ ही है।

रसध्वनि ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद—ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (अर्थात् रसादि); और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी प्रमुख दो भेद हैं—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। इस प्रकार कुल मिलाकर ध्वनि के प्रमुख पाँच भेद हैं। पर इन भेदों में से ध्वनिवादियों ने जब तब अपने ग्रंथों में रसादि ध्वनि की न केवल सर्वोत्कृष्टता घोषित की है, अपितु अन्य भेदों के चमत्कार को भी रसादि ध्वनि पर अवलम्बित माना है।[2]

ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसादिध्वनि के उदाहरणों से यदि शेष चार ध्वनि-भेदों के उदाहरणों की तुलना की जाए तो रसादिध्वनि की उत्कृष्टता स्वयंसिद्ध हो जाती है। रसादिध्वनि के उदाहरणों में वाच्यार्थ के ज्ञान के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए सहृदय को क्षण भर के लिए भी रुकना नहीं पड़ता; पर शेष चार भेदों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए सहृदय को कुछ न कुछ आक्षेप करना पड़ता है; जिस के लिए उसे कहीं अधिक अथवा कहीं थोड़े क्षणों के लिए अवश्य रुकना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

(क) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के—

'मैं कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन करूँगा'[3] इस उदाहरण में राम शब्द का 'दुःखातिशय सहिष्णु' रूप व्यंग्यार्थ,

(ख) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के—

'आप ने बहुत उपकार किया है आप की सुजनता के क्या कहने'[4]

---

१ का प्र ४।१

२ प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या १।५ (वृत्ति)

३ स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त × × × ×। ध्वन्या २ च उ

४ उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता × × ×। का प्र ४।२४

इस उदाहरण में 'उपकार' का 'अपकार' रूप और सुजनता का 'खलता' रूप व्यंग्यार्थ;

(ग) वस्तुध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे पथिक! इन उन्नत पयोधरों को देखकर यदि बिछौना आदि सुख-साधनों से रहित इस घर में रात बिताना चाहते हो तो रह जाओ'[1] इस उदाहरण में 'कामुकी ग्रामीणा' का निमन्त्रण' रूप व्यंग्यार्थ; तथा

(घ) अलङ्कारध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे सखि! प्रिय-सङ्गम के समय विश्रब्ध होकर सैकड़ों मधुर वचन बोल सकने के कारण तू धन्य है; पर मैं तो नितान्त संज्ञाहीन हो जाती हूँ'[2] इस उदाहरण में 'तू तो अधन्य है, पर मैं धन्य हूँ', व्यतिरेकालङ्कारमूलक यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ-प्रतीति के तुरन्त बाद प्रतीति नहीं होते। इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये कुछ-क्षण अपेक्षित रहते हैं और साथ ही अपनी ओर से आक्षेप भी करना पड़ता है पर 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनात्....'[3] इत्यादि रसध्वनि के उदाहरणों में नायक-नायिका की प्रणयातिशय रूप व्यंग्यार्थप्रतीति त्वरित और बिना अधिक आक्षेप किये हो जाती है। हमारे विचार में रसध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का यही प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त एक गौण कारण भी है—ध्वनि के अन्य भेदों के उदाहरण व्यापक अर्थ में रस, भाव आदि में से किसी न किसी के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ हिमालय के आगे नारद-मुनि द्वारा पार्वती के विवाह-प्रसङ्ग की चर्चा चलने पर पार्वती मुख नीचा करके लीला-कमल की पंखुड़ियां गिनने लगीं'[4] आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के इस उदाहरण में 'लीला कमल की पंखुड़ियाँ गिनना' वाच्यार्थ है; और 'लज्जा का आविर्भाव' व्यंग्यार्थ। निस्सन्देह प्रथम और द्वितीय अर्थ की प्रतीति में थोड़े क्षणों का व्यवधान अवश्यम्भावी है; पर फिर भी इस कथन को (पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार=) भाव' का उदाहरण बड़ी सरलता

---

१ देखिये पृष्ठ ××× का म ३।५८

२ धन्यासि या कथयसि ××× का प्र ३।६१

३ का प्र ३।३

४ एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ ध्वन्या० २।२२ वृत्ति

के साथ माना जा सकता है। अतः रसादि-ध्वनि की सर्वोत्कृष्टता स्वतःसिद्ध है।

काव्य (शब्दार्थ) और काव्यचमत्कार के बीच ध्वनि वस्तुतः एक माध्यम है। ध्वनिवादियों ने इस काव्यचमत्कार को भी 'ध्वनि' अर्थात् व्यंग्यार्थ की संज्ञा दे दी है। ध्वनि अर्थात् काव्यचमत्कार के विभिन्न भेदों में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है—

रसादि-ध्वनि चरम कोटि का काव्यचमत्कार है, तो ध्वनि के अन्य भेद उससे निम्न कोटि के काव्यचमत्कार हैं।

ध्वनिवादियों ने रस (रसध्वनि) की महत्ता एक अन्य रूप में भी उपस्थित की है। उन्होंने काव्य (शब्दार्थ) के सभी चारुत्वहेतुओं—गुण रीति और अलंकार—को रसध्वनि के साथ सम्बद्ध कर दिया है—[1]

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥[2] ध्व० २।३

और इस प्रकार दण्डि-सम्मत वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' अब रस के उत्कर्षक धर्म मान लिए गए,[3] वामन-सम्मत काव्य की आत्मरूप 'रीति' की सार्थकता अब रसादि की अभिव्यञ्जकी अथवा उपकर्त्री रूप में स्वीकार कर ली गई।[4] सब से अधिक दयनीय दशा अलंकार की हुई। भामहादि सम्मत काव्यसर्वस्व अलंकार अब शब्दार्थ के धर्म बन कर परम्परा-सम्बन्ध से रस के ही उपकारक मात्र घोषित कर दिए गए, और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं।[5] इतना ही नहीं अपितु कोरे 'अलंकार' को चित्र अथवा अधम काव्य कह कर इसके प्रति अवहेलना प्रकट की गई।

निष्कर्ष यह कि रस की सर्वोत्कृष्टता और महत्ता की सिद्धि में ध्वनिवादियों ने अपना पूर्ण बल लगा दिया, यहाँ तक कि 'दोष' की परि

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिये [गुण रीति अलंकार और दोष-प्रकरण।

२ यहाँ नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्व-हेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रसपरक (रसादि के अंग) होते हैं वह ध्वनि का विषय है।

३ का० प्र० ८।६६　४ ध्वन्या० ३।६, सा० द० ६।१

५ का० प्र० ८।६७

भाषा भी उन्होंने रस के अपकर्ष पर आधृत की;[1] और दोष के निम्नांकित रूप को भी रस के ही अपकर्ष अथवा अनपकर्ष पर अवलम्बित किया।[2] धीरे-धीरे इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर विश्वनाथ ने 'रस' को 'काव्य की आत्मा' रूप में घोषित कर दिया।

इस प्रकार रस-विषयक शास्त्रीय विवेचन कर चुकने के उपरान्त अब हमारे सम्मुख इसी सम्बन्ध में दो अन्य जटिल प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जिन पर प्रकाश डालना अपेक्षित है, इनमें से प्रथम प्रसंग है—शृंगार का रसराजत्व और द्वितीय प्रसंग है—शान्त रस की काव्य अथवा नाटक में स्वीकृति। इधर हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों ने सौभाग्यवश इन दोनों प्रसंगों पर किंचित् प्रकाश डालने का प्रयास-मात्र किया है अतः उन्हीं के निरूपण की पृष्ठभूमि में रखकर यहाँ इन दोनों प्रसंगों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शृङ्गार का रसराजत्व

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ ने शृंगार रस को 'रसपति' की उपाधि से भूषित किया है—

नवरस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि। र पी मि ८।१

काव्यशास्त्रीय परम्परा में इस धारणा पर विचार कर लेना आवश्यक है। सोमनाथ से पूर्व हिन्दी-आचार्यों में केशव और देव भी शृंगार रस के विषय में यही धारणा निर्धारित कर चुके थे—

सब को केसवदास कहि नायक है सिंगार। र प्रि १।१७

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार। भ वि १

किन्तु उधर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने यद्यपि शृङ्गार रस को 'रसपति' अथवा 'रसराज' की उपाधि से विभूषित नहीं किया[3] पर अन्य रसों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में वे इसे काव्यशास्त्र-निर्माण के प्रारम्भिक युग से ही घोषित करते रहे हैं। भरत मुनि के शब्दों में संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल और दर्शनीय है उसकी शृंगार रस से उपमा दी

१ का प्र० ७।४६ २ वही ७।६१

३ हाँ, रूपगोस्वामी ने 'मधुर' रस को 'भक्तिरस-राट्' अवश्य कहा है। —उ नी० म पृ ४

जाती है।[1] रुद्रट के कथनानुसार शृंगार रस जैसी रसता को कोई अन्य रस उत्पन्न नहीं कर सकता। इस रस में ही आबाल-वृद्ध सभी मानव (केवल मानव ही क्यों? पशु पक्षी यहाँ तक कि लता-गुल्मादि भी) ओतप्रोत हैं। इस रस के समावेश के बिना काव्य हीनकोटि का है। अतः इसके निरूपण में कवि के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।[2] और आनन्दवर्धन के शब्दों में शृंगार ही सर्वाधिक मधुर और परमाह्लादक रस है।[3]

उपर्युक्त स्थलों में शृंगार रस की अन्य रसों की अपेक्षा प्रकारान्तर से प्रमुखता घोषित की गई है, इधर आगे चल कर आचार्यों का सम्भवतः एक वर्ग ऐसा भी रहा होगा, जिसे न केवल रस की संज्ञा अकेले शृंगार रस को देनी अभीष्ट होगी, अपितु इसे अन्य वीरादि रसों का आधार भी मानना स्वीकृत होगा। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार केवल भोजराज और अग्निपुराणकार के ही एतत्सम्बन्धी मत को प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है—

भोज ने शृंगार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृंगार को ही दी है।[4] शृंगार को इन्होंने अहंकार और अभिमान का पर्याय माना है।[5]

भोज द्वारा प्रयुक्त अहंकार शब्द मिथ्यागर्व अथवा दर्शनशास्त्रीय अभिमान का वाचक न होकर मनुष्य का अपने प्रति सहज अनुराग का

---

1 यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते ।
—ना० शा० ६।४५ (वृत्ति)

2 सर्वरसेभ्यः शृंगारस्य प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—
अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ॥ का० अ० १४।३८

3 शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः । ध्वन्या० २।७

4 शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥
शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ४००

5 रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते । स० कं० ५।१

द्योतक है। इसी अहंभाव, आत्मानुराग के कारण वह अपने व्यक्तित्व का आभास करने लगता है। किसी कामांगी द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर एक पुरुष में जो आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मानुराग की भावना जागृत हो कर उसे सहज सुख में आत्म-विभोर कर देती है, वही 'अहंकार' की स्थिति है; और तभी उस पुरुष का मनमयूर नाच उठता है, वह अपने आप को धन्य कृतकृत्य और स्नेहभाजन मानने लग जाता है—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया मत्तसारंगतरलायतनेत्रया॥ श्रृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ११८

वह इसी अहंकार को रस कहते हैं। भोज के अनुसार रस की परिभाषा है—मनोनुकूल सुखादि भावों में [भी] आत्मगत सुख" अभिमान की प्रतीति।[1] इसी अहंकार का अपर नाम शृंगार है, क्योंकि यही भाव सामाजिक को शृंग अर्थात् सुख की चोटी (पराकाष्ठा) तक पहुँचा देता है।[2] अतः भोज को केवल अहंकार अथवा उसके पर्यायवाची शृंगार को ही रस की संज्ञा देनी अभीष्ट है, अन्य तथाकथित रसों को नहीं।[3]

अहंकार' नामक यह मूल प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं है। वह पुण्यात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के निर्मल कर्मों और अनुभवों से प्राप्त होती है। यही मनुष्य की आत्मा की सम्पत्ति है और श्रेष्ठ गुणों के उदय का कारण भी।[4] सहृदय रसिक अथवा सामाजिक कहाने का अधिकारी भी केवल वही व्यक्ति है जिसमें यही 'अहंकार' नामक प्रवृत्ति जागृत हो

---

1 मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः।
उदाहरणाय—दुःखरूपत्वपि युद्धं अनुपति यो यस्य वल्लभो भवति।
इषितवपुरूपममसो विसर्पति समयो रोमांचः॥ श्रृं प्र पृष्ठ ११६
2 येन शृंग रीयते (गम्यते) स शृंगारः। वही, पृष्ठ ७०७
3 (क) स शृंगारः सोऽभिमानः स रसः।
(ख) रसः शृंगार एव एकः। वही पृष्ठ ७०५
4 सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुः
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः॥ श्रृं प्र० पृष्ठ ११८

चुकी है। जिस व्यक्ति में अहंकार अथवा शृंगार का अस्तित्व है, वही रसिक कहाता है अन्यथा वह व्यक्ति नीरस कहा जाएगा।[1] अहंकारी—दूसरे शब्दों में शृङ्गारी—कवि अथवा सामाजिक ही जगत् को रसमय बना सकता है,[2] और काव्यानन्द प्राप्त कर सकता है। अहंकारी अथवा शृङ्गारी व्यक्ति में ही रति, हास, उत्साह आदि भावों का उदय होता है, न कि अनहंकारी, अशृङ्गारी अथवा अरसिक व्यक्ति में। अतः भरतादि के अनुसार रत्यादि से रस की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है; अपितु आत्मा के अहंकार-विशेष शृङ्गाराख्य रस से ही रत्यादि की उत्पत्ति मानना समुचित है।[3]

विषय की स्पष्टता के लिए इस प्रकरण में भोजमतानुसार रत्यादि भावों; अहंकार (अथवा शृङ्गार) तथा रत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध, और रसों की संख्या पर भी प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है।

भोज के मत में भरतादि के अनुसार रत्यादि आठ भावों को स्थायी, निर्वेद आदि तैंतीस भावों को संचारी[4] तथा स्तम्भादि आठ भावों को सात्त्विक

---

१ शृङ्गारो हि नाम × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः सचेतसा रस्य मानो रस इत्युच्यते यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति।
—वही पृष्ठ ५१०

२ तुलनार्थ—अग्निपुराणकार का 'शृङ्गारी' शब्द भी रसिक का ही वाचक है न कि रतिप्रिय का—
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्॥ अ० पु० ३३९।८
(तुलनार्थ—ध्व० ३।४२ (वृत्ति), स० क० भ० ५)

३ न हि रत्यादिमूला रसाः किं तर्हि शृङ्गारः। शृङ्गारो हि नाम × × × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः × × × । रत्यादीनामयमेव प्रभवः इति। शृङ्गारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृङ्गारिणः। शृङ्गारी हि रमते रमयते उत्सहते विस्मयतीति। —श्र० प्र० (ग०) पृष्ठ ३०

४ भोज ने संचारिभावों की संख्या तो तैंतीस मानी है पर भरतकृत अपस्मार और मरण के स्थान पर उन्होंने ईर्ष्या और शम को गिनाया है।
श्र० प्र० पृष्ठ ३५ ५१०

नामों से पुकारना उचित नहीं है। ये सभी भाव परिस्थिति और समय के अनुसार स्थायी और संचारी भी बन जाते हैं तथा सत्त्व अर्थात् मन से प्रभूत होने के कारण ये सभी सात्त्विक भी कहाते हैं।[1]

उपर्युक्त ४९ भाव मनुष्य के अहंकारतत्त्व से प्रकट होकर इसी अहंकार (अथवा शृङ्गार) ही को उस प्रकार प्रकाशित करते हैं जिस प्रकार अग्नि से उत्पन्न ज्वालाएं स्वयं अग्नि को ही चारों ओर से प्रकाशित करती हैं;[2] अथवा 'अहंकार' नृप के समान है और 'भाव' उसे सामन्तवर्ग के समान चारों ओर से घेर कर उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं।[3]

भोज के मत में उपर्युक्त सभी के सभी भाव—न कि भरतादि के अनुसार केवल रत्यादि आठ तथाकथित स्थायी भाव—अहंकार के अनुप्रवेश के कारण विभावादि के द्वारा प्रकर्षावस्था को पहुँच कर आनन्दमय बन जाते हैं और इन्हें यदि 'रस' नाम से पुकार भी लिया जाता है, तो केवल उपचार द्वारा ही। पर वस्तुतः ये प्रमुख रूप से तो 'भाव' ही हैं—क्योंकि एक तो ये भोज-सम्मत रस-परिभाषा—'मनोनुकूल दुःखादि में आत्मगत सुखाभिमान की प्रतीति'—की कसौटी पर खरे नहीं उतरते; और दूसरे, ये सभी भाव अपने व्यापार द्वारा 'अहंकार' रूप रस को ही प्रकाशित करने के कारण रस नहीं कहे जा सकते। भाव और रस में स्पष्ट अन्तर है—भाव भावनापथ पर आरूढ़ हैं, पर रस भावनापथ से अतीत है। इस प्रकार भोज को केवल एक ही 'अहंकार' (शृङ्गार) रस स्वीकार्य है। हाँ, यदि रत्यादि-भावजन्य आनन्दप्रदान को भी उपचार द्वारा 'रस' कहना है, तो

---

1 वही पृष्ठ ४०१, ५१०

2 रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ॥ वही पृष्ठ ४१६

3 भावाः संचारिणो ये च स्थायिनो ये च सात्त्विकाः ।
सविभावानुभावास्ते शृङ्गारस्य प्रकाशकाः ॥
प्रकृतिममभिमानसंज्ञं सममनुभावविभावकर्माः ।
स्वमवसरमुपेत्य भावजुषास्ते नृपतिमिवाधिकृतेषु भीतिभाजः ॥ वही, पृष्ठ ४०१

सभी भावों में आनन्द प्रदान की क्षमता होने के कारण रसों की संख्या ४९ तक पहुँचनी चाहिए।[1]

भोज ने रस को तीन कोटियों में विभक्त किया है, स्वाहंकारता अर्थात् मानव में अहंकार की अवस्थिति, यह रस की प्रथम कोटि है; रत्यादि ४९ भावों की परप्रकर्षता को [उपचार-द्वारा] रस नाम से व्यपदिष्ट करना, यह दूसरी कोटि है, तथा रति, हास उत्साह आदि भावों की प्रेमरूप में परिणति, यह तीसरी (परम) कोटि है।[2] तीसरी कोटि को भोज ने 'प्रेमन्' रस की

---

१ (क) यच्चोक्तम् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम्' इति तदपि मन्दम्, इतरेष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादयः सर्वे एवैते भावाः। शृंगार एव एको रस इति। तैरेव सविभावानुभावैः प्रकृष्यमाणः शृंगारः विशेषतः स्वदते।

—शृं प्र पृष्ठ ५१०

(ख) यद्यपि शृंगार एव एको रसः, तथापि रत्यादयो ये स्थायिन ते ऽप्युद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव सञ्चारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते।

—वही पृष्ठ ७०१

(ग) अभिमानबोधजननस्पृहया जनेषु
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥

—शृं प्र पृष्ठ ५१

ते (रत्यादयः) तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। भावनसम्पन्नं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोत्पद्यते भावनापथमतीतस्तु रसः। यथोऽनुकूलेषु सुखादिषु भाव्यमानः सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वात् रत्यादिष्वपि उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम् अपितु भावना विषयत्वात् भावत्वमेव। —वही पृष्ठ ५१०

(घ) रत्यादीनामप्रकर्षवतामपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। —वही पृष्ठ १५

२ शृं प्र (रा) पृष्ठ ३९६, ५२०

भी संज्ञा दी है।[1] सम्भवतः यहीं से प्रेरणा प्राप्त करके कवि कर्णपूर ने भी 'प्रेमन्' रस में सब रसों का अन्तर्भाव स्वीकृत किया है,[2] और हिन्दी के आचार्यों में देव कवि ने भी यही धारणा प्रकट की है—

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै बीर सान्त संचार॥ भवानी विलास १

भोज-सम्मत उपर्युक्त विवेचना का निष्कर्ष यह है कि रत्यादि सभी (४६) भाव, जो मानव के 'अहंकार' की उपज हैं काव्य-नाटकादि में वर्णित अथवा दर्शित होने पर विभावादि की सहायता से रसिक के अहंकार को जाग्रत और पुष्ट करते हैं। उनके मत में 'अहंकार' शब्द 'रस' का पर्यायवाची भी है और 'शृंगार' का भी। निस्सन्देह भोज रस को अहंकार' शब्द का पर्याय मान कर मानव-हृदय की अतल गहराई तक पहुँच गए हैं। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।५) के इस कथन के अनुसार मानवहृदय द्वारा किसी के प्रति प्रकटित स्नेह शोक, उपहास, उत्साह, क्रोध, घृणा विस्मय भय निर्वेद, आदि भाव उस के अपने ही सन्तोष के लिए होते हैं—इसी सन्तोष अथवा आत्मानुराग का वाचक ही भोज का पारिभाषिक शब्द अहंकार' अथवा 'अभिमान' है। अहंकार' रत्यादि भावों का जनक भी है और इनसे परिपोष्य भी। 'अहंकार' ही की जागृति और सुतृप्ति काव्य का चरम लक्ष्य है।

भोज का उपर्युक्त मौलिक चिन्तन काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के लिए अर्वाचीन रूप से एक अभूतपूर्व देन है—भरतादि का 'रस' अलौकिक आनन्द का वाचक था पर भोज का सुखाभिमानः रसः काव्यगत अलौकिक आनन्द अर्थात् रस के मूल कारण का भी द्योतक है। अतः प्रकारान्तर से 'अहंकार को 'रस' का पर्याय मानना तो ठीक है, पर 'प्रेम

---

१ रसस्तिवह प्रमादामेवामनन्ति सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रति-प्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रिय· परिहासप्रियः इति प्रेम्णैव पर्यवसानात्।

—शृ प्र (रा) पृष्ठ ११३

२ उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखिलरससत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥

—अ कौस्तुभ पृष्ठ १३७-१३८

शृङ्गार्यते (गम्यते) इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शृ गार' को चरमावस्था वाचक अहंकार और रस का पर्याय स्वीकार करना एक दृष्टि से समुचित होते हुए भी 'शृ गार' के परम्परागत रसोत्कर्ष रूप अर्थ का उल्लंघक होने के कारण भ्रामक अवश्य है। वस्तुतः इस व्युत्पत्ति के मूल में पक्षपात की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। भोज शृंगार को ही सर्वस्व और सब रसों [भावों] का आधार मानने वाले आचार्यवर्ग से प्रभावित था। अतः एक ओर तो उसने इसे उपर्युक्त व्युत्पत्ति के द्वारा व्यापक रूप से 'रस' का समानार्थक माना; और दूसरी ओर इसे प्रेमन् का पर्याय मान कर सब रसों का आधार घोषित किया। उस के मत में रति ही भरतादि-सम्मत तथाकथित शृंगारादि रसों का मूल भाव है। उदाहरणार्थ रतिभावापन्न व्यक्ति रति-प्रिय है, तो युद्धोत्साह-सम्पन्न व्यक्ति रणप्रिय। इसी प्रकार क्रोध हास आदि भावों से युक्त व्यक्ति क्रमशः अमर्षप्रिय और परिहासप्रिय हैं। स्पष्ट है कि शृ गार को सर्वभावाधार मानने के लिए ही वर्गगत पक्षपात के बल पर इसे इतना व्यापक रूप दे दिया गया है। इस प्रकार से वीर रस का पक्षपाती भी कोई आचार्य रसोत्साही रणोत्साही, अमर्षोत्साही, परिहासो-त्साही आलम्बनों की कल्पना कर सकता है। और फिर, एक ही शृंगार शब्द को शृ गार : अहंकार : रस : प्रेमन् (रस की तीसरी कोटि)—इन सब का समानार्थक मानना जितना मौलिक धारणा का सूचक है उससे कहीं अधिक अव्यवस्था का उत्पादक और पक्षपात का द्योतक है।

भोज ने अहंकार रूप रस की उपर्युक्त तीन कोटियां मानी हैं—(क) स्वा-हंकारता; (ख) रत्यादि ४९ भावों की उपचार द्वारा रसव्यपदिष्टता; और (ग) भरतादि-सम्मत शृंगारादि रसों का प्रेमन् रस में अन्तर्भाव। इन्होंने उक्त कोटियों में अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस-सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण विषय-सामग्री को अहंकाररूपैकप्रवृत्तिमूलक बना कर यथासम्भव सीमित अवश्य कर दिया है पर पहली दो कोटियों में 'अहंकार' शब्द के अतिरिक्त कोई विशेष नवीनता नहीं है। स्वाहंकारता नामक प्रथम कोटि में 'स्वत्व' भाव भरतादि-सम्मत 'वासना' के ही समकक्ष ठहरता है। द्वितीय कोटि में विभावादि द्वारा प्रकृष्ट रत्यादि की 'भाव' रूप, और उन भावों द्वारा वाच्य अभिमान की 'रस' रूप स्वीकृति में लगभग वैसा ही पूर्वापर-सम्बन्ध है, जैसा कि भरतादि ने स्थायिभावों की 'व्यक्ति' अर्थात् चर्वणा और चर्वणा के आस्वाद अर्थात् रस में माना है। इसी दूसरी कोटि में भोज ने संचारी

और सात्त्विक भावों की भी प्रकृष्टता को उपचार रूप से रस की संज्ञा दी है पर उनकी यह धारणा भी नितान्त मौलिक नहीं है। भरतादि के मत में प्रधानता से व्यंजित संचारिभावों द्वारा प्राप्त आस्वाद की भी स्वीकृति हुई है, जिसे विषय-स्पष्टता के लिए 'रस' के स्थान पर 'भाव' की संज्ञा दी गई है। हाँ सात्त्विक भावों की प्रधान रूप से व्यंजकता को यद्यपि भरत आदि ने प्रसंग नाम से नहीं पुकारा, पर केवल अनुभाव-वर्णनात्मक स्थलों में विभाव और संचारिभावों के अध्याहार द्वारा रसास्वाद की प्राप्ति इन्हें भी स्वीकार्य है। अब शेष रही भोज-सम्मत रस की अन्तिम कोटि—प्रेमन् (शृंगार) में सब रसों का अन्तर्भाव। पर यह कोटि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वर्गगत पक्षपात की ही अधिक परिचायिका है। इस की स्वीकृति में तो फिर संसार के किसी भी आभ्यन्तर अथवा बाह्य व्यवहार और कार्य-कलाप का वर्गीकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा।

निष्कर्ष यह कि—

(१) अहंकार' निस्सन्देह सब मानसिक भावों का मूल और सब भावों से पोष्य माना जा सकता है। उसकी परिपुष्ट अवस्था को 'रस' भी कह सकते हैं। 'येन शृ गं रीयते' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शृ गार को व्यापक अर्थ में 'रस' अथवा 'अहंकार' का पर्याय भी खींचतान कर मान सकते हैं।

(२) परन्तु भोज के अनुसार शृ गार को प्रेमन् का पर्याय मान कर सभी रसों (भावों) का शृ गार में अन्तर्भाव करके शृंगार (अथवा रति) को आधारभूत रस मानना हमें स्वीकार्य नहीं है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि भोज ने शृंगार रस को अन्य रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट रस सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया।

× × ×

भोज से ही लगभग मिलता जुलता सिद्धान्त अग्निपुराणकार का है— आनन्द' परम ब्रह्म का सहजात है। आनन्द की अभिव्यक्ति 'चैतन्य चमत्कार' अथवा 'रस' कहाती है और चमत्कार अथवा रस का विकार (अभिव्यक्ति) 'अहंकार' कहाता है। अहंकार से 'अभिमान' की उत्पत्ति होती है; और अभिमान से रति की। यह रति व्यभिचारिभाव आदि के संयोग से शृ गार' नाम से पुकारी जाती है, और अपने अपने स्थायिभावों से परि

पुष्प हास्य आदि इसी [रति अथवा शृंगार] के ही भेद हैं।[1] भरत के समान शृंगार, रौद्र, वीर और अद्भुत नामक चार मूल रसों को मानते हुए भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारों का मूल माना है—रति के चार रूप हैं—राग तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और संकोच। इन से क्रमशः शृंगार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है, और इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण अद्भुत और भयानक की।[2]

भोज ने 'अहंकार' से रत्यादि सभी (४९) भावों की उत्पत्ति मानी थी पर अग्निपुराणकार ने एक शृंखला और मान ली है—अहंकार से रति की उत्पत्ति होती है, और रति से अन्य रसों की। अग्निपुराणकार ने अहंकार और अभिमान में, तथा अभिमान और रति में उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है पर भोज ने अहंकार, अभिमान और शृंगार को पर्याय मानते हुए भी अहंकार और शृंगार में प्रकारान्तर से ही उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध माना है—

आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य

शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ॥[3] श्र प्र पृष्ठ ५११

इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्त में एक अन्तर और भी है। भोज के मत में 'शृंगार' व्यापक अर्थ में 'रस' का पर्याय है, पर अग्निपुराणकार के मत में यह रस का एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद हैं। हाँ, रतिभाव से सब रसों की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी तभी 'प्रेमन्' रूप में रस (शृंगार) की तृतीय कोटि का भी इन्हें निर्माण करना पड़ा। निष्कर्ष यह कि किसी न किसी प्रकार के थोड़े बहुत अंतर के साथ भोज और अग्निपुराणकार शृंगार को ही अन्य रसों का उत्पादक मानते हैं।

× × ×

जैसा कि ऊपर कहा गया है संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शृंगार रस को रसराज की उपाधि से स्पष्ट शब्दों में भूषित न करते हुए भी इसे सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत किया है। भरत रुद्रट और आनन्दवर्धन के

---

1 २ अ पु ३३९।१-८

2 भोज द्वारा अहंकार और शृंगार में उत्पाद्योत्पादकसम्बन्ध की स्वीकृति करने पर भी इन दोनों शब्दों में समानार्थकता की स्थापना वास्तविक प्रयोग पर आश्रित है।

कथन प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये जा चुके हैं। भोज और अग्निपुराणकार का विभिन्न दृष्टिकोण सर्वांश रूप में मनस्तोषक और विश्वग्राही न होते हुए भी प्रकारान्तर से शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकार करा सका है। इधर बाद के आचार्यों ने शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता-सिद्धि के लिए कुछ अन्य कारण भी उपस्थित किए हैं। हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने शृङ्गार को प्रथम स्थान इस आधार पर दिया है कि 'इसका सम्बन्ध न केवल मानवजाति तक सीमित है, अपितु यह सकल-जाति-सामान्य, अत्यन्त परिचित एवं सकलमनोहारी है।'[1] विश्वनाथ ने शृंगार रस की व्यापकता का प्रमाण इस आधार पर दिया है कि केवल एक यही रस है, जिसमें उग्रता, मरण और आलस्य को छोड़कर शेष सभी संचारिभावों, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारिभावस्वरूप स्थायिभावों का समय अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्बन्ध रहता है।[2] वस्तुतः देखा जाए तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृंगार रस के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध-स्थापन हो ही जाता है। शारदातनय सभी संचारिभावों का शृंगार रस से संबंध स्वीकार करते हैं।[3] किन्तु केवल स्थायी और संचारिभाव ही क्यों; अनुभाव और सात्त्विक भावों की सर्वाधिक स्थिति भी शृंगार रस के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—के साथ ही सम्भव है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण और शाप हेतुक—ये पाँच भेद, काम की चक्षुःप्रीति आदि बारह तथा अभिलाष आदि अन्य दस दशाएँ, आलम्बन विभाव के अंतर्गत नायक, नायिका सखी दूती आदि का विस्तृत भेद-निरूपण; तथा नायक-नायिका के भाव, हाव हेलादि सत्त्वज अलङ्कार—ये सभी प्रसंग शृङ्गार रस की व्यापकता के साथ साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता भी सिद्ध करते हैं। रसों में केवल यही एक रस है, जिसमें दोनों आलम्बनों (तथाकथित आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में अन्य रसों के आलम्बनयुगल परस्पर

---

१ तत्र शृङ्गारस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वानपि हृद्यत्वेति पूर्वं शृङ्गारः।

—का० प्र० पृष्ठ ८१; एकावली पृ० ५५; ना० द० पृष्ठ १९१

२ त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः। सा० द० ३।१८६

३ समस्तधर्माधारः शृङ्गारो रतिमत्सुते। भा० प्र० पृष्ठ ४१

शत्रु अथवा उदासीन हैं, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं। और फिर, समय समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द, भक्ति, कार्पण्य आदि तथाकथित रसों का भी शृंगार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः सोमनाथ के शब्दों में शृंगार रस का 'रस पतित्व' निर्विवाद सिद्ध है।

शान्तरस और उसकी समीक्षा

शान्तरस के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य कुलपति ने निम्नोक्त दो कथन प्रस्तुत किये हैं।

(१)

पहला कथन है—

"यह (शान्त रस) रस ही कहाता है भावध्वनि नहीं। तत्त्वज्ञान से निर्वेद उपजता सो स्थायी है और जहाँ स्थायी प्रधानता करके व्यक्त होवे सो वही रस है।
—रसरहस्य ३।६२ (वृत्ति)

इस कथन से कुलपति का आशय यह है कि संसार की असारता रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है न कि आपद्, ईर्ष्या, गृहकलह आदि से उत्पन्न निर्वेद। प्रथम प्रकार का निर्वेद स्थायिभाव कहाता है और द्वितीय प्रकार का संचारिभाव। स्थायिभाव निर्वेद (जिसे विश्वनाथ ने संचारिभाव 'निर्वेद' से पृथक् दिखाने के लिए 'शम' नाम दिया है) शान्त रस का विषय है और संचारिभाव 'निर्वेद' भाव-ध्वनि का, जिसमें प्रधान रूप से निर्वेदादि संचारिभावों की ही व्यंजना होती है रत्यादि स्थायिभावों की नहीं। कुलपति की यह धारणा कोई नवीन धारणा नहीं है।

(२)

कुलपति का दूसरा कथन है कि—

"यह रस (शान्त रस) काव्य में ही होता है, नाट्य में नहीं होता। सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेदप्रधानवाक्य सहृदय की नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती इस डर से कि नृत्य (नाट्य) में बहुतेरे विषय हैं क्या चित्त किसी से विकार उपजै और काव्य तो एक विषय ही है इससे इसके श्रवण करने में कुछ भय नहीं इस कारण कवित्त में इसको कहो।
—रसरहस्य ३।६२ वृत्ति

कुलपति की यह धारणा कि शान्त रस नाटक का विषय नहीं है धनञ्जय के निम्नलिखित कथन से प्रभावित है—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। —दशरूपक ४।३५

(२)

धनञ्जय के टीकाकार धनिक ने शान्त रस को नाटक का विषय न होने का कारण यह दिया है कि 'शम' में सभी व्यापारों का विलय हो जाने के कारण नाटकों में इसका अभिनय नहीं हो सकता[१] और बादी रूप में काव्य का विषय होने का कारण यह दिया है कि काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय भी शब्द द्वारा प्रतिपादित हो सकने के कारण शान्त रस के लिए काव्य का विषय बनने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती[२]। पर सिद्धान्त रूप में धनिक को शान्त रस का काव्य में प्रधान रूप से प्रयोग स्वीकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके कथन का हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है—'शान्त रस का विषय दुःख-सुख, द्वेष-राग एवं किसी भी प्रकार की चिन्ता से विनिमुक्त होने के कारण मोक्षावस्था में आत्म-स्वरूपता का ही विषय है, अतः (काव्य आदि में) वह अनिर्वचनीय है। यही कारण है कि स्वयं श्रुति को भी 'नेति नेति' प्रक्रिया का समाश्रय ग्रहण कर अन्यद्वारा स्वर से इसकी अनिर्वचनीयता घोषित करनी पड़ी। वस्तुतः शान्त रस का आस्वादन लौकिक विषयों के रसिक जनों की शक्ति से बाहर है। × × × फिर भी यदि काव्यादि में शान्त रस के आस्वाद का निरूपण किया जाता है तो वह औपचारिक रूप से' ।[३]

---

१ सर्वथा नाट्यादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयाऽयोगात्।

—दशरूपक ४।३५ (वृत्ति)

२ ननु शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यतया विषयमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते। —दशरूपक ४।४५ (वृत्ति)

३ शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इसी प्रसंग में धनिक ने शान्त रस की अस्वीकृति के सम्बन्ध में तीन धारणाएं प्रस्तुत की हैं—

(क) कई आचार्य इस रस को स्वीकार करते हुए भी इसे काव्य, नाटक आदि का विषय नहीं बनाना चाहते। इसके प्रमाण-स्वरूप वे भरत की साक्षी देते हैं, जिन्होंने आठ स्थायिभावों एवं रसों की गणना की है।[1]

(ख) दूसरे आचार्य शम अथवा निर्वेद की नितान्त अस्वीकृति करते हैं, यहां तक कि साधारण व्यवहार में भी इसे स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि शम की स्थिति तभी सम्भव है जब राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-भावों का नितान्त विनाश हो जाए, पर संसारोत्पत्ति से लेकर अद्यावधि किसी भी सांसारिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति न तो सम्भव हो पाई है और न होने की सम्भावना है। इस प्रकार शम अथवा निर्वेद स्थायिभाव की संसार में सत्ता ही नहीं है, अतः शान्त रस के अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[2]

(ग) अन्य आचार्य शम स्थायिभाव अथवा शान्त रस की स्वीकृति करते हुए भी इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस अथवा वीर रस में मानते हैं।[3] संसार के प्रति घृणाभाव शान्त रस का एक अनिवार्य तत्त्व है, अतः यह बीभत्स रस में अन्तर्भूत हो सकता है। 'शम' नामक स्थायिभाव की अन्तिम परिणति है—परमात्म-तत्त्व अथवा मोक्ष की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में शम साधन है और यह प्राप्ति साध्य है। इस प्राप्ति के सभी साधनों

इत्येवंरूपस्य, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वाच्यता। तथाहि—श्रुतिरपि स एष नेति नेति इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। × × × तद् उपायैव शान्तरसास्वादो निरूपितः। —दशरूपक ४।३५ (वृत्ति)

1 तत्र केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनात् लक्षणाऽकरणात्। —वही ४।३५ (वृत्ति)

2. अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायात रागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। —वही

3. अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। —वही

को, जिनमें 'शम' का प्रमुख स्थान है, एक प्रकार का उत्साह नामक स्थायिभाव स्वीकार कर लेने से शान्त रस का अन्तर्भाव वीर रस में हो सकता है।

(४)

स्पष्ट है कि कुलपति को न तो अभाववादियों के समान शान्त रस की अस्वीकृति अभीष्ट है न अन्तर्भाववादियों के समान इस रस का वीर अथवा बीभत्स रस में अन्तर्भाव करना स्वीकार्य है और न धनिक के समान इन्हें इस रस को काव्य का प्रधान रूप में विषय मानना अस्वीकार है। इन के सामने तो दशरूपक की उपर्युक्त पंक्ति के ये शब्द हैं—'पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य'—और सम्भवतः इन्हीं शब्दों के आक्षेप द्वारा अथवा धनिक के वादिपक्ष के उपर्युक्त कथन द्वारा, अथवा गुरुमुख द्वारा इन्होंने शान्त रस की केवल काव्य में प्रयोग-स्वीकृति कर ली है, नाटक में नहीं। पर अपनी दोनों धारणाओं की पुष्टि में धनिक-सम्मत उपर्युक्त कारण उपस्थित न कर इन्होंने नवीन कारण उपस्थित किये हैं— 'नाटक बहुविषयी है और काव्य एकविषयी 'निर्वेदवासनायत' अर्थात् वैराग्यवान् व्यक्ति इस भय से [शान्त रस प्रधान भी] नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न बन जाए।"

कुलपति ने शान्त रस की नाटक में अस्वीकृति के सम्बन्ध में जो कारण प्रस्तुत किया है वह काव्य पर भी घटित हो जाता है। शान्त रस से सम्पन्न होता हुआ भी कोई काव्य आरम्भ से अन्त तक एक-विषयी कभी नहीं रह सकता अन्यथा वह काव्य न रह कर उपदेशात्मक ग्रन्थ बन जाएगा। अतः शान्तरसात्मक काव्य से भी विकारोत्पत्ति की—यदि वह होती है तो—उतनी ही सम्भावना है जितनी कि नाटक से। यह अलग प्रश्न है कि श्रव्य और दृश्य काव्यों द्वारा प्राप्य प्रभाव की क्षिप्रता में काल का तारतम्य सदा और अवश्य बना रहता है।

कुलपति की यह धारणा भी हमारे विचार में भ्रान्त है कि बहुविषयात्मक होने के कारण शान्तरस प्रधान भी नाटक निर्वेदवासनात्मक सहृदय के लिए विकारोत्पादक है। वस्तुतः सफल नाटकों [और काव्यों में भी] प्रधान रस का पर्यवसान इतनी प्रबल शक्ति और हृदयहारिणी युक्ति से होता है कि पूर्व पक्ष स्वयं ही दब कर न केवल प्रधान रस के विरुद्ध स्वप्रभावोत्पादन की क्षमता खो बैठता है, अपितु प्रधान रस की प्रभावशील

चमत्कारोत्पादकता में और भी सहायक बन जाता है। उदाहरणार्थ, वीररस प्रधान किसी नाटक (अथवा काव्य) में प्रमुख स्थायिभाव 'उत्साह' की पूर्ण परिस्थिति हो जाने पर पूर्व-वर्णित भरत आदि नीच पात्रों द्वारा सम्पन्न कायरता प्रवर्तक क्रिया-कलापों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है और वह न केवल वीर अथवा कायर भी सहृदय को किंचित् उद्वेलित नहीं करता, अपितु विलोम रूप से इसके स्थायिभाव को और अधिक पुष्ट करता है। इसी प्रकार शान्तरस प्रधान नाटक अथवा काव्य में भी प्रमुख स्थायिभाव शम अथवा निर्वेद की पूर्ण परिस्थिति हो जाने पर पूर्व-वर्णित संसार-मोहोत्पादक प्रसंगों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है। वह न केवल सहृदय को किंचित् उद्वेलित नहीं करता अपितु शान्त रस की विभावादि-सामग्री के उपस्थित रहते समय तक विलोम रूप से उसके स्थायिभाव शम को—व्यवहार रूप में कहना चाहें तो उसके विरक्ति-भाव को—और अधिक पुष्ट कर देता है। जब यह स्थिति सामान्य सहृदय की होती है, तो फिर निर्वेदवासनात्मक विवेकशील सहृदयों के लिए तो कहना ही क्या! अतः शान्त रस को नाटक के विषय के रूप में अस्वीकृत करना युक्तिसंगत नहीं है।

शंका अब भी शेष रह जाती है कि कितने सम्य-हृदय हैं जो नाटक देखते फिरते हैं जिनके लिए शान्तरस-प्रधान नाटकों का निर्माण किया जाय। इस शंका का समाधान प्रमाणात्मक रूप में करने से सरल हो जाएगा। कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो वीर होते हुए भी वीररस प्रधान नाटक और काव्य देखने-सुनने में रुचि नहीं रखते और कितने ही वीतराग व्यक्ति ऐसे हैं जो अन्य रसों के प्रति रुचि रखते हुए भी शृंगार के प्रति रुचि नहीं रखते—"तर्हि वीतरागाणां न यूनो न रसास्य इति सोऽपि रसास्वादमतामिति।"[1] वस्तुतः नाटक और काव्य सहृदय समाज के विषय हैं, जिनके लिए सम्य हृदय अथवा असम्य-हृदय होना अनिवार्य नहीं है। ऐसी एक आपत्ति और भी की जा सकती है। शान्त रस में यथार्थ रुचि रखने वाले व्यक्ति संसार भर में मिलेंगे ही कितने! किन्तु एक तो, यही आपत्ति शान्तरस-प्रधान काव्य पर भी की जा सकती है जिसमें कुलपति ने इस रस के विधान की स्वीकृति की है और दूसरे, इसी आपत्ति के आधार पर शान्त रस

---

१ ध्वन्यालोक लोचन (भरत पाठ रसस् पृष्ठ ९१)

की अस्वीकृति न केवल इस रस के प्रति अन्यायमूलक है अपितु समाज को निर्वेद जैसी उदात्त वासना की अनुभूति और तज्जन्य शान्ति से वंचित रखना है। अतः सहृदयों के वर्गविशेष अथवा उनकी बहुसंख्या को लक्ष्य में रख कर किसी रस को नाटक अथवा काव्य में स्थान न देना अनुचित है।

(५)

शान्त रस की अस्वीकृति पर धनिक के दो आक्षेप शेष रह जाते हैं—इस रस की नाटक में अनभिनेयता और काव्य में अनिर्वचनीयता। इन दोनों आक्षेपों का कारण एक ही है—निर्वेद (शम) में शेष सभी व्यापारों का विलय। अभिनव गुप्त ने भी वादी के मुख में से इसी आशय का कथन करवाया है—न हि चेष्टाद्युपरमः प्रयोगयोग्यः।[1] निस्सन्देह निर्वेद की पर्यवसानभूमि का, जिस में सभी विकार विलीन हो जाते हैं, अभिनय अथवा वर्णन कर सकना नितान्त असम्भव है, पर यह स्थिति केवल निर्वेद तक ही सीमित नहीं है अपितु रत्यादि सभी वासनाओं पर घटित होती है। यही कारण है कि रति की सम्भोग रूप अथवा क्रोध की हत्या रूप पर्यवसान-भूमि का नाटक में प्रदर्शन वर्जित है। इसी प्रकार निर्वेद की अन्तिमावस्था का—मुमुक्षु आदि शब्दों से निर्लिप्तता का—न तो अभिनय सम्भव है और न वर्णन। फिर भी संसार को असार मिथ्या और माया-जाल में आविष्ट अतएव त्याज्य प्रदर्शित करने वाले कारणों अर्थात् विभावों उनसे मुक्त होने के अभिलाषी निर्वेदवासनोद्बुद्ध हुए जैसे सन्तमनीषी व्यक्ति के उत्तरोत्तर वृद्धिशील संघर्षों अर्थात् अनुभावों, तथा उसके हृदयस्थ चिन्ता हर्ष आदि भावों अर्थात् संचारिभावों का तो नाटक आदि में वर्णन उसी प्रकार सहज-सम्भव है, जिस प्रकार शृंगार आदि अन्य रसों के विभाव अनुभाव और संचारिभावों का। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर रुद्रट प्रणीत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु को शान्त रस में भी विभावादि की विद्यमानता के बल पर प्रमाणवादियों को उत्तर देना पड़ा होगा—अविद्यमानस्य रसत्वं नेष्यम्। तदयुक्तम्। भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात्।[2]

---

1 अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र) पृष्ठ ३३७; 'अभिनव आफ रस'ज़' पृष्ठ २०
2 काव्यालंकार (टीकाभाग) पृष्ठ १६६

अतः हमारे विचार में 'शम' का तत्त्वतः अनिर्वाच्य मानते हुए भी व्यवहार रूप में उसे काव्य और नाटक दोनों का वर्ण्य विषय स्वीकृत करना संगत है। स्वयं धनञ्जय ने इसी प्रसंग में 'शम' की प्रतीति के सम्बन्ध में चार विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है—मुदिता मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा, और धनिक ने इनका सम्बन्ध क्रमशः इन चित्तवृत्तियों के साथ जोड़ा है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप।[1] इन दोनों आचार्यों के इस कथन का आशय यह है कि विकास आदि सूक्ष्म एवं आन्तरिक वृत्तियाँ हर व्यक्ति में विद्यमान हैं पर इनकी परिणति उपर्युक्त स्थूल एवं बाह्य रूप में जिस व्यक्ति में हो जाती है वह व्यक्ति 'शान्त' अथवा कुलपति के शब्दों में निर्वेदवासनावन्त कहाता है। अब इसका शम अर्थात् निर्वेद मुदिता मैत्री आदि बाह्य रूप में प्रकट हो जाने के कारण काव्य, नाटक आदि का विषय बन सकता है। वस्तुतः 'शम' की यह स्थिति अन्य स्थायिभावों की तुलना में किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। काव्यशास्त्रीय [एवं मनोवैज्ञानिक] सिद्धान्तों के अनुसार रति, हास आदि स्थायिभाव तथा निर्वेद, करुणा आदि संचारिभाव हर व्यक्ति में वासना रूप से विद्यमान रहते हुए भी काव्य नाटक आदि के विषय तब तक नहीं बन सकते, जब तक वे किसी प्रकार से बाह्य रूप में प्रकट नहीं हो जाते। ठीक यही यथार्थता शम (निर्वेद) के सम्बन्ध में भी है। अतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का समान रूप से प्रतिपाद्य विषय बन सकता है। और यदि शम की प्रकर्षता का—दूसरे शब्दों में मोक्षावस्थाप्राप्ति का—वर्णन काव्य-नाटक आदि का विषय नहीं बन सकता—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यः, तो इसकी यह स्थिति भी रति आदि अन्य स्थायिभावों के ठीक अनुरूप ही है। उनकी पराकाष्ठा को भी काव्य का वर्ण्य विषय घोषित किया गया है। निष्कर्षतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का वर्ण्य विषय बन सकता है।

---

१ धनञ्जय—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता।
धनिक—यद्यपि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः। —दशरूपक ४।४५ तथा वृत्ति।

षष्ठ अध्याय

नायक-नायिका-भेद

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद को नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र और कामशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में स्थान मिला है—

(क) नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी चार ग्रन्थ सुलभ हैं—भरत का नाट्यशास्त्र धनंजय का दशरूपक सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोष और रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण। इन सब में नायक-नायिका-भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है, पर भरत के ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही अनुकरण मात्र है।

(ख) नायक-नायिका-भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों—के दो वर्ग हैं—

(१) शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ—इन ग्रन्थों में से रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय हैं। इन के अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्निपुराणकार, श्रीकृष्णकवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र शारदातनय, विद्यानाथ शिंगभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और केशव मिश्र के काव्यशास्त्रों में भी नायक-नायिका-भेद प्रकरण को स्थान मिला है पर इन ग्रन्थों में इस विषय-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

(२) केवल नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ—इस वर्ग में दो ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं—भानुमिश्र का 'रसमंजरी' और रूपगोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि'। तीसरा ग्रन्थ सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब' का 'शृंगार मंजरी' प्रसिद्धि की दृष्टि से न सही, पर विषय-व्यवस्था और मौलिक मान्यताओं की दृष्टि से अवश्य सम्मान के साथ उल्लेखनीय है।

(ग) कामशास्त्र-सम्बन्धी चार प्रख्यात ग्रन्थ सुलभ हैं—वात्स्यायन का 'कामसूत्र', कक्कोक (कोका-पण्डित) का 'रतिरहस्य'; महाकवि कल्याण

मल्ल का 'अनंगरंग' और ज्योतिरीश्वर का 'पंचसायक'। अन्तिम दो ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद का निरूपण रति-रहस्य पर आधृत है, तथा अति संक्षिप्त एवं साधारण कोटि का और लगभग एक सा है।

प्रमुख काव्यशास्त्रियों द्वारा नायक-नायिका-भेद का निरूपण

(१) भरत

भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र के 'सामान्याभिनय' नामक २४ वें अध्याय में स्त्री पुरुष संयोग [शृंगार] के स्वरूप-निर्देश[1] के उपरान्त नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। 'वाह्योपचार' नामक २५ वें तथा प्रकृति-भेद नामक ३४ वें अध्याय में भी इसी प्रसंग पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि आचार्य का लक्ष्य नाटक की अभिनेयता के विषय में सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, पर साथ ही नर और नारी के पारस्परिक रति-सम्बन्धों तथा मुख्यतः इसी आधार पर विभिन्न भेदों की चर्चा भी की गई है। स्थान स्थान पर आचार्य कामशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर भी अपने समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कामशास्त्र के किसी ग्रन्थ के आधार पर प्रकाश डालते गए हैं। अभिनय-सिद्धान्तों का निर्माण ही प्रधान लक्ष्य होने के कारण आचार्य साथ साथ यह चेतावनी भी देते जाते हैं कि स्त्री-पुरुष के अमुक-अमुक व्यवहार रंगमंच पर नहीं दिखाने चाहिएँ। तात्पर्य यह कि नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद तथा तत्सम्बन्धी व्याख्यान यद्यपि गौण रूप में प्रस्तुत हुआ है फिर भी आगामी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लगभग सभी नायक-नायिका-भेदों, और उन के उदाहरणों के मूल स्रोत भरत के इन्हीं प्रसंगों में यत्र-तत्र छिपे पड़े हैं। इसी में ही ग्रन्थ और उस के प्रणेता आचार्य का गौरव निहित है।

(क) नायक-भेद—नाट्यशास्त्र में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेदों की परिगणना हुई है—

(१) प्रकृति के आधार पर पुरुष (नायक) के तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अधम।[2]

(२) शील के आधार पर नायक के चार भेद—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[3]

(३) नारी के प्रति रतिसम्बन्धी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर पुरुष के पाँच भेद—चतुर, उत्तम, मध्यम अधम और सम्प्रवृत्त।[4]

---

१ ना० शा० २३।६२ २ ना० शा० ३४।२ ३४।१७ २४।८

(४) नायिका नायक के प्रति प्रेम अथवा क्रोध के आवेश में आकर जिन सम्बोधनों का प्रयोग करती है उन सब का स्वरूप भरत ने प्रसंग प्रसंग दिखाया है। इस दृष्टि से भी नायक के भरत-सम्मत निम्नलिखित अन्य भेद माने जा सकते हैं—

स्नेहावेश-जन्य सम्बोधनों के आधार पर नायक के सात भेद—प्रिय कान्त विनीत नाथ स्वामी जीवित और नन्दन।[1]

क्रोधावेश जन्य-सम्बोधनों के आधार पर नायक के सात भेद—दुःशील दुराचार, शठ वाम विरूपक, निर्लज्ज और निष्ठुर।[2]

(ख) नायिका भेद—नाट्यशास्त्र में निम्नोक्त आधारों पर नायिका-भेदों का उल्लेख हुआ है—

(१) निम्नलिखित अलौकिक और लौकिक जातियों के शील के आधार पर नारी (नायिका) के २१ भेद—देवताशीला असुरशीला, गन्धर्वशीला यक्षशीला नागशीला, पतत्रीशीला, पिशाच शीला यक्षशीला व्यालशीला नरशीला, वानरशीला हस्तिशीला, मृगशीला मीनशीला उष्ट्रशीला मकरशीला, खरशीला सूकरशीला, वाजीशीला, महिषाशीला, अजा शीला और गौशीला।[3]

(२) सामाजिक व्यवहार के आधार पर नारी के तीन भेद—बाह्या (कुलीना), आभ्यन्तरा (वेश्या) और बाह्याभ्यन्तरा (अथवा कृतशौचा अर्थात् वेश्यावृत्ति त्याग कर शुद्ध रूप से प्रेमी के साथ रहने वाली);[4] और इसी आधार पर दो अन्य भेद—कुलजा और कन्यका।[5]

(३) नायक के साथ संयोग अथवा वियोग की अवस्थानुसार नायक-नायिका के आठ भेद—वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीन पतिका कलहान्तरिता खण्डिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका।[6]

इसी प्रकरण में भरत ने खण्डिता, विप्रलब्धा कलहान्तरिता और प्रोषित-पतिका की अन्तर्वेदना का भी उल्लेख किया है,

---

१ २ ३ ना० शा० २४।२११, २४।२१३, २४।२०७-१५

४ ५. ना० शा० २४।१७२-१७५   ६ ना० शा० २४।२ १ २ ४

तथा स्वाधीनपतिका के उल्लास और अभिसारिका के अभिसरण-प्रकार की भी चर्चा की है।[1] इस प्रकार भरत के दृष्टिकोण से उपर्युक्त आठ नायिकाएँ इन चार वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(क) खण्डिता विप्रलब्धा कलहान्तरिता और प्रोषितपतिका।
(ख) स्वाधीनपतिका
(ग) अभिसारिका
(घ) वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता

(४) नायक के प्रति प्रेम के आधार पर नारी के तीन भेद—अन्यानुरा, अनुरक्ता और विरक्ता।[2]

(५) प्रकृति के आधार पर नायिका के तीन भेद—उत्तमा मध्यमा और अधमा।[3]

(६) यौवन-दशा के आधार पर नारी के चार भेद—प्रथमयौवना, द्वितीययौवना तृतीययौवना और चतुर्थयौवना[4]

(७) गुण के आधार पर नायिका के चार भेद—दिव्या नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका।[5]

(८) राजाओं के अन्तःपुर में समाश्रित नारियों के प्रकार—महादेवी, देवी स्वामिनी, स्थापिता, भोगिनी शिल्पकारिणी नाटकीया नर्तिका, अनुचारिका परिचारिका, संचारिका प्रेषणकारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी स्थविरा और आयुक्तिका।[6]

(ग) दूती-भेद—कामाग्नि की प्रशान्ति के लिए नायक अथवा नायिका द्वारा अपर पक्ष को सन्देश भेजने के लिए भरत ने दूती को सम्प्रयुक्त करने का विधान किया है।[7] पर दूती मूर्खा सुन्दरी, धनी अथवा रुग्णा नहीं होनी चाहिए। वह प्रोत्साहन देने में कुशल, मधुर भाषिणी अवसर को पहचानने वाली व्यवहार-निपुणा और रहस्य को गुप्त रखने वाली हो। पुरुष दूत भी यह कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।

उच्च जाति की अपेक्षा निम्न जाति की दूतियाँ परस्पर-सम्मेलन

---

१ भा शा २२।२१८-२२१
२ ३ ४ वही २५।१४-२०; ५।३८-४१ २२।२४; २५।४९-५२
५ ना०ल० (मि ला मे) २४। ६ भा शा २२।२८-३१
७ भा शा २२।१५ १२२ ८. भा शा २५।११ १२

कार्य में अधिक निपुण होती हैं। इसी कारण भरत ने सखी, प्रतिवेशिनी तथा कुमारी के अतिरिक्त इन दूतियों के नाम भी गिनाए हैं—कथनी, लिंगिनी, रंगोपजीविना, दासी, दारशिल्पिका, धात्री, पार्श्विनी और ईक्षणिका।[1]

(घ) नायक-सखा—नाटकीय पात्रों की सूची में विट, विदूषक और चेट की भी भरतमुनि ने गणना की है।[2] यही पात्र भावी आचार्यों द्वारा नायक-सखा माने गए हैं, पर भरत ने इनके स्वरूपाख्यान में कहीं भी इन्हें नायक-सखा के रूप में अभिहित नहीं किया।

(२) रुद्रट

रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के १२ वें अध्याय में शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यह प्रकरण इतना सुव्यवस्थित है कि आगे चल कर शताब्दियों पर्यन्त इसी भेद-योजना को ही मूल रूप में अपनाया गया। पर इस सुव्यवस्था का सारा श्रेय रुद्रट को नहीं दिया जा सकता। भरत और रुद्रट के बीच लगभग एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घ काल में काल-कवलित अनेक ग्रन्थों में इस प्रसंग की चर्चा हुई होगी, जिस का विकसित और परिष्कृत रूप रुद्रट के ग्रन्थ में स्थान पा गया। जो हो, आज तक की खोजों के अनुसार काव्यालंकार प्रथम काव्यशास्त्र है[3] जिस के नायक-नायिका-भेद को मूलरूप में अपना कर समय-समय पर उस में परिवर्तन और परिष्करण होता रहा।

(क) नायक तथा नायक-सहायक के भेद—नायक के नायिका के प्रति प्रेम-व्यवहार के आधार पर रुद्रट-निरूपित चार भेद हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।[4] भरत-सम्मत धीरोदात्तादि चार भेदों का उल्लेख रुद्रट ने सम्भवतः जान बूझ कर नहीं किया। वस्तुतः ये भेद शृंगार रस के नायक के हैं भी नहीं। नायक के नर्मसचिव (गुप्त बातों में सहायक) के

---

१ ना० शा० २४।२१, २४।५५, ५७, ५८

२ भरत और रुद्रट के बीच रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक ग्रन्थ में रुद्रट के अनुरूप ही नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। इन दोनों आचार्यों में रुद्रट पूर्ववर्ती माने गए हैं, अतः नायक-नायिका-भेद को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी रुद्रट को ही मिलना चाहिए।

३ का० अ० (रु०) १२।६

तीन भेद हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक।[1] भरत-सम्मत चेट को सम्भवतः हीन पात्र समझ कर रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया।

(ख) नायिका-भेद—रुद्रट के अनुसार नायिका के (सामाजिक बन्धन के आधार पर) प्रमुख तीन भेद हैं—आत्मीया, परकीया और वेश्या।[2]

आत्मीया के रति-विकास के आधार पर तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। एक ओर मुग्धा जहाँ 'नवयौवनजनित-मन्मथोत्साहा' होती है, मध्या 'आविर्भूत-मन्मथोत्साहा' और 'किंचिदुपगतसुरत-चातुर्या' होती है, वहाँ प्रगल्भा रतिकर्म-पण्डिता होती है, तथा नायक के अंक में प्रविष्ट होकर यह विवेक खो बैठती है कि यह कौन है मैं कौन हूँ और यह सब कुछ क्या हो रहा है।[3]

इनमें से मध्या और प्रगल्भा के [पति द्वारा प्राप्त प्रेम के आधार पर] पहले दो-दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा[4]; फिर इन दोनों के [मान-व्यवहार के आधार पर] तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और मध्या।[5] इस प्रकार ये बारह भेद, और मुग्धा का एक भेद मिल कर आत्मीया के कुल तेरह भेद हुए।

परकीया के दो भेद हैं—कन्या और अन्योढा, तथा वेश्या का एक ही रूप है। इस प्रकार नायिका के कुल १६ भेद हुए।

आत्मीया के रुद्रट ने फिर दो भेद माने हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका।[6] ये दोनों भेद परकीया और वेश्या के किसी भी रूप में सम्भव नहीं हैं।

आत्मीया, परकीया और वेश्या के दो-दो अन्य भेद इन्होंने माने हैं—अभिसारिका और खण्डिता। पर हमारे विचार में इन दोनों भेदों की संगति इन तीनों नायिकाओं के साथ घटित होना सम्भव नहीं है। अभिसरण का क्षेत्र परकीया तक ही सीमित है न वेश्या को इसकी आवश्यकता है और न आत्मीया को। परिस्थितिवश कभी इन्हें अभिसरण करना भी पड़े तो हमारे विचार में काव्यशास्त्र द्वारा उत्सव के लिए इन्हें 'परकीया' नाम से अभिहित करने की आज्ञा मिल जानी चाहिए। खण्डिता

---

१ का० अ० १२।१७

२-७ का० अ० १२।१६, १९, १८, २१, २७, २८, ३३, ३९, ३०, ३१

का सम्बन्ध आत्मीया के साथ है, परकीया के साथ भी यह संगत हो सकता है। पर वेश्या के साथ यह तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता—वैशिक से एक-वेश्यानुरक्तता की आशा रखना उसके लिए दुराशामात्र है। फिर किस वैशिक के लिए यह खण्डिता बन कर कुढ़ती रहेगी।

नायिका के भरत-सम्मत[1] स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद तथा उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद काव्यालंकार में भी परिगणित हुए हैं, उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों का गुणनफल नायिका भेद को (१६ × ८ × ३ =) ३८४ की संख्या तक पहुँचा देता है।[2] काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस स्थल को क्षेपक माना है।[3] हम नमिसाधु से सहमत हैं क्योंकि एक तो स्वाधीन पतिका आदि सभी भेदों का आत्मीया परकीया और वेश्या के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता और दूसरे इन भेदों में से उपर्युक्त चार भेदों—स्वाधीनपतिका प्रोषित पतिका अभिसारिका और खण्डिता—का एक ही प्रसंग में दो बार उल्लेख तर्कसम्मत और मनस्तोषक नहीं है।

अगम्या नारियाँ—रुद्रट ने निम्नलिखित अगम्या नारियों का उल्लेख किया है—सम्बन्धिनी, सखि (मित्रमात्र से परिचित), आत्रिया, राजदारा उत्तमवर्णदारा, निर्वासितदारा भिन्नरहस्या, व्यंगा (विकृतांगा) और प्रव्रजिता।[4]

(३) भोजराज

भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण ग्रन्थ के 'रसविवेचन' नामक पाँचवें परिच्छेद में और शृङ्गारप्रकाश के 'रत्याश्रम्बनविभावप्रकाश' नामक पन्द्रहवें परिच्छेद में नायक-नायिका भेद का निरूपण हुआ है। भोजराज के प्रतिपादन की एक विशेषता है—अपने समय तक प्रचलित अथवा अप्रचलित लगभग सभी काव्य सिद्धान्तों का यथासम्भव समस्त संकलन और सम्पादन। यह अलग बात है कि आगामी आचार्यों ने सम्भवतः उन के विस्तृत निरूपण से भयभीत होकर उन का अनुकरण नहीं किया। उनके नायक-नायिका-भेद

१ हरिहर मस्तुर ग्रन्थ पृष्ठ १०१

२ का० अ० पृष्ठ १५३-१५५

३ एताश्चतुर्दशायां मूले प्रक्षिप्ता। का० अ० पृष्ठ १५५ टीकाभाग

४ का० अ० पृष्ठ १५५

प्रकरण की भी यही दशा है। भेदों की भरमार होते हुए भी इन्हें वर्गबद्ध करने और संक्षिप्त लक्षणों में निर्दिष्ट करने का प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है। अन्य आचार्यों ने भेदों के गुणन द्वारा परस्पर असम्बद्ध प्रकारों को भी परस्पर सम्बद्ध करके विषय को जटिल बनाने के साथ साथ असंगत और लोकाचार-विरुद्ध बना दिया है। भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में तो यह भूल नहीं हुई, पर शृंगारप्रकाश में वे इस लोभ का संवरण नहीं कर सके। किन्तु जो हो, कोष का भी अपना महत्त्व होता है। भोजराज के नायक-नायिका-भेद का भी यही महत्त्व है।

(क) नायक-भेद

सरस्वतीकण्ठाभरण[1] में—इस ग्रन्थ में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेद प्रस्तुत हुए हैं—

(१) कथावस्तु के आधार पर—नायक (कथाव्यापी), प्रतिनायक उपनायक नायकाभास उभयाभास, तिर्यगाभास।

(२) गुण के आधार पर—उत्तम मध्यम, अधम।

(३) प्रकृति के आधार पर—सात्त्विक राजस तामस।

(४) परिग्रह के आधार पर—साधारण (अनेकानुरक्त) असाधारण (अनन्यानुरक्त)।

(५) धैर्यवृत्ति अथवा प्रवृत्ति के आधार पर—उद्धत, ललित, शान्त, उदात्त।

शृंगारप्रकाश[2] में—इस ग्रन्थ के नायक-भेद-प्रकरण में विशेष नवीनता नहीं है। भरत-सम्मत धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों का सरस्वतीकण्ठाभरण में परिगणित उक्त बारह प्रकार के नायकों (उत्तमादि तीन, सात्त्विकादि तीन साधारणादि दो तथा उद्धतादि चार) से गुणनफल नायकों की संख्या को १४४ तक पहुँचा देता है। पर भोजराज के मत में इस संख्या की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। इनके कथनानुसार मनीषी इन भेदों के मिश्रामिश्रण से अनेक अन्य भेद भी जान सकते हैं।

(ख) नायिका-भेद

१ स क भ ५।१ १ १ २ १ १ ६
२ शृंगारप्रकाश (राघवन) पृ १२ ११
३ एवमन्येऽपि विशेषा: भेदा संभेदतो भिन्न। श्ट प्र पृ १२ ११

सरस्वती कण्ठाभरण[1] में—इस ग्रन्थ में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेदों को प्रस्तुत किया गया है—

(१) कथावस्तु के आधार पर—नायिका (कथाव्यापिनी), प्रति-नायिका, उपनायिका अनुनायिका नायिकाभास।

(२) गुण के आधार पर—उत्तम मध्यम अधम।

(३) वयः और कौशल के आधार पर—मुग्धा मध्या, प्रगल्भा।

(४) धैर्य के आधार पर—धीरा अधीरा।

(५) परिग्रह के आधार पर—स्वीया अन्यदीया।

अन्यदीया के दो भेद—ऊढा, अनूढा।

(६) उपयमन के आधार पर—ज्येष्ठा, कनीयसी।

(७) मान के आधार पर—उद्धता उदात्ता, शान्ता ललिता।

(८) वृत्ति के आधार पर—सामान्या पुनर्भू (पत्यन्तरे प्राप्ता) स्वैरिणी।

(९) आजीविका के आधार पर—गणिका, रूपाजीवा, विलासिनी।

(१) अवस्था के आधार पर—भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि।

शृंगार प्रकाश[2] में—इस ग्रन्थ में नायिका के प्रमुख भेदों तथा प्रभेदानुसार भेदों का उल्लेख है—

(१) प्रमुख चार भेद—स्वकीया परकीया पुनर्भू और सामान्या।

स्वकीया और परकीया के भेद—

गुण के आधार पर—उत्तमा मध्यमा कनिष्ठा

परिणय के आधार पर—ऊढा और अनूढा

धैर्य के आधार पर—धीरा अधीरा

वय के आधार पर —मुग्धा मध्यमा प्रगल्भा

पुनर्भू के भेद—अक्षता क्षता यातायाता, यायावरा

सामान्या के भेद—ऊढा अनूढा स्वयंवरा स्वैरिणी वेश्या

वेश्या के भेद—गणिका विलासिनी रूपाजीवा।

न जाने किस प्रकार स्वकीया और परकीया नायिकाओं के उपर्युक्त दस-दस भेद भोजराज के कथनानुसार परस्पर गुणनक्रिया द्वारा १४१

---

१ स क म ५।१ १ १ १ १ ५ १ ० ११ ११६

२ शृ प्र (राघवन) पृष्ठ ६६

१४१ की संख्या तक पहुँच जाते हैं,[1] ग्रन्थ के उपलब्ध संस्करण से यह स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार भाव के कथनानुसार पुनर्भू और सामान्या के भेद भी सैकड़ों तक जा पहुँचते हैं।[2]

(२) नायिका के अवस्थानुसार ८ भेद[3]—सर्वप्रथम भरत द्वारा परिगणित वासकसज्जा आदि।

(ग) नायक-सहायक—

शकार लक्षक पीठमर्द विदूषक, विट चेट, पताका, प्रासंगिका और प्रकरी।[4]

(घ) नायिका-सखी—

सहजा पूर्वजा, आगन्तुः।[5]

(४) विश्वनाथ

विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण है।[6] इस प्रकरण में स्वकीया नायिका के उपभेदों की वृद्धि और दूत-दूती के नये भेदों—निसृष्टार्थ मितार्थ और सन्देशहारक के अतिरिक्त और कोई नवीनता नहीं है, पर विषय का इतना सुव्यवस्थित और सरल निरूपण इन से पूर्व नहीं हो पाया था। अपने समय तक की विस्तृत सामग्री में से सार ग्रहण करके उसे संक्षिप्त रूप में और विद्वानों तथा छात्रों, दोनों के लिए उपयोगी रूप में प्रस्तुत कर देना विश्वनाथ जैसे प्रौढ़ और सुलझे हुए आचार्य का ही काम था। गुणन-रीति द्वारा विश्वनाथ-सम्मत नायक-भेद-संख्या ४८ है;[7] और नायिका-भेद-संख्या १८४। स्वकीया के निम्नलिखित नये उपभेद[8] इस संख्या में सम्मिलित नहीं हैं—

---

१ शतमेतत् स्वकीयानां त्रिकव्यतिरिक्तम्।

× × ×

असुमय परकीयासूक्तम् कीत वामाः॥ भ॰ प्र॰ (शतक) पृष्ठ ११

२ पूर्वं पुनर्भूसामान्ययोः बहुसहस्रमनुपमा (वि) भेदोऽभ्यूहनीयः।

—भ॰ प्र॰ पृष्ठ ११

३ भ॰ प्र॰ पृष्ठ ११

४ ५, ६ भ॰ प्र॰ पृष्ठ ११३ ११५   ६ सा॰ द॰ ३।२६-८०

७ ८ वही ३।३८ ८   ८ वही ३।५८ ५१ ६

मुग्धा स्वकीया के ५ भेद—प्रथमावतीर्णयौवना प्रथमावतीर्णमदन विकारा, रति में वामा, मान में मृदु, समधिकलज्जावती।

मध्या स्वकीया के ४ भेद—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरयौवना, ईषत्प्रगल्भ-वचना, मध्यमव्रीडिता।

प्रगल्भा स्वकीया के ६ भेद—स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरत कोविदा, भावोन्नता, स्वल्पव्रीडा आक्रान्त-नायका।

(५) भानुमिश्र

भानुमिश्र के दो ग्रन्थों—रसतरंगिणी और रसमंजरी में क्रमशः रस और नायक-नायिका-भेद का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है। पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों के समान भानुमिश्र नायक-नायिका-भेद को शृंगार रस के आलम्बन विभाव का एक प्रसंग स्वीकार नहीं करते। पहले तो 'रसमंजरी' नाम ही इस तथ्य का सूचक है कि 'नायक-नायिका-भेद' रस प्रकरण का ही एक विभाग है, और दूसरे वे स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में इसी तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं—

तत्र शृङ्गारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते।

र मं पृष्ठ २

भानुमिश्र से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र-प्रणेताओं के ग्रन्थों में शृङ्गार रस के प्रकरण में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद जैसा विस्तृत प्रसंग रस-निरूपण में एक अवाञ्छित सी बाधा और विषय के अनुपात में एक अनुचित सी विषमता उपस्थित करता आया है। पर भानुमिश्र के इस स्वतंत्र निरूपण से इनके ग्रन्थों में ये दोष नहीं रहे। इस का प्रभाव हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों पर भी पड़ा। रसराज (मतिराम) सुखसागरतरंग (देव) शृङ्गारनिर्णय, रससारांश (दास) आदि अनेक ग्रन्थों में रसमंजरी के समान नायक-नायिका-भेद को स्वतंत्र रूप से स्थान मिला है न कि धारिस्वदपत्र के समान रस प्रकरण के अन्तर्गत। इस व्यवस्था से यह मान्यता प्रायः सिद्धान्त की कोटि तक पहुँच गई है कि काव्य के दस अंगों में से नायक-नायिका-भेद भी एक स्वतंत्र अंग है।

भानुमिश्र का नायक-नायिका-भेद प्रकरण उनके समय तक का विकसित रूप प्रस्तुत करता है। विषय के विस्तार और व्यवस्था की दृष्टि से यह प्रकरण अवेक्षणीय है। भरत और भोजराज के ग्रन्थों में विषय

का विस्तार था, पर इतनी सुव्यवस्था नहीं थी, रुद्रट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में व्यवस्था अवश्य थी, पर विषय-सामग्री संक्षिप्त और अस्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित की गई थी। किन्तु भानुमिश्र के निरूपण में विषय का स्वतन्त्र विस्तार भी है, और उसका सुव्यवस्था-पूर्ण प्रतिपादन भी।

रसमंजरी में नायक-नायिका-भेदों के लक्षण इतने संयत हैं कि आचार्य आत्म-विश्वास के साथ उन में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों के अभाव की सूचना भी आवश्यकतानुसार देते चलते हैं।[1] इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर तर्कसम्मत व्याख्यान इस ग्रन्थ की अन्य विशेषता है।[2] इन्हीं मुपुष्ट विशिष्टताओं के बल पर ही यह ग्रन्थ हिन्दी के नायक-नायिका-भेद निरूपक लगभग सभी रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख आधार ग्रन्थ रहा है।

(क) नायक-भेद[3]—भानुमिश्र के अनुसार नायक के प्रमुख भेद तीन हैं—पति उपपति और वैशिक। इनमें से प्रथम दो नायक नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार चार प्रकार के हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। शठता उपपति का नियत धर्म है, और शेष तीन उस के अनियत धर्म हैं। शठ के अन्तर्गत 'मानी' और 'चतुर' नायकों को भी भानुमिश्र ने समाविष्ट माना है, अतः इन के मत में किसी प्रकार आचार्य द्वारा सम्मत इन दो भेदों की गणना पृथक् रूप से नहीं करनी चाहिए। चतुर नायक दो प्रकार का होता है—वाक्चतुर और चेष्टाचतुर। इन्होंने वैशिक के तीन भेद माने हैं—उत्तम मध्यम और अधम। वस्तुतः यही तीनों भेद पति और उपपति के भी सम्भव हैं। प्रोषण के आधार पर नायक तीन प्रकार का होता है—प्रोषितपति प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।

---

१ अव्याप्तिवारणाय—तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। न च परिणीतानां परगामिनीनामव्याप्तिः, तत्र पतिव्रताया एव लक्ष्यत्वात्। र० मं० पृष्ठ ५

२ अव्याप्तिवारणाय—(क) पीतत्वमधीरत्वं लघुमय वा मानविकृतम्। परकीयात्वां मममपैव् तेषाममावश्यकत्वात्। मानवत्व न परकीयात्वमिति लघुमतत्वात्। र० मं० पृष्ठ ३

(ख) स्वीयाभासस्तु प्रकृत एव क्रम। भवत्स्वतासम्पादकत्व रसेतर-मरवास स्वीयाभिसारिकत्वमसम्भवात्। र० मं० पृष्ठ १७

३ र० मं० पृष्ठ १७१ १८७

आदि के आधार पर भोजराज कवि ने नायक के तीन भेद स्वीकार किये थे—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य।[1] भानुमिश्र को यह भेद स्वीकार नहीं है, पर उन्होंने इस अस्वीकृति का कोई पुष्ट कारण उपस्थित नहीं किया।[2]

भोजराज ने नायकाभास को भी नायक का एक प्रकार माना था।[3] नायकाभास का भानुमिश्र के शब्दों में अपर पर्याय है अनभिज्ञ, अर्थात् 'सांकेतिक चेष्टाज्ञानशून्य पुरुष'। 'अनभिज्ञ नायकाभास एव'[4] इस वाक्य में भानुमिश्र द्वारा प्रयुक्त 'एव' शब्द नायकाभास को प्रमुख नायकों की पंक्ति से बहिष्कृत सा कर रहा है।

(ख) नायिका-भेद—भानुमिश्र के अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या[5]।

(१) स्वीया[6]—स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद—[अविश्रब्ध-] नवोढा और विश्रब्धनवोढा। मध्या विश्रब्धनवोढा तो होती ही है प्रायः अति विश्रब्धनवोढा की सीमा तक भी पहुँच जाती है। प्रगल्भा के दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनन्दसम्मोहवती। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। फिर इन छहों नायिकाओं के पतिस्नेह के आधार पर दो दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार स्वीया के कुल १३ प्रमुख भेद हुए।

(२) परकीया—परकीया के दो भेद हैं—परोढा और कन्यका।[7] इनमें समय में प्रचलित गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता आदि नायिका-भेदों और इन के उपभेदों का अन्तर्भाव भानुमिश्र ने परकीया के अन्तर्गत माना है। सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानुमिश्र ने नहीं की। इस प्रकार नायिका के कुल प्रमुख भेद १३ + २ + १ = सोलह हुए। यही सोलह भेद भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठों भेदों तथा उत्तमादि तीन भेदों के साथ गुणन द्वारा भानुमिश्र के मत में ३८४

---

१ भ० प्र० ५०—पृष्ठ ८७ २ र० मं० पृष्ठ ११
३ स० क० भ० ५।१ ? ४ र० मं० पृष्ठ १८७
५ र० मं० पृष्ठ ५ ६ र० मं० पृष्ठ ७-११
७-८ र० मं० पृष्ठ ५१, ५५, ८१

तक पहुँच जाते हैं।[१] इस संख्या में भानुमिश्र निरूपित नायिका के अन्य तीन भेद—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता सौन्दर्य गर्विता) तथा (लघु-मध्यम-गुरु) मानवती[२] सम्मिलित नहीं हैं। अवस्था के अनुसार प्रवत्स्यत्‌पतिका नामक नवीं नायिका भी इन्होंने गिनाई है।[३] भानुमिश्र कवि द्वारा परिगणित नायिका के दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेद इन्हें स्वीकृत नहीं हैं।[४]

(ग) नर्मसचिव भेद—पीठमर्द[५] विट चेटक विदूषक[६]

(घ) दूती-निरूपण—

दूती के कर्म हैं—संघटन उपालम्भ शिक्षा, परिहास आदि,[८]
तथा दूती के कर्म हैं—संघटन, विरह-निवेदन आदि[७]।

(६) रूपगोस्वामी

रूप-गोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि' अपने ढंग का निराला ग्रन्थ है। इस पर जितना गर्व वैष्णव-सम्प्रदाय वालों को है हमारे विचार में उससे कहीं अधिक काव्यशास्त्र के प्रेमियों का भी हो सकता है। नायक-नायिका-भेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को इन्होंने मधुर रस के रूप में ढाल कर नवीन पथप्रदर्शन तो किया है साथ ही नायक-नायिका-भेद से प्रभावित भक्तकवियों को शृंगारी कवि कहाने के लांछन से मुक्त करने का प्रयास भी किया है। रूपगोस्वामी ने रसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ में कृष्ण भक्ति के विविध रूपों के आधार पर भक्ति-परक पाँच रस माने हैं—शान्त, प्रीति प्रेय, वत्सल और उज्ज्वल। उज्ज्वल रस का अपर पर्याय है—मधुर रस। इसे इन्होंने भक्तिरसराट् कहा है। मधुर रस का स्थायि

१-३ र मं पृष्ठ १५१; ८८

४ मं म च पृष्ठ ८७, र मं पृष्ठ ९२ ९३

५,६,७ र मं पृष्ठ १११; ११२; ११८

८ मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।

पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥

शान्तप्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु मुख्येषु यः पुरा रसामृतसिन्धौ संक्षेपेणोदितः। स एवाऽनयाप्तपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः पुनरत्र × × × × × × उच्यते।

—उ नी म १। २ तथा टीका भाग

भाव मधुरा रति है, और आलम्बन विभाव स्वयं कृष्ण और उस की वल्लभाएं हैं।[1] उज्ज्वलनीलमणि में नायक-नायिका का सारा भेद प्रपंच कृष्ण, राधा और अन्य गोपियों पर सुघटित करने का सुप्रयास किया गया है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य नायक-नायिका-भेद' के लक्षण-पक्ष में भानुमिश्र के रसमंजरी ग्रन्थ से प्रायः प्रभावित हैं, और लक्ष्य पक्ष में रूपगोस्वामी के इस ग्रन्थ से। इन्होंने उदाहरण-निर्माण के लिए प्रायः रूपगोस्वामी के समान ही गोपी-कृष्ण को नायक-नायिका के भेद का माध्यम बनाया है और इसी में हो इस ग्रन्थ का गौरव निहित है।

(क) नायक-भेद—उज्ज्वलनीलमणि में नायक-भेदों की संख्या ९६ मानी गई है जिनका विवरण इस प्रकार है—धीरोदात्तादि चारों नायक पूर्णतम पूर्णतर और पूर्ण रूप से तीन-तीन प्रकार के हैं। ये बारह भेद हुए। फिर ये भेद पति और उपपति दो रूपों तथा अनुकूलादि चार रूपों के साथ गुणन क्रिया द्वारा ९६ भेदों की संख्या तक जा पहुँचते हैं।[2] रूपगोस्वामी ने कृष्ण को रुक्मिणी आदि वल्लभाओं के पति और कुब्जा आदि के उपपति के रूप में वर्णित किया है।[3] नायक का वैशिक नामक भेद अस्वीकार कर इन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति न्याय ही किया है, अन्यथा कृष्ण और उनकी वल्लभाओं के बीच वैशिक-वेश्या-सम्बन्ध की स्थापना करके आचार्य निस्सन्देह 'भक्तिरसराट् मधुर रस' के निरूपण में सदा के लिए एक अपरिमार्ज्य लाञ्छन छोड़ जाते।

(ख) नायिका-भेद —उज्ज्वलनीलमणि में परम्परागत नायिका भेद के अतिरिक्त हरिप्रिया वृन्दावनेश्वरी तथा यूथेश्वरी के भेदों का भी निरूपण है[4] पर ये भेद हमारी विषय-सीमा के अन्तर्गत नहीं आते।

इस ग्रन्थ के अनुसार नायिका के प्रमुख दो भेद हैं—स्वकीया और

---

1 वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः। उ० नी म पृष्ठ ५

2. उ नी म पृष्ठ ३

3 × × × धर्मिमक्तादिसंबद्धमहिषीषु पतित्वम्। कुब्जादौ तूपपतित्वम्।
—उ नी म पृष्ठ ११ टीका भाग

4 ५ उ नी म ७ म, १५, १४, १६ अध्याय

२

परकीया। परकीया के दो उपभेद हैं—कन्या और परोढा। मुग्धादि तथा धीरादि भेदों से ये दो नायिकाएँ १५ प्रकार की हो जाती हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है[1]—

(१) स्वकीया के ७ भेद—मुग्धा=१; मध्या-प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा)=६

(२) परकीया के ८ भेद—(क) परोढा मुग्धा=१; परोढा मध्या-प्रगल्भा (धीरा, अधीरा धीराधीरा)=६; (ख) कन्या=१

उक्त पन्द्रह प्रकार की नायिकाएँ भरत-सम्मत स्वाधीनपतिकादि आठ तथा उत्तमादि तीन प्रकार की नायिकाओं के साथ गुणन द्वारा ३६० प्रकार की हो जाती हैं।[2]

विश्वनाथ ने मुग्धादि नायिकाओं के उपभेदों की भी चर्चा की थी। रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित मुग्धादि निम्नलिखित उपभेद कुछ सीमा तक विश्वनाथ-सम्मत उपभेदों के अनुकूल हैं[3]—

मुग्धा—नववयाः, नवकामा रति में वामा, सखीवशा, सव्रीडरतप्रयत्ना रोषकृतबाष्पमौना तथा मान में विमुखी।

मध्या—समानलज्जामदना प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी, किंचित्प्रगल्भवचना, मोहान्त-सुरतक्षमा मान में कोमला तथा मान में कर्कशा।

प्रगल्भा—पूर्णतारुण्या मदान्धा, उरुरतोत्सुका, भूरिभावोद्गमाऽभिज्ञा रसाक्रान्तवल्लभा अतिप्रौढवचना अतिप्रौढचेष्टा तथा मान में अत्यन्तकर्कशा।

(ग) नायक-सहाय-भेद[4]—चेटक, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसखा।

(घ) दूती-सखी-भेद[5]—इस ग्रन्थ में निरूपित दूती और सखी के भेदोपभेदों की संख्या अत्यधिक है पर इनका आगामी नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी निरूपणों पर कोई स्पष्ट प्रभाव लक्षित नहीं होता।

तुलना—रूपगोस्वामी और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित नायक-नायिका-भेद की तुलना करने पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

---

१. उ० नी० म० पृष्ठ ११२, १२५

२. सा० द० ३।५८-९; उ० नी० म० पृष्ठ १४१२९।

३. उ० नी० म० २५ अध्याय तथा; ७म अध्याय।

(१) पूर्ववर्ती आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद को शृंगार रस का विषय माना है, और रूपगोस्वामी ने कृष्णभक्ति-परक मधुर (उज्ज्वल) रस का।

(२) पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'वैशिक' और 'सामान्या' को भी नायक-नायिका भेद में स्थान दिया था, पर इनके मत में 'सामान्या' नायिका कृष्णकाव्य में रसाभास का विषय होने के कारण नायिका-भेद में स्थान पाने योग्य नहीं है। पिंगली [आदि तथाकथित सामान्या नायिकाओं] को इन्होंने परकीया ही माना है, क्योंकि वे भी कृष्ण के प्रति (अर्थ-निरपेक्ष होकर) एकनिष्ठ रमण-भाव रखती हैं। इनके ग्रन्थ में 'सामान्या' के अभाव के कारण 'वैशिक' का भी अभाव स्वतःसिद्ध है।

(३) इन से पूर्व भानुमिश्र ही अकेले आचार्य हैं, जिन्होंने मध्या प्रगल्भा स्वकीया नायिका के अतिरिक्त मध्या-प्रगल्भा परकीया के भी धीरा आदि तीन उपभेदों को स्वीकार किया था। पर इन्होंने एक तो केवल मध्या-प्रगल्भा परकीया के इन उपभेदों को स्वीकार किया है, और दूसरे, कन्या-परकीया के मानजन्य ये तीनों उपभेद इन्हें अभीष्ट नहीं हैं। हमारे विचार में 'कन्या' का भी परोपनायरत नायक के प्रति मान उतना ही स्वाभाविक है जितना कि परोढा परकीया और स्वकीया का।

(४) नायक के नायिका के प्रति प्रणय के आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेदों को भी नायिका-भेदों की पारस्परिक गुम्फनक्रिया में स्थान दिया था पर रूपगोस्वामी ने ज्येष्ठा-कनिष्ठा भेदों की चर्चा करते हुए भी इन्हें गणना में स्थान नहीं दिया। हरि की वल्लभाओं का ज्येष्ठा-कनिष्ठा होने से तात्पर्य भी क्या? अभी जो एक ज्येष्ठा है वही देखते-देखते अगले क्षण में कनिष्ठा भी बन जाती है।[1]

(५) नायिका के अवस्थानुसार स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों को इन्होंने सर्वप्रथम दो वर्गों में विभक्त किया है[2]—

(क) महिष्ठा अथवा हृष्टा—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा और अभिसारिका।

(ख) मत्सरवर्धिता अथवा खिन्ना—शेष पाँच नायिकाएँ।

सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब'—

डॉ० वी० राघवन के सुझाव के फलस्वरूप सन्त अकबरशाह रचित

१, २ उ० नी० म० पृष्ठ १३ १३१, १०१

'शृङ्गारमंजरी' नामक नायक-नायिका भेद निरूपक संस्कृत-ग्रन्थ प्रकाशन में आया है। मूलतः यह ग्रन्थ आन्ध्र (तेलगु) भाषा का है फिर उसकी संस्कृत में छाया तैयार हुई है। इधर चिन्तामणि ने संस्कृतछाया का ही हिन्दी में छायानुवाद प्रस्तुत किया है।[1]

शृङ्गारमंजरी एक अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इससे पूर्व भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ विषय की व्यवस्था और सरल प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसी ग्रन्थ पर 'आमोद' नामक टीका[2] भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही होगी। शृंगारमंजरी के लेखक ने 'रसमंजरी' और 'आमोद' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और लक्षणों का तर्कपूर्ण युक्तियुक्त एवं सहज-साम्य रूप में सरल गद्यबद्ध शैली में खण्डन किया है। विषय का निर्वाह अत्यन्त सुबोध और दुराग्रह-रहित है। खण्डन के उपरान्त लेखक की मौलिक धारणाएँ उसकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती हैं। ग्रन्थ अत्यन्त सरल है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद के समावेश की परम्परा अब प्रायः समाप्त हो चुकी थी। स्वतन्त्र रूप से नायक-नायिका-भेद पर सम्भवतः कुछ अन्य ग्रन्थ लिखे गए हों जो कि अनुपलब्ध हैं। अतः 'शृंगारमंजरी' का किसी संस्कृत ग्रन्थ पर प्रभाव न पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, पर हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर इसका प्रभाव न पड़े, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है और विशेषतः तब जब कि हिन्दी के युगान्तरकारी आचार्य चिन्तामणि द्वारा इस ग्रन्थ की हिन्दी-छाया भी तैयार हो चुकी थी। सर्वप्रथम अकबर द्वारा प्रस्तुत नायिका के उद्बुद्धा, उद्बोधिता आदि भेदों की चर्चा अवश्य हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों तोष[3] गुलाम नबी रसलीन[4] भिखारीदास आदि ने की है। कुमारमणि[5] द्वारा प्रस्तुत नायक-नायिका के भेदोपभेदों पर भी अकबर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है पर इनके ग्रन्थ का समग्र रूप में किसी ने भी अनुकरण

---

१ इस सम्बन्ध में हमारा एक लेख 'हिन्दी अनुशीलन' (जनवरी—मार्च १९५) में, अथवा दिल्ली-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रस्तुत प्रबन्ध की टंकित प्रति (पृष्ठ ११ २२१) में देखिए।

२ रसमंजरी पर अप्रकाशित टीका (भूमिका हिन्दी पृष्ठ ११)

३ ४ ५ द्रष्टव्य हम नायक-नायिका भेद (अप्रकाशित) टंकित प्रति पृष्ठ २११ २१५, २१८ रसिकरसाल पृष्ठ ६

नहीं किया। इस उपेक्षा-भाव के दो कारण सम्भव हैं—पहला यह कि दक्षिण भारत की उपज 'शृङ्गारमंजरी की संस्कृत-छाया' उत्तर-भारतीय हिन्दी-आचार्यों को किन्हीं कारणों से अप्राप्य रही हो और चिन्तामणि की हिन्दी-छाया अपने मूलाधार के बिना अरुचिकर और दुर्बोध। उक्त कारण की अपेक्षा दूसरा कारण भी कम सबल प्रतीत नहीं होता और वह है—शृङ्गारमंजरी की खण्डन-मण्डनात्मक गद्यबद्ध गम्भीर शैली। इस खण्डन-मण्डन के प्रपंच में पड़कर व्यर्थ का विस्तार कौन करे।

खण्डन-मण्डन के लिए अकबर ने गद्य का आश्रय ग्रहण किया था जो कि अनिवार्य था। इधर हिन्दी के आचार्यों का गद्य पर अधिकार न था। स्वयं चिन्तामणि की 'शृङ्गारमंजरी' का गद्यभाग अत्यन्त शिथिल, अपरिमार्जित और अपुष्ट है। संस्कृत-छाया के बिना उसका समझ सकना हमारे विचार में असम्भव है। अकबर-रचित ग्रन्थ का अनुकरण न होने का प्रमुख कारण यही हो सकता है। इधर भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ सरल तथा खण्डन-मण्डन के प्रपंच से प्रायः विमुक्त था। शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा उदाहरण-निर्माण ही जिनका प्रमुख उद्देश्य हो, वे 'रस मंजरी' के स्थान पर 'शृंगारमंजरी' को अपना कर भला क्यों दुर्गम घाटी में प्रवेश करने का साहस करते।

अकबर के ग्रन्थ में रसमंजरी में निरूपित सभी नायक-नायिका-भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों को भी स्थान मिला है।[1] विस्तारभय से यहाँ केवल इन्हीं इतर भेदों की चर्चा की जा रही है—

(क) नायक-भेद—भानुमिश्र ने मानी और चतुर का अन्तर्भाव शठ नायक में किया था पर अकबर ने इन्हें पृथक् माना है।[2] शठ नायक के इन्होंने दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।[3]

नायक के दो वर्ग इन्होंने और बनाए हैं—प्रोषित, अभिलषित और विरही—ये तीन भेद एक वर्ग में हैं,[4] और मद्र, दत्त कुचमार और पांचाल—ये चार भेद दूसरे वर्ग में।[5] पहले वर्ग का आधार नायिका-वियोग है और दूसरे वर्ग का आधार कामशास्त्रीय मान्यता।

---

१ शृं मं के सभी सम्पूर्ण नायक-नायिका भेदों की तालिका के लिए देखिये शृं मं (भूमिका) पृ ११ ११५

२-५ शृं मं पृष्ठ १८६ शृं मं पृष्ठ ३१, ५ ५१, ५२

'शृङ्गारमंजरी' नामक नायक-नायिका भेद निरूपक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशन में आया है। मूलतः यह ग्रन्थ आन्ध्र (तेलगू) भाषा का है फिर उसकी संस्कृत में छाया तैयार हुई है। इधर चिन्तामणि ने संस्कृतछाया का ही हिन्दी में छायानुवाद प्रस्तुत किया है।[1]

शृङ्गारमंजरी एक अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इससे पूर्व भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ विषय की व्यवस्था और सरल प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसी ग्रन्थ पर 'आमोद' नामक टीका[2] भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही होगी। शृंगारमंजरी के लेखक ने 'रसमंजरी' और 'आमोद' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और लक्षणों का तर्कपूर्ण बुद्धिमान एवं सहज मान्य रूप में सरल गद्यमय शैली में खण्डन किया है। विषय का निर्वाह अत्यन्त सुबोध और दुराग्रह-रहित है। खण्डन के उपरान्त लेखक की मौलिक धारणाएँ उसकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती हैं। ग्रन्थ अत्यन्त सरस है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद के समावेश की परम्परा अब प्रायः समाप्त हो चुकी थी। स्वतन्त्र रूप से नायक-नायिका-भेद पर सम्भवतः कुछ ग्रन्थ ग्रन्थ लिखे गए हों जो कि अनुपलब्ध हैं। अतः शृंगारमंजरी का किसी संस्कृत-ग्रन्थ पर प्रभाव न पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं पर हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर इसका प्रभाव न पड़े यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है और विशेषतः तब जब कि हिन्दी के युगान्तरकारी आचार्य चिन्तामणि द्वारा इस ग्रन्थ की हिन्दी-छाया भी तैयार हो चुकी थी। सर्वप्रथम अकबर द्वारा प्रस्तुत नायिका के उद्बुद्धा, उद्बोधिता आदि भेदों की चर्चा अवश्य हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों तोष[3] गुलाम नबी रसलीन[4] भिखारीदास आदि ने की है। कुमारमणि[5] द्वारा प्रस्तुत नायक-नायिका के भेदोपभेदों पर भी अकबर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है पर इसके ग्रन्थ का समग्र रूप में किसी ने भी अनुकरण

१ इस सम्बन्ध में हमारा एक लेख 'हिन्दी अनुशीलन' । (जनवरी—मार्च १६५७) में, प्रयाग हिन्दी-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रस्तुत प्रबन्ध की टंकित प्रति (पृष्ठ १३१ १३२) में देखिए।

२ रसमंजरी पर अप्रकाशित टीका (न[illegible] में [illegible] पृष्ठ ११)

३ ४ ५. प्रवीण एक नायक-नायिका भेद (अप्रकाशित) टंकित प्रति पृष्ठ ४२३ ४१५, ४२८, रसिकरसाल पृष्ठ ६

नहीं किया। इस उपेक्षा-भाव के दो कारण सम्भव हैं—पहला यह कि दक्षिण भारत की उपज 'शृङ्गारमंजरी की संस्कृत-छाया' उत्तर-भारतीय हिन्दी-आचार्यों को किन्हीं कारणों से अप्राप्य रही हो और चिन्तामणि की हिन्दी-छाया अपने मूलाधार के बिना जटिल और दुर्बोध। उक्त कारण की अपेक्षा दूसरा कारण भी कम सक्षम प्रतीत नहीं होता और वह है—शृङ्गारमंजरी की खण्डन-मण्डनात्मक गद्यबद्ध गम्भीर शैली। इस खण्डन-मण्डन के प्रपंच में पड़कर व्यर्थ का विस्तार कौन करे।

खण्डन-मण्डन के लिए अकबर ने गद्य का आश्रय ग्रहण किया था जो कि अनिवार्य था। इधर हिन्दी के आचार्यों का गद्य पर अधिकार न था। स्वयं चिन्तामणि की 'शृङ्गारमंजरी' का गद्यभाग अत्यन्त शिथिल, अपरिमार्जित और अपुष्ट है। संस्कृत-छाया के बिना उसका समझ सकना हमारे विचार में असम्भव है। अकबर-रचित ग्रन्थ का अनुकरण न होने का प्रमुख कारण यही हो सकता है। इधर भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ सरल तथा खण्डन-मण्डन के प्रपंच से प्रायः विमुक्त था। शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा उदाहरण-निर्माण ही जिनका प्रमुख उद्देश्य हो, वे रसमंजरी के स्थान पर 'शृंगारमंजरी' को अपना कर भला क्यों दुर्गम घाटी में प्रवेश करने का साहस करते?

अकबर के ग्रन्थ में रसमंजरी में निरूपित सभी नायक-नायिका-भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों को भी स्थान मिला है। विस्तारभय से यहाँ केवल इन्हीं इतर भेदों की चर्चा की जा रही है[1]—

(क) नायक-भेद—भानुमिश्र ने मानी और चतुर का अन्तर्भाव शठ नायक में किया था पर अकबर ने इन्हें पृथक् माना है।[2] शठ नायक के इन्होंने दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।[3]

नायक के दो वर्ग इन्होंने और बनाए हैं—प्रोषित अभिमिलित और विरही—ये तीन भेद एक वर्ग में हैं, और मत्त, दत्त, कुचमार और पांचाल—ये चार भेद दूसरे वर्ग में।[4] पहले वर्ग का आधार नायिका विभेद है और दूसरे वर्ग का आधार कामशास्त्रीय मान्यता।

---

१ शृ० मं० के सभी मान्य नायक-नायिका भेदों की तालिका के लिए देखिये शृ० मं० (भूमिका) पृ० ११०-११८

२-५. शृ० मं० पृष्ठ १८३ शृ० मं० पृष्ठ ११; ५ ५१; ५४

(ख) नायिका-भेद—भानुमिश्र के समान अकबर ने स्वकीया के तीन भेदों का उल्लेख किया है—मुग्धा मध्या और प्रगल्भा।[1] मध्या स्वकीया के इन्होंने दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।[2] भानुमिश्र ने प्रगल्भा नायिका का केवल स्वकीया के साथ सम्बन्ध किया था—'पतिमात्र विषयकेलिकलापकोविदा प्रगल्भा'।[3] पर अकबर ने प्रगल्भा के साथ परकीया और सामान्या का भी सम्बन्ध किया है।[4]

परोढा परकीया के दो नये भेद अकबर ने गिनाए हैं—उद्बुद्धा और उद्बोधिता।[5] उद्बुद्धा के तीन उपभेद हैं—गुप्ता निपुणा (स्वयंदूती) और लक्षिता। उद्बोधिता के भी तीन उपभेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। लक्षिता के दो उपभेद हैं—प्रच्छन्न-लक्षिता और प्रकाश-लक्षिता। इनमें से प्रकाश-लक्षिता के फिर चार उपभेद हैं—कुलटा, मुदिता अनुशयाना और साहसिका।[6]

इस ग्रन्थ में सामान्या नायिका के निम्नोक्त पाँच उपभेद सर्वप्रथम माने गए हैं—स्वतंत्रा, जनन्याधीना नियमिता कल्पितानुरागा और कल्पितानुरागा।[7]

अवस्थानुसार परम्परागत अष्ट नायिकाओं में नवीं नायिका अकबर ने और जोड़ी है—वक्रोक्तिगर्विता, जिसे भानुमिश्र ने अन्यत्र स्थान दिया था। इन नौ नायिकाओं के उपभेद भी अकबर ने गिनाए हैं।[8] विस्तारभय से यहाँ उनके नाम प्रस्तुत नहीं किए जा रहे।

संस्कृत में शृंगारमंजरी प्रथम ग्रन्थ है जिसमें काम-शास्त्रीय हस्तिनी, चित्रिणी शंखिनी और पद्मिनी नायिकाओं का उल्लेख हुआ है।

(ग) नायक-सहाय, सखी और दूती[1] —इन तीनों के भेद निरूपण में ग्रन्थकार ने रसमंजरी का आधार ग्रहण किया है। इनके विवेचन में भी इतनी गम्भीरता और सूक्ष्मता नहीं है जितनी नायिका-भेद विवेचन में दिखाई गई है।

१, २, ३ शृं. मं. पृष्ठ १८३ अ. मं. पृष्ठ ३, ४
४, ५ शृं. मं. पृ. २२ ७ शृं. मं. पृ. [illegible]
५. अत्र सर्वं—इयं परकीया उद्बुद्धा उद्बोधिता इति भेदद्वयवती भवति। शृं. मं. पृष्ठ ८
६. १ शृं. मं. पृष्ठ ८ १२, १६, १८–२७, ५४, [illegible]

कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद

कामशास्त्र और काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में निरूपित नायक-नायिका-भेद-निरूपण की यदि काव्य के अन्य अंगों—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस गुण दोष रीति और अलंकार—के निरूपण के साथ तुलना की जाए तो यह आपाततः लक्षित हो जाता है कि इन काव्यांगों की विषय-सामग्री का जितने संयम, गम्भीर और तर्कपूर्ण खण्डनमण्डनात्मक विमर्श के साथ परिपक्व और सुगठित शैली में प्रतिपादित किया गया है उसका एक अंश भी नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को प्रस्तुत करने में व्यवहृत नहीं हुआ। विषयवस्तु और शैली दोनों की दृष्टि से ये प्रकरण काव्यशास्त्र में पृथक् से दीखते हैं। इसका सहजमान्य कारण यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिका-भेद जैसे अगम्भीर विषय के प्रतिपादन के लिए न इतनी विमर्शपूर्ण विवेचना की आवश्यकता थी और न इतनी उत्कृष्ट शास्त्रीय गम्भीर शैली की।

पर इस कारण से मनस्तुष्टि नहीं होती। सहसा एक अन्य प्रश्न सामने आ जाता है—यह विषय अपने आप में इतना अगम्भीर क्यों है? इसका एक ही उत्तर हमारे विचार में सम्भव है कि यह काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र का विषय न होकर मूलरूप में कामशास्त्र जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर विषय का ही एक अंग है। यही कारण है कि भरत से लेकर भानुमिश्र से पूर्व तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षों में इस प्रसंग के प्रतिपादन में न खण्डनमण्डनात्मक शैली को अपनाया गया, न भेदोपभेदों के स्वरूप पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया और न कभी इस प्रकरण को रस-प्रकरण से असम्पृक्त एक स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में स्वीकृत किया गया।

उपर्युक्त धारणा की पुष्टि भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के नायक-नायिका-भेद प्रसंग के अन्तर्गत उन स्थलों से हो जाती है, जिनमें न केवल कामशास्त्र का आधार स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया गया है[1] अपितु कामशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर भी यथेष्ट

---

1 उदाहरणार्थ—

(क) तत्र राज्ञोपभोगं तु व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।
उपचारविधिं सम्यक् कामसूत्र-समुत्थितम् ॥

प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ प्रेमसूचक इंगित,[1] राजाओं तथा सामान्य पुरुषों द्वारा नारियों को वश में करने के उपाय[2] नायक (सम्भोग) के कारण,[3] सम्भोग का समय[4] सम्भोग से पूर्व के आयोजन[5] सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार,[6] नायक का स्वागत[7] अपराधी नायक का व्यंग्यमिश्रित तिरस्कार पूर्ण स्वागत,[8] मान-प्रकार,[9] कुपित नारियों को प्रसन्न करने के उपाय[10] आदि आदि। निस्सन्देह नाट्यशास्त्र का प्रधान लक्ष्य केवल अभिनेय क्रियाकलापों का प्रतिपादन करना है अतः रंगमंच के लिए त्याज्य दृश्यों के विषय में भी आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गए हैं[11] पर इतना तो निश्चित है कि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रसंग के निर्माण के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का पुष्टाधार विद्यमान है।

(क) भावस्वरूपास्तु द्विज या नायिका नाट्यसंश्रयाः ।
एतासां यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ॥

(ख) कुर्यादभ्यामेवार्थं मोक्षः कामाश्रयो विधिः ।
ना शा २४ । १११ १२ २१६ २२७

(ग) मान्यमान्यौ विदित्वा च तत्स्तैस्तैरुपक्रमैः ।
प्रसादयेन्नरो नारीं कामतन्त्रे समीक्ष्य तु ॥ ना शा २५ । ६५

१ ना शा २४ । १५६-१५८ (क)

२ वही—२४ । १६७-१६६, २५ । ६५-७२

३, ४ वही—२५ । २२२-२२६; २ ३

५. राज्ञामन्तःपुरगते विषयो भोग इष्यते ।
बाह्योपचारो यश्चैव स राज्ञां परिकीर्तितः ॥ ना शा २४ । २

६ ना शा २४ । २२४ २३१   ७ ना शा २४ । २२८

८. ना शा २४ । २३३ २५   ९ ना शा २४ । २६५, २८१

१० ना शा २५ । ६६ ६५

११ यद्यत् स्वपेद्यद्यक्ताद्वेऽप्यभी सहितोऽपि वा ।
चुम्बनालिंगनं चैव तथा गुह्यं च यद् भवेत् ॥
दन्तं नखच्छेद्यं नीवीस्रंसनमेव च ।
स्तनाधरविमर्दं च रंगमध्ये न कारयेत् ॥ ना शा २४ । २८६ २८७

इसी प्रकार भरत भी जिनका नायक-नायिका-भेद-प्रसंग सर्वप्रथम कामसूत्र और शताब्दियों पर्यन्त अनुकृत रहा है, अपने ग्रन्थ के इसी प्रसंग में कामशास्त्रीय धारणाओं का उल्लिखित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके—"शय्या पर सुकुमारियाँ सदा ही पुरुषों द्वारा आराधनीय हैं उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करता मूर्ख शृंगार [के सारे आनन्द] को नष्ट कर बैठता है। जो कामी और साम प्रवण नायक अपनी चाटु क्रियों द्वारा [शय्या पर] नारी का प्रसादन करता है शृंगार के वास्तविक आनन्द का भोक्ता और सर्वश्रेष्ठ कामी वही कहाता है।[1] कुपित नारी के प्रसादन के लिए पुरुष को साम दान भेद प्रणति उपेक्षा और प्रसंग विभ्रंश में से किसी एक का आश्रय लेना चाहिए, पर दण्ड का कभी नहीं, वह तो 'शृंगार' के आनन्द का घातक है।

केवल इतना ही नहीं एक ओर काव्यशास्त्रों और नाट्यशास्त्रों तथा दूसरी ओर कामशास्त्रों में वर्णित नायक-नायिका-सम्बन्धी सामग्री की पारस्परिक तुलना की जाए, तो अप्रत्यक्ष रूप से हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी कि इस विषय में काव्यशास्त्री कामशास्त्रियों के अधिकांश रूप से ऋणी हैं। आलोचक की तर्कप्रधान बुद्धि विपरीत दिशा की ओर भी जा सकती है—कहीं कामशास्त्र ने ही काव्यशास्त्र से यह सामग्री ले ली हो; पर इस सम्भावना का निराकरण वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र ग्रन्थ से हो जाता है जो कामशास्त्रीय 'सिद्धान्तों' का शताब्दियों की परम्परा में विकसित रूप उपस्थित करता है। एक तो इसी ग्रन्थ में औद्दालकि (श्वेतकेतु) बाभ्रव्य (पाञ्चाल) दत्तक गोणिकापुत्र, चारायण, सुवर्णनाभ घोटकमुख गोनर्दीय कुचुमार आदि[3] अनेक काम-शास्त्रकारों का यथास्थान नामोल्लेख तथा स्वयं वात्स्यायन द्वारा ग्रन्थ के प्रारम्भ में

---

१ सुकुमाराः पुरुषाणामाराध्या योषितः सदा तस्मै ।
तदभिप्रायप्रतिकूलं शृंगारं नाशयेन्मूर्खः ॥
कामी सामप्रधानश्चाटुभिराराधयन्नारीम् ।
तल्पगमिमां महीयो यस्माच्छृंगारसर्वस्वम् ॥ ना० शा० १७ । १५,१६

२ ना० शा० १७ । ७०

३ उदाहरणार्थ—कामसूत्र १।१।१ १० १।५।५,२२ २३ २४ २५, ३३ ३२ ३।३।३३

बाभ्रव्य की आधार रूप में आभार-स्वीकृति[1] कामशास्त्रीय सिद्धान्तों की परम्परा का भरत के समय से बहुत पूर्व से आती है; और दूसरे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है भरत ने स्वयं ही कई स्थानों पर इस प्रसंग-निरूपण के लिए कामशास्त्र का आधार स्वीकार किया है। अतः कामशास्त्रीय सिद्धान्तों को काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद का आधार मान लेने में नितान्त भी आपत्ति नहीं की जा सकती।

वर्तमान काल में सुलभ और अपने विषय के प्रौढ़ ग्रन्थ कामसूत्र में उल्लिखित नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी सामग्री का निम्नोक्त तुलनात्मक परीक्षण प्रत्यक्ष रोचक ज्ञान के अतिरिक्त हमारे उक्त कथन का पोषक भी सिद्ध हो जाता है। यह प्रसंग स्पष्ट है कि कामसूत्र और काव्यशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलि में कहीं कहीं अन्तर हो, पर दोनों के विषयसम्बन्धी-विषयक दृष्टिकोण और स्वरूपाख्यान में विशेष अन्तर नहीं है—

(क) नायक-नायिका के साधारण गुण—काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका के गुण लगभग वही हैं, जो कामसूत्र में उल्लिखित हैं।[2] नाट्यशास्त्र का वैशिक कामसूत्र के ही 'वैशिक' का संक्षिप्त रूपान्तर-मात्र है।[3]

(ख) नायक-भेद—वात्स्यायन ने नायक का केवल एक ही प्रधान प्रकार माना है, वह है पति।[4] परदारा के साथ गुप्त रूप से सम्पर्क रखने वाले प्रच्छन्न नायक को इन्होंने गौण स्थान दिया है।[5] ग्रन्थ के 'वैशिक' नामक छठे अधिकरण में वैशिक नायक का भी इन्होंने उल्लेख किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रों में वर्णित नायक के तीन प्रमुख भेदों—पति, उपपति और वैशिक के संकेत इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में रुद्र शृंगारतिलककार और हिन्दी-काव्य-शास्त्रकारों में पद्माकर ने प्रच्छन्न और प्रकाश नायकों का उल्लेख किया है।[6]

१ बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थानागमय्य विमृश्य च ।
वात्स्यायनश्चकारेदं कामसूत्रं यथाविधि ॥ का० सू० ७।२।५८
२ कामसूत्र ६।१।१२ १३ १७
३ ना० शा० २५।१-८ ; कामसूत्र ३।७ (भूमिका)
४-५ का० सू० १।५।२८ २९
६ शृं० प्र० पृष्ठ ८ ; १४ ; हि० ३।८१ १२,१३ १५,१७

उनका मूल रूप कामसूत्र में वर्णित ग्रन्थानुगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न मार्गों के प्रयोक्ता नायकों[1] में मिल जाता है।

काव्यशास्त्र में निरूपित नायक के अनुकूल आदि चार भेदों में से परस्त्री-अभियोग में सिद्ध (दक्षिण) नायक की चर्चा कामसूत्र में स्पष्ट रूप से हुई है;[2] वात्स्यायन-सम्मत 'सम' नायक भी 'दक्षिण' का अपर पर्याय ही है।[3] इसके अतिरिक्त पुरुष के उन व्यवहारों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में यत्र तत्र हुआ है, जिनके बल पर उन्हें काव्यशास्त्र-सम्मत 'धूर्त' और 'शठ' उपाधियों से भूषित कर लेना चाहिए। शेष रहा चौथा प्रकार 'अनुकूल' नायक। ग्रन्थ की उपसंहार-सूचक दो कारिकाएं प्रकारान्तर से 'अनुकूल' नायक की ही गुण-गाथा गाती हैं।[4] वात्स्यायन के मत में वस्तुतः अनुकूल नायक ही सर्वश्रेष्ठ है। परिस्थिति के वशीभूत होकर ही पुरुष को प्रच्छन्न (उपपति) नायक के रूप में व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[5] ऐसी परिस्थितियों की एक लम्बी सूची[6] प्रस्तुत करके वात्स्यायन ने सिद्ध करना चाहा है कि प्रच्छन्न नायक इतना कामुक और वासना का दास नहीं होता जितना कूटनीतिक रूप में अवसरवादी बन कर परनारी से कपट प्रेम-व्यवहार करके स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।[7] काव्यशास्त्रों में वर्णित गुणानुसार नायक के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम का उल्लेख भी कामसूत्र में हुआ है।

---

१ का सू ५।५।२८ ३१ ५।१।५

२. का सू० ५।१।५

३ शुक्लस्तु बहुम्भाराद् समवाहत समो भवेत्। का सू ३।२।८५

४ एकमर्थांर्मेंसमानां स्थितिं स्त्रीं लोकवर्तिनीम्।
यस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः।
× × ×
नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिध्यति॥
का सू ७।२।५८,५९

५. प्रच्छन्नस्तु द्वितीय विरोधाभावात्। का सू १।५।२१

६ का सू १।५।१२

७ इति साहसिक्यं न केवलं रागादेवेति परपरिग्रहगमनकारणानि।
—का सू १।५।२१

८ का सू १।५।३

(ग) नायिका भेद—वात्स्यायन ने प्रमुख नायिकाएं तीन मानी हैं—कन्या, पुनर्भू और वेश्या। गोणिकापुत्र-सम्मत परपरिगृहीता (परकीया अथवा परकीया) और अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत तृतीया-प्रकृति (क्लीब) नायिकाएं भी इन्हें अस्वीकृत नहीं हैं। चारायण-सम्मत विधवा, सुवर्णनाभ-सम्मत प्रव्रजिता, घोटकमुख-सम्मत गणिका-पुत्री और परिचारिका तथा गोनर्दीय-सम्मत कुलयुवति नामक नायिकाओं का अन्तर्भाव इन्होंने प्रथम चार नायिकाओं में किया है।[1]

वात्स्यायन का 'कन्या' से तात्पर्य शास्त्रानुकूल परिणय-योग्य उस सवर्ण बाला से है जो अन्य-विवाहिता न रही हो।[2] इस प्रकार कामसूत्र में 'कन्या' शब्द प्रकारान्तर से 'स्वकीया' का अपर पर्याय है।

वात्स्यायन-सम्मत उपर्युक्त नायिकाओं का काव्यशास्त्रकारों पर स्पष्ट प्रभाव है। अन्तर केवल यह है कि स्वकीया को काव्यशास्त्रकारों ने अलग माना है और 'कन्या' को अविवाहिता प्रेयसी के रूप में। परकीया और वेश्या का तो सभी आचार्यों ने उल्लेख किया ही है, 'पुनर्भू' का भी अग्निपुराणकार और भोजराज ने उल्लेख किया है।[3] वात्स्यायन-सम्मत 'तृतीया प्रकृति' नामक नायिका वस्तुतः नारी ही नहीं है। काव्यशास्त्रकारों ने उसे काव्यवर्णन के लिए अनुपयोगी और उस के कामशास्त्रीय औपरिष्टक (मुख-मैथुन) रूप उपभोग[4] को घृणित और समाज-गर्हित समझ कर छोड़ दिया होगा। वात्स्यायनेतर आचार्यों में से गोनर्दीय की 'कुलयुवति' को भरत की 'कुलजा' का स्रोत माना जा सकता है।[5]

(क) स्वकीया—कामसूत्र के 'कन्याविस्रम्भणम्' नामक अध्याय[6] में नवोढा का विस्रम्भ करने के उपाय नवविवाहित पुरुष को समझाए गए हैं। इसी प्रसंग की व्याख्या के या उसमें से नवोढा और विस्रब्ध-नवोढा का साथ

---

1 का० सू० १।५।३-५,९ २२,२३ २७ २८,२९
2 कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति। का० सू० १।५।१ (वृत्ति)
3 अ० पु० ३३६।११; स० क० भ० ५।११२
4 का० सू० १।५।२७ (टीकाभाग)
5 का० सू० १।५।२ ना० शा० २४।१०५
6 का० सू० ३।२

मानना चाहिए। इसी प्रकार कामसूत्र के 'सपत्नी ज्येष्ठा कनिष्ठा वृत्त' नामक प्रकरण[1] पर भी स्वकीया के इन उपभेदों ज्येष्ठा और कनिष्ठा का दायित्व है। वात्स्यायन ने ज्येष्ठा पूर्वविवाहिता को माना है, और कनिष्ठा पश्चात् विवाहिता को। इधर भानुदत्त से पूर्व किसी भी काव्यशास्त्रकार ने इन दोनों भेदों की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। भानु का दृष्टिकोण वात्स्यायन के मतानुसार ही प्रतीत होता है।[2] पर आगे चलकर सर्वप्रथम भानुमिश्र ने पतिस्नेह की अधिकता एवं न्यूनता के आधार पर इन दो भेदों का स्वरूप निर्धारित कर के पूर्वविवाहिता भी बेचारी 'ज्येष्ठा' को विपरीत स्थिति में 'कनिष्ठा' मानने के लिए बाध्य कर दिया है।[3]

(ख) परकीया—उद्बुद्धा और उद्बोधिता परकीया नायिकाओं और इन्हीं के अन्तर्गत सुलसाध्या और असाध्या नायिकाओं का मूल स्रोत कामसूत्र के प्रयत्नसाध्य शोधित[4], परिचयसम्पादन-(बाह्य तथा आभ्यन्तर) विधि[5] और भाव परीक्षा[6] नामक प्रकरणों में सरलतापूर्वक मिल जाता है। परकीया आदि के अन्य कुलटा आदि भेदोपभेदों के मूल रूप भी कामसूत्र में छिपे पड़े हैं। उदाहरणार्थ उपर्युक्त 'भावपरीक्षा' प्रकरण ही अवेक्षणीय है।

(ग) वेश्या—वेश्या के भोजराज-सम्मत[7] भेदों में से गणिका और विलासिनी का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से कामसूत्र के 'वैशिक'[8] नामक अधिकरण में मिल जाता है। शेष भेदों के लिए भी यही अधिकरण अधिकांश रूप में उत्तरदायी माना जा सकता है।

(घ) अगम्य पुरुष और नारियाँ—वात्स्यायन ने अगम्य पुरुषों और नारियों का भी उल्लेख किया है। संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम रुद्रट, और हिन्दी-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम केशव ने अगम्या नारियों की तो सूची प्रस्तुत कर दी किन्तु पुरुष के प्रति उन का सम्भवतः अनुचित पक्षपात अगम्य पुरुषों की सूची प्रस्तुत करने में बाधक सिद्ध हुआ है।

---

१ का० सू० ४।२ (पृष्ठ २६२११)
२ र० म० क० म० ५।१११   ३. र० मं० पृष्ठ ४७
४, ५. का० सू० ३।१।५१ ५२ ५।२।७-१०
६ वही ५।६ १-३   ७ स० क० म० ५।१११ ११३
८ का० सू० ६।५।२५, २६   ९ का० भ० पृष्ठ १५५; र० प्रि० ७।४६

(क) नायक-सहायक—काव्यशास्त्रों में निरूपित नायक के चार सहायकों में से तीन सहायकों पीठमर्द, विट और विदूषक का स्वरूप वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ के 'नागरिक वृत्त' नामक अध्याय में प्रस्तुत किया है।[१] अत्यन्त निम्नकोटि का सहायक होने के कारण चेट को ग्रन्थकार ने यथार्थोचित युक्तिपूर्वक नागरिक के इतर सहायकों के मध्य सम्भवतः जान बूझ कर सम्मिलित नहीं किया।

इधर काव्यशास्त्रकारों में से भरत ने पीठमर्द को छोड़ कर शेष तीनों को नाट्यशास्त्र में स्थान दिया है।[२] भोज ने शृंगारप्रकाश में पीठमर्द और विट के स्वरूप-निर्धारण में वात्स्यायन का अनुकरण किया है;[३] और सरस्वतीकण्ठाभरण में विट के स्वरूपाख्यान में भी उन्होंने वात्स्यायन के ही सूत्र को संक्षिप्त रूप दे दिया है।[४] वात्स्यायन ने सहायकों का विभाजन स्नेह आदि और गुण के दृष्टिकोण से भी किया है[५]; पर इसे काव्यशास्त्रों में नहीं अपनाया गया।

(ख) दूत-दूतियाँ—दूत-दूतियों के विभ आवश्यक गुणों और सम्पाद्य क्रिया-कलापों का उल्लेख कामसूत्र में हुआ है,[६] लगभग वही सब कुछ काव्यशास्त्रों में उल्लिखित है। इस ग्रन्थ में दूती के निम्नलिखित आठ भेद हैं—निसृष्टार्था परिमितार्था, पत्रहारी स्वयंदूती, मूढदूती भार्यादूती, मूकदूती और वातदूती।[७] इनमें से प्रथम दो का उल्लेख विश्वनाथ ने किया है।[८] इन की तीसरी दूती 'सन्देश-हारिका' में वात्स्यायन-सम्मत शेष सभी दूतियों का समावेश हो जाता है।

वात्स्यायन-सम्मत स्वयंदूती के दो रूप हैं—(क) नायिका स्वयं अपने लिए नायक से दूतीवत् व्यवहार करे, (ख) नायिका द्वारा प्रेषित दूती स्वयं ही नायक की नायिका बन जाए।[९] इधर उज्ज्वलनीलमणि में 'स्वयंदूती' का भी उल्लेख हुआ है,[१०] तथा अन्य काव्यशास्त्रों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है जिनमें स्वयंदूती के उक्त दोनों रूप उपलब्ध हो जाते हैं।

---

१ का सू १।४।४४-४५ २ ना शा २४।५८

३ शृं प्र (प्रकाश) पृष्ठ ५ ४ का सू १।४।४५; स क ५।१७

५, ६ का सू १।५।३५-३७ ६।१।२-२८

७ का सू ६।१।३७ ८ सा द ३।४०

९ का सू ५।४।५१-५५ १० उ नी म पृष्ठ १४४-१४६

वात्स्यायन की मूकदूती[१] और वार्तावूती[२] लगभग एक सी हैं। पुरुष का स्वार्थ अपनी भोली-भाली पत्नी द्वारा भी संदेश भिजवाने से नहीं चूकता। मूकदूती[३] छोटी सी वह बालिका है जिस मुख से कुछ नहीं बोलना; केवल संकेतित उपहार अथवा पत्र आदि का आदान प्रदान कर देना उस का काम है। वातदूती[४] का काम नायक-नायिका द्वारा द्व्यर्थक शब्दों का एक दूसरे को सुना देना मात्र है, भले ही वह स्वयं उन अर्थों से अवगत न भी हो।

उक्त आठ दूतियों में से केवल प्रथम दो ही, और खींचतान कर तीसरी भी, स्वयं वात्स्यायन द्वारा निर्धारित दूती-स्वरूप[५] पर सुघटित होती है, शेष नहीं। सम्भवतः यही कारण है कि काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ में शेष दूतियों का नामोल्लेख तक नहीं है।

कामशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद[६]

'काम' की पूर्ति पुरुष-नारी द्वारा सम्पाद्य 'सम्प्रयोग (सम्भोग) के अधीन है। कामशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य इन्हीं सम्प्रयोग-सम्बद्ध उपायों का परिज्ञान कराना है[७]। अतः कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका के उक्त काव्यशास्त्रीय भेदों के अतिरिक्त केवल कामशास्त्रीय भेदों का भी उल्लेख है।

कामसूत्र में प्रमाण भाव और काल के आधार पर नायक-नायिका के प्रमुख तीन तीन भेद हैं। इन तीनों के पुनः तीन तीन भेद हैं[८] तथा इन भेदोपभेदों के परस्पर गुणन से नायक-नायिका के अनेक भेद बन जाते

---

१ २ का सू ५।४।५७-६१ ५. वही—१।४।२ २८

६ कामशास्त्रीय नायक-नायिका-भेदों का स्वरूप अश्लील होने के कारण यहाँ निरूपित नहीं किया जा रहा। विशेष विवरण के लिए दिल्ली-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित इस प्रबन्ध की टंकित प्रति [पृष्ठ २३१ २३०] देखिए।

७ सम्प्रयोगपराधीनत्वात् स्त्रीपुंसयोरुपायमपेक्षते। सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायन। का सू १।२।२२ २३

८ कामसूत्र २।१।१ ४ ६ ११ १५, १७ १८

है।[1] कामसूत्र की जयमंगला टीका के कर्ता ने यह संख्या ७२६ भेदों तक गिना दी है।[2]

कामसूत्र के अतिरिक्त रतिरहस्य, अनंगरंग और पंचसायक नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उक्त भेदोपभेदों का उल्लेख किया गया है।[3] रतिरहस्य और पंचसायक में यह निरूपण कामसूत्र के अनुसार है पर अनंगरंग में थोड़ा अन्तर है। हरिहर विरचित 'शृंगारदीपिका' में भी प्रभाव के आधार पर नायक के भेदों का उल्लेख है। हिन्दी के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में इन भेदों को स्थान नहीं मिला।

नायिका के कामशास्त्रीय प्रसिद्ध चार भेदों—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी—का उल्लेख कामशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों में 'रतिरहस्य' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है।[4] ग्रन्थकार कक्कोक (कोका) पण्डित ने प्रथम पूर्ववर्ती आचार्य नन्दिकेश्वर को इन भेदों के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया है।[5] रतिरहस्य के परवर्ती अनंगरंग, पंचसायक आदि ग्रन्थों में भी इन भेदों की चर्चा है जो प्रायः रतिरहस्य पर समाश्रित है।[6]

नायिका के उक्त भेद चतुष्टय की कल्पना नारी की व्यक्तिगत विशेषता, शारीरिक गठन और अंगविन्यास के अतिरिक्त उसकी रुचि, प्रकृति और यौन-भावना की विभिन्नता को लक्ष्य में रख कर की गई है। इन ग्रन्थों में वर्णित पद्मिनी आदि नायिकाओं का स्वरूप कामशास्त्रीय नारी-जगत् के बीच निस्सन्देह विभाजक रेखाएं सी खींच कर उसे चार प्रमुख भागों में विभक्त कर देता है। ये रेखाएँ हस्तिनी नायिका को स्पष्ट रूप में अन्य तीन नायिकाओं से पृथक् अवस्थिति में ला कर के उसे चतुर्थ श्रेणी की

---

१ समागमसहजमभ्यासो संप्रयोगप्रायाभेदैनस्य नवविधत्वाच्चरो ऽतिकरे सुरतसंख्या न शक्यते कर्तुमतिबहुत्वात्। कामसूत्र २।१।१९

२ कामसूत्र (जयमंगला टीका) पृष्ठ ७०

३ रतिरहस्य पृष्ठ ३६ ३८; अनंगरंग ३।३ १५

४ रतिरहस्य—जात्यधिकार १ ११

५ तत्र प्रथमं नन्दिकेश्वरगोणिकापुत्रयोर्मतमाद संग्रहीष्यामः, ततो वात्स्यायनम्। × × × संक्षेपमिति नन्दिकेश्वरमता-नन्तर क्रियमाणम्। रतिरहस्य

६ तुलनार्थ—अनंगरंग ३।१०-१६; पंचसायक ३ ६ पद्य

नायिका घोषित करती हैं, और शंखिनी को प्रथम दो की अपेक्षा निम्नकोटि की नायिका मानने को बाध्य करती हैं। पर शेष दो नायिकाओं—पद्मिनी और चित्रिणी के बीच रेखाएँ इतनी क्षीण हैं कि इन में से किसी एक को गुणाधिक्य के बल पर प्रथम कोटि में रख सकना हमारे विचार में सहज नहीं है। यों कामशास्त्रीय परम्परा पद्मिनी को सर्वाधिक समादर देती रही है।[1]

पद्मिनी आदि नायिकाओं का स्वरूप मूल रूप में इनकी व्यक्तिगत प्रमुख विशिष्टताओं पर समाधृत है। ये विशिष्टताएँ हैं—पद्मिनी की सुकोमल हृदयता, चित्रिणी की कलाप्रियता, शंखिनी में सद्गुणों और दुर्गुणों के समान-समावेश के कारण उसकी साधारण स्थिति, और हस्तिनी की चपल चित्तता और मतिमन्दता। इन मूलभूत अन्तःप्रवृत्तियों को लक्ष्य में रख कर कक्कोक आदि कामशास्त्रियों ने इन्हें पूर्वोक्त विभिन्न विशेषणों से अन्वित कर दिया है।

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में श्रीकृष्ण कवि और सन्त अकबरशाह को छोड़ कर किसी भी अन्य प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध आचार्य ने इन भेदों को अपने नायिका-भेद प्रसङ्ग म स्थान नहीं दिया। हिन्दी-आचार्यों में भी इने गिने आचार्यों—केशव देव सोमनाथ दास दास आदि—ने इन भेदों की चर्चा-मात्र की है। इस अवहेलना के दो कारण सम्भव हैं। एक यह कि लोक में ऐसी नारियों का ढूँढ निकालना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, जिन पर पद्मिनी आदि के समो गुण पूर्ण रूप से घटित हो सकने के कारण उन्हें इन विशिष्ट नामों से अभिहित किया जा सके और दूसरा कारण यह कि काव्य-नाटकादि लक्ष्य-ग्रन्थों में भी ऐसी नायिकाएँ दृष्टिगत नहीं होती, जिन्हें आचार्यों को अपने लक्षण ग्रंथों में समाविष्ट करने की आवश्यकता पड़ती।

नायक-नायिका-भेद का समीक्षात्मक अध्ययन

यहाँ तक तो रही नायक तथा नायिका के विभिन्न भेद-विस्तार की बात। अब प्रश्न यह है कि इन भेदोपभेदों का पृष्ठाधार क्या है इन का शृङ्गार-रस के साथ सम्बन्ध कहाँ तक है तथा ये सब सामाजिक व्यवहार, धर्मशास्त्र आदि की दृष्टि से कहाँ तक मान्य अथवा अमान्य हैं।

---

1 पद्मिनी चित्रिणी चाथ शंखिनी हस्तिनी तथा।
पूर्वपूर्वतरासामु भेदास्तस्मात्कम चक्रमे ॥ ... ॥

(क) पृष्ठाधार—

लक्ष्य-ग्रंथों की ही भित्ति पर लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है—यह कथन काव्य के अन्य अंगों—अलङ्कार, गुण, दोष, रीति, ध्वनि, रस, शब्द शक्ति—पर तो घटित होता है, पर 'नायक-नायिका-भेद' पर पूर्ण रूप से घटित नहीं होता। यदि लक्ष्य-ग्रंथों को ही आधार माना जाए तो नायिका के प्रमुख भेदों में से केवल स्वकीया नायिका ही 'नायिका' कहलाने की अधिकारिणी ठहरती है, शेष दो परकीया (परोढा तथा कन्या) और सामान्या नायिकाएँ नहीं; क्योंकि संस्कृत-साहित्य के काव्य और नाटक परकीया और सामान्या नायिकाओं को प्रमुख रूप में उपस्थित नहीं करते। यहाँ वसन्तसेना, वासवदत्ता, शकुन्तला और तारा के विषय में आपत्ति उठाई जा सकती है। किन्तु न मृच्छकटिक की वसन्तसेना 'सामान्या' नायिका की शास्त्रीय परिभाषा पर खरी उतरती है और न स्वप्नवासवदत्तम् की वासवदत्ता तथा *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* की शकुन्तला 'कन्या-परकीया' की। वसन्तसेना को द्रव्य से मोह नहीं, और न वासवदत्ता और शकुन्तला का प्रेम संसार से गुप्त है। परोढा नारी तारा के प्रति शशी का तथाकथित रति-सम्बन्ध भी सामाजिक के हृदय में काव्यानन्द की उत्पत्ति नहीं करता।

उधर हरिवंश पद्म, विष्णु भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वर्णित कृष्ण-गोपी सम्बन्धी आख्यानों को भी हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद के पृष्ठाधार के रूप में स्वीकार करना समुचित नहीं है। इस धारणा की पुष्टि में अनेक कारण उपस्थित किये जा सकते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर सर्वप्रथम भरत ने कुलजा कन्या, आभ्यन्तरा (वेश्या) बाह्या (कुलीना) आदि नायिकाओं की ओर संकेत किया। पहले तो यह निश्चित नहीं है कि इन सभी अथवा इनमें कुछ-एक पुराणों के कृष्ण-गोपी-सम्बन्धी आख्यानों की रचना भरत से पूर्व हो चुकी थी, और दूसरे भरत का नायक-नायिका-भेद-निरूपण किसी भी रूप में कृष्ण-गोपी-सम्बन्ध को लक्षित नहीं करता। वैष्णव-परम्परा द्वारा अनुमोदित उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ का रचयिता रूपगोस्वामी अपने ग्रन्थ में परकीया को तो स्थान देता है पर सामान्या को नहीं पर उधर भरत के नाट्यशास्त्र में वेश्या (आभ्यन्तरा) और स्वकीया (बाह्या अथवा कुलजा) को तो स्थान मिला है पर परकीया को नहीं। वैष्णव-धर्मधारा भरत के समय में भिन्न हो और रूपगोस्वामी के समय में भिन्न—यह धारणा असम्भव सी जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त

कृष्णाख्यानों की परकीयाएँ इकट्ठे मिल कर ईर्ष्याभाव से रहित होकर एक ही नायक के प्रति प्रेम-प्रदर्शन कर सकती हैं, किन्तु परम्परागत नायिका-भेद प्रकरणों में परकीया का ऐसा स्वरूप चित्रित नहीं किया गया।

वस्तुतः भरत को लोक में प्रचलित साधारण स्त्री-पुरुषों की विभिन्न प्रकृतियों और उनके व्यवहारों से प्रेरणा मिली होगी, और इसी आधार पर उन्होंने नायक-नायिका-भेदों का निरूपण किया होगा। इसी प्रसङ्ग में कामशास्त्रों से प्राप्त प्रेरणा की भी उन्होंने चर्चा की है,[1] पर किसी पुराण का उल्लेख नहीं किया। काम्यशास्त्र का पृष्ठाधार भी निस्सन्देह साधारण जगत् का साधारण स्त्री-पुरुष-व्यवहार ही है, न कि काव्य, नाटक अथवा आख्यायिका-सम्बन्धी ग्रंथ-समुच्चय। अतः हमारे विचार में नायक-नायिका भेद-प्रकरणों का पृष्ठाधार धार्मिक ग्रन्थ न होकर साधारण स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक रति-व्यवहार ही है। यह अलग प्रश्न है कि आगे चलकर नायक-नायिका-भेद के आधार पर जयदेव जैसे संस्कृत-कवियों ने गोपी-कृष्ण-सम्बन्धी मुक्तक काव्यों का निर्माण किया और रूपगोस्वामी जैसे आचार्य ने नायक-नायिका-भेद प्रकरण को कृष्ण-गोपी-व्यवहार की भित्ति पर ही अवलम्बित करके उसमें यथाशक्य परिवर्तन कर डाला और इधर, हिन्दी का रीतिकालीन कवि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी पूर्व स्थित धारणाओं को ध्यान में रख कर मुक्तक रचनाओं का निर्माण करता चला गया।

(ख) नायक-नायिका-भेद और शृङ्गार रस—

नायक-नायिका-भेद का प्रसङ्ग शृंगार रस का विषय रहा है।[2] कारण स्पष्ट है स्त्री और पुरुष के पारस्परिक रति-सम्बन्ध पर ही इन भेदों का यह विशाल प्रासाद अवस्थित है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त भेद लीजिए— स्वकीया और परकीया तथा उन से सम्बद्ध पति और उपपति का मूलाधार प्रेम-मिश्रित यौनसम्बन्ध है तो सामान्या तथा उस से सम्बद्ध वैशिक का मूलाधार केवल यौनसम्बन्ध। रति-सम्बन्धी कौशल-प्रदर्शन की न्यूनता अथवा अधिकता के ही बल पर नायक के अनुकूल आदि भेद स्वीकृत हुए हैं और रति के ही बल पर परकीया के उपपति को नायक-भेद

1 देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १५१ १६ पा टि १
2 देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १७१

में स्थान मिला है; परन्तु इसके अभाव के ही कारण उस के बेचारे विवाहित पति को नहीं। मानवती नायिका के मान करने का कारण केवल एक ही है—नायक द्वारा परनारी के साथ रति-सम्बन्ध तथा दो ज्येष्ठ स्वकीया नायिकाओं में से एक को ज्येष्ठा और दूसरी को कनिष्ठा कहने का कारण बड़ी अथवा छोटी आयु न होकर पति द्वारा प्राप्त स्नेह की ही अधिकता अथवा न्यूनता है। इसी प्रकार स्वाधीनपतिका आदि अष्टनायिकाएँ नायक गत स्नेह और रति-सम्बन्ध की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति के ही फलस्वरूप विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती हैं। नायिका के मुग्धा आदि तीन धीरादि तीन तथा नायक-नायिका के उत्तम अथवा उत्तमा आदि तीन-तीन भेदों का मूल कारण भी पारस्परिक रति-भाव ही है। संस्कृत के कामशास्त्र के आधार पर हिन्दी के काव्यशास्त्रों में पद्मिनी, चित्रिणी शंखिनी और हस्तिनी नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है। यह वर्गीकरण युवती के अंग प्रत्यंग की रचना का परिचायक भी है, और इस से बढ़ कर उसकी वासना-(रति-) मूलक रुचि और स्वभाव का भी।

निष्कर्ष यह कि नायक-नायिका-भेद प्रसंग शृंगार रस का ही एक अंग है। इन भेदोपभेदों की एक ही कसौटी है— स्त्री-पुरुष का रतिसम्बन्ध। अतः इस कसौटी पर जो भेदोपभेद खरे नहीं उतरते, हमारे विचार में उन्हें इस प्रसंग में स्थान नहीं मिलना चाहिए। भरत-सम्मत देवताशीला आदि २१ भेदों तथा अन्तःपुर-समाश्रित महादेवी आदि १० प्रकार की नारियों का नाट्यशास्त्रोल्लिखित स्वरूप उन के रतिसम्बन्ध पर मुख्य रूप से प्रकाश नहीं डालता। यही कारण है कि भरत के उत्तरवर्ती संस्कृत और हिन्दी के किसी भी आचार्य ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार भाव-सम्मत नायक-नायिका के कथावस्तु पर आधृत नायक प्रतिनायक आदि तथा नायिका प्रतिनायिका आदि भेद; मानव-प्रकृति पर आधृत नायक के सात्त्विक आदि भेद, पुनश्च नायिका के मातामाता तथा मायापरा भेद; और नायक-सहायों के शकार, लतक पताका, आपताका और प्रकरी नामक भेद आगामी नायक-नायिका-प्रकरणों में स्थान नहीं पा सके।

इन के अतिरिक्त दो वर्ग और हैं जो रति-सम्बन्ध की कसौटी पर खरे नहीं उतरते—नायक के धीरोदात्तादि चार भेद, तथा नायक-नायिका के दिव्यादि तीन-तीन भेद। धीरोदात्तादि भेद नायक की सामान्य प्रकृति के परिचायक हैं और दिव्यादि भेद मर्त्यलोक और द्युलोक के स्त्री-पुरुषों में

विभाजक रेखा खींचने का प्रयास करते हैं। स्पष्टतः इन वर्गों का लक्ष्य रतिसम्बन्ध-द्योतन नहीं है, अतः ये भी नायक-नायिका-भेद में स्थान पाने योग्य नहीं हैं।

(ग) नायक-नायिका-भेद-परीक्षण—

(१)

सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या और इन्हीं भेदों के अनुरूप नायक के भी तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। परकीया का परपुरुष से स्नेह-सम्बन्ध भी है और यौन-सम्बन्ध भी पर वेश्या का पुरुष के साथ केवल यौन-सम्बन्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने परदारा के साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है।[१] जब विषय के प्रकाण्ड आलोचकों द्वारा परकीया के प्रति इतनी अवहेलना प्रकट की गई है तो वेश्या के प्रति इस से भी कहीं अधिक अवहेलना स्वतःसिद्ध है। निस्सन्देह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिए समुचित भी यही है। स्वकीया के ही समान परकीया और वेश्या का भी नायिका के रूप में चित्रण काव्य को निम्न स्तर पर ले जाएगा—इसी आशंका से संस्कृत-साहित्य के शास्त्र-ग्रन्थों में परकीया और वेश्या को शास्त्रीय-स्वरूपानुसार काव्य का विषय नहीं बनाया गया। किन्तु फिर भी नायक-नायिका-भेद के अन्तर्गत इन दोनों नायिकाओं और उपपति तथा वैशिक नायकों का बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक तो नायक-नायिका-भेद लोक-व्यवहार तथा कामशास्त्र[२] के ग्रन्थों पर आधृत है, न कि शास्त्र-ग्रन्थों पर; और दूसरे, 'रसाभास' रस की अपेक्षा हीन कोटि का काव्य होते हुए भी ध्वनिकाव्य का एक सबल अंग अवश्य है; और गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। अतः नायिका-भेदों में परकीया और वेश्या भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

उक्त तीन नायिकाओं के अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार पर आधृत इस वर्ग के अन्तर्गत संस्कृत के आचार्यों में भरत ने कुलजीवा, और अग्नि पुराणकार तथा भोज ने पुनर्भू नायिकाओं का भी सम्मिलित किया है; पर

---

१ का प्र ७।११६ (वृत्ति भाग); सा द ३।२६२ २६१

२ देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १७६–३६

इन दोनों का अन्तर्भाव स्वकीया नायिका में बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं।

(२)

स्वकीया नायिका के तीन उपभेद हैं—मुग्धा मध्या और प्रगल्भा। वयः तथा तत्प्रभूत लाज—इन दो आधारों पर मुग्धा के कुल चार भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध) नवोढा और विश्रब्ध नवोढा। अन्तिम दो भेद स्वाभाविक और सम्भव हैं पर प्रथम दो भेदों पर हमें आपत्ति है। अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेहव्यवहार-वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्कार्य विषय है, तथा दोनों में रतिजन्य यौन-सम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है। अतः *'अज्ञात-यौवना'* भेद प्रशस्त और शरीरविज्ञान-सम्मत नहीं है और इस दृष्टि से उसके विलोम रूप में परिगणित 'ज्ञातयौवना' भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।

(३)

परकीया के दो उपभेद हैं—परोढा और कन्या। ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती हैं। इनमें से परोढा निस्सन्देह परकीया है। पर 'कन्या' को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है[1] हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। नायक-नायिका-भेद मूलतः रतिसम्बन्ध पर अवलम्बित है। परोढा और उसके पति का पारस्परिक रति-सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से ही सही, प्रत्यक्ष है अतः वह परकीया कहाने योग्य है किन्तु कन्या और उसके पिता के बीच पोषक-पोष्य-सम्बन्ध के बल पर कन्या को परकीया कहना अवश्य खटकता है। अतः कन्या को परकीया का उपभेद न मान कर स्वतन्त्र भेद मानना समुचित है। संस्कृत आचार्यों में वाग्भट ने यही किया है।[2] हाँ यह अलग प्रश्न है कि बाद में उसी पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर वह स्वकीया, अथवा किसी अन्य पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी उसी अथवा किसी अन्य के साथ गुप्त मिलन निभाते चले जाने की अवस्था में वह परकीया कहाए, पर

---

१ कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता। र० मं० पृष्ठ ५१

२ अनूढा च स्वकीया च परकीया स्त्रीगणः। का० अ० पृष्ठ १०

वर्तमान परिस्थिति में तो उसे परकीया नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के चार प्रमुख भेद होने चाहिएँ—स्वकीया, परोढा (परकीया) कन्या और सामान्या तथा इनके अनुरूप नायक के तीन भेद—पति जार और वैशिक। परोढा और कन्या से प्रच्छन्न रति-सम्बन्ध रखने वाले पुरुष को 'उपपति' नाम से अभिहित करना 'पति' शब्द का तिरस्कार है। अतः उसे 'जार' की संज्ञा मिलनी चाहिए। नायक के प्रमुख चार भेदों में से अनुकूल का सम्बन्ध केवल पति के साथ मानना चाहिए, और दक्षिण धृष्ट और शठ का जार और वैशिक के साथ। भानुमिश्र ने ये चार भेद पति के और उपपति के स्वीकार किये हैं पर हमारे विचार में ये नायक के सामान्य भेद हैं।

(४)

संस्कृत के आचार्यों में भोजराज और हिन्दी के आचार्यों में सोम नाथ ने मुग्धा आदि तीन उपभेदों का सम्बन्ध परकीया (परोढा और कन्या) के साथ भी स्थापित किया है। हम इनके साथ आंशिक रूप से सहमत हैं। मुग्धा नायिका का यथानिरूपित शास्त्रीय स्वरूप उसे परकीयात्व में धकेलने से बचाए रखने में सदा समर्थ है। केवल मध्या और प्रगल्भा अवस्थाओं में पहुँची हुई नारियाँ ही परकीयात्व की ओर फिसल सकती हैं। अतः मानव-मन के ऐक्य के आधार पर परकीया के भी मध्या और प्रगल्भा भेद सम्भव हैं पर मुग्धा के नहीं। इसी सम्बन्ध में एक बात और! इधर हिन्दी-आचार्यों ने भानुमिश्र के अनुकरण में एक ओर तो मध्या और प्रगल्भा नायिकाएँ केवल स्वकीया के साथ सम्बद्ध की हैं और साथ ही दूसरी ओर इन दोनों नायिकाओं के मान के आधार पर धीरादि तीन उपभेद स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के साथ भी जोड़े हैं। उनके ये कथन परस्पर-विरोधी अवश्य हैं पर पिछले वर्गीकरण द्वारा प्रकारान्तर से हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो रही है कि मध्या और प्रगल्भा भेद परकीया के भी सम्भव हैं।

(५)

नायक के व्यवहार से उद्भूत अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हैं। इनके शास्त्र-निरूपित स्वरूप से स्पष्ट है कि—

(क) आठों प्रकार की ये नायिकाएँ अपने-अपने प्रियतमों के प्रति अनन्य स्नेह रखती हैं। 'कुलटा' परकीया का इनमें कोई स्थान नहीं है।

(ख) विप्रलब्धा और खण्डिता नायिकाएं अपने-अपने नायकों की प्रवंचना की शिकार हैं, और शेष छहों का दुख स्पष्ट सम्प्राप्त है।

(ग) स्वाधीनपतिका और खण्डिता को छोड़कर शेष सभी नायिकाओं के नायक इनसे दूर हैं, और ये उनसे सम्मिलन के लिए समुत्सुक हैं।

(घ) स्वाधीनपतिका सर्वाधिक सौभाग्यवती है—उसका नायक सदा उसके पास है। मिलन-जैसा समीप होने के कारण वासकसज्जा और अभिसारिका का सौभाग्य दूसरे दरजे पर है; और मिलन-आशा पर जीवित विरहोत्कण्ठिता और प्रोषितभर्तृका का सौभाग्य तीसरे दरजे पर।

विप्रलब्धा और खण्डिता दुर्भाग्यशालिनी हैं—पहली का नायक परनारी-सम्भोग के लिए चल दिया है, और दूसरी का नायक सम्भोग के उपरान्त ढीठ बन कर उसके सामने आ खड़ा है। सबसे दयनीय दशा बेचारी कलहान्तरिता की है—चाटुकारिता करने वाले भी नायक को पहले तो इसने घर से निकाल दिया है और अब बैठी पछता रही है।

(६)

पुरुष और नारी की मनःस्थिति के ऐक्य के कारण स्वाधीनपत्नीक आदि आठ भेद नायक के भी सम्भव हैं—इसी स्वाभाविक शंका को भानु मिश्र ने उठा कर उसका खण्डन स्वयं कर दिया है। उनके मतानुसार "नायक के उक्त खण्डित विप्रलब्ध आदि भेद सम्भव नहीं हैं। काव्य-परम्परा नायक के ही शरीर पर अन्यसम्भोगजन्य चिह्नों और उन चिह्नों के आधार पर उसकी धूर्तता पर आशंकित हो कर नायिका द्वारा ही मान प्रदर्शनों का वर्णन करती आई है। पर इसकी विपरीत स्थिति में अर्थात् नायिका के शरीर पर रतिचिह्न के प्रकट होने की स्थिति में काव्य का यह विषय [शृंगार] रस की कोटि में न आकर [शृंगार] रसाभास की कोटि में आ जाएगा।"[1] किन्तु देखा जाए तो सत्य इससे भी कहीं अधिक कटु है। स्त्री भले ही पुरुष की धूर्तता को सहन कर ले; फिर मान प्रदर्शन द्वारा उसे कुछ काल के लिए तड़पा ले और इस प्रकार उसे और भी अधिक रसास्वाद-प्रदान करने का कारण बन जाए, पर पुरुष का पौरुष स्त्री के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर प्रतिकार के लिए उन्मत्त हो रक्त की नदी बहाने

1 ××× अन्यसम्भोगचिह्नत्वं वा नायकस्यास्य न तु नायिकायाः। तादृशं यदि वर्णनमस्ति रसाभासापत्तिरिति। र. म. पृष्ठ १४१

के लिए हुँकार कर उठेगा और तब यह काम्य-वर्णन शृङ्गार रसाभास के स्थान पर रौद्र रसाभास के विषय में परिणत हो जाएगा।

उक्त आठ अवस्थाओं में से प्रोषितावस्था नायक पर भी घटित हो सकती है। परदेश में गए पति, उपपति और वैशिक का अपनी प्रेयसियों की विरहाग्नि में जलना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि प्रोषित्-पतिका स्वकीया अथवा परकीया का। भानुमिश्र ने इसी कारण नायक के तीन अन्य भेद भी गिनाए हैं — प्रोषितपति प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।[1] हिन्दी-आचार्यों में प्रतापसाहि ने प्रोषितपति की चर्चा की है। मेघदूत का यक्ष प्रोषितपति का उदाहरण है।

(७)

हिन्दी-आचार्यों में सोमनाथ ने नायिका के भानुमिश्र-सम्मत तीन अन्य भेदों—अन्यसम्भोगदुःखिता मानवती और गर्विता के भी लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर भानुमिश्र और सोमनाथ के विवेचन से इन भेदों के आधार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हमारे विचार में यह आधार नायक-कृतापराध जन्य प्रतिक्रिया है। प्रथम दो भेदों पर तो यह आधार निस्सन्देह घटित हो ही जाता है। गर्विता पर भी, जिसके भानुमिश्र और सोमनाथ ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता गिनाए हैं कुछ सीमा तक घटित हो सकता है। ऐसी नायिकाओं की संख्या में भी कमी कमी नहीं रह सकती जो दुःखिता और मानवती हो कर पराजित होने की अपेक्षा अपने रूप और प्रेम के गर्व पर अपराधी नायक को सुमार्ग पर लाने का सुझाव करती हैं। फिर भी गर्विता' नायिका का यह आधार इतना सुपुष्ट नहीं है।

भानुमिश्र और सोमनाथ ने इस ओर भी कोई संकेत नहीं किया कि उक्त तीन भेद नायिका के धर्मानुसार स्वकीयादि भेदों अथवा अवस्थानुसार स्वाधीनपतिकादि भेदों में से किस किस के साथ सम्बद्ध हैं। हाँ दास ने 'गर्विता होने का सौभाग्य तो स्वाधीनपतिका' को दिया है और अन्य सम्भोगदुःखिता तथा 'मानवती होने का दुर्भाग्य खण्डिता को। उनकी इस धारणा से हम सहमत हैं।

अब प्रश्न रहा इन भेदों को स्वकीया आदि भेदों के साथ सम्बद्ध

---

[1] र० मं० पृष्ठ १८५

करने का। हमारे विचार में वेश्या के साथ प्रथम दो भेद तो सम्बद्ध नहीं किये जा सकते। 'रूप-गर्विता' भेद भले ही वेश्या के साथ सम्बद्ध हो जाए, पर बाह्य रूप से राग दिखाने वाली वेश्या के साथ 'प्रेमगर्विता' भेद का भी सम्बद्ध करना बेचारे वैशिक को आत्म-प्रवंचना का शिकार बनाना है।

शेष रहीं स्वकीया और परकीया नायिकाएँ। मुग्धा स्वकीया के लिए उसका मौग्ध्य वरदान के समान है अतः पतिकृत अपराध से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप दुःख मान-प्रदर्शन और गर्व करने की पीड़ा से वह नितान्त बची रहती है। शेष रहीं मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाएँ। निस्सन्देह ये तीनों भेद इन दोनों से ही सम्बद्ध हैं, मुग्धा स्वकीया से नहीं। इनकी सुचेतावस्था इन्हें उक्त वेदनाओं को झेलने के लिए बाध्य कर देती है। परकीया पर भी ये तीनों भेद घटित हो सकते हैं। माना कि परकीया अपनी और अपने प्रिय की सम्बद्धता से भली भाँति परिचित है, किन्तु नारी-सुलभ सौतिया-डाह वश उसे भी अपने प्रिय का अपराध उतना ही उद्विग्न और विह्वल करता है जितना स्वकीया को।

(८)

संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के समय से ही विभिन्न आचार्यों पर आधृत नायक-नायिका-भेदों को परस्पर गुणन-क्रिया द्वारा अधिकाधिक संख्या तक पहुँचाने की प्रवृत्ति रही है। निम्नांकित अंकों से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। रुद्रट ने नायक ४ माने हैं और नायिकाएँ ३८४ भोजराज ने १ ४ और १४१; विश्वनाथ ने ४८ और ३८४। भानुमिश्र ने १९ और ११५२ तथा रूपगोस्वामी ने ९६ और ११ । किन्तु वस्तुतः यह गुणन-क्रिया तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इस व्याख्या के लिए बहुप्रचलित विश्वनाथ-सम्मत नायक-भेदों और भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों पर विचार करना अपेक्षित है।

विश्वनाथ ने ४८ नायक-भेद माने हैं—धीरोदात्तादि ४ × अनुकूलादि ४ × उत्तमादि ३ = ४८। पर यह सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं है। प्रथम तो धीरोदात्तादि भेद केवल शृङ्गार रस की कथावस्तु से सम्बद्ध न हो कर सभी रसों की कथावस्तु से सम्बद्ध हैं। अतः इनका परस्पर-संयोजन विरोधी रसों में सम्पर्क-स्थापक होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से सदोष है। दूसरे, [राम जैसे] धीरोदात्त नायक को दक्षिण धृष्ट और शठ नामों से और [वत्सराज जैसे] धीरललित नायक का कभी केवल अनुकूल नाम से

अभिहित करना परम्परापुष्ट मान्यताओं और मनोविज्ञान दोनों को झुठलाना है। यही कारण है कि संस्कृत-आचार्यों में वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं; शेष तीन नायकों के नहीं। किन्तु धीरललित भी इन चारों भेदों के साथ सदा सम्बद्ध हो सके—यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ-मतानुसार धीरोदात्त और अनुकूल को मध्यम और अधम भी मानना तथा धृष्ट और शठ को उत्तम भी कहना न्याय-संगत नहीं है।

अब भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों को लें। उन्होंने नायिका के १२८ भेद माने हैं—स्वकीया परकीया और सामान्या के (१३+२+१=) १६ भेद × स्वाधीनपतिका आदि ८ भेद × उत्तमादि ३ भेद = ३८४ भेद। परन्तु गुणनप्रक्रिया द्वारा उक्त पारस्परिक गठबन्धन मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्वाधीनपतिका आदि सभी नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं अतः सामान्या नायिका अपने स्वाभाविक स्वरूप के आधार पर किसी भी अवस्था में इन आठ भेदों में से किसी के साथ सम्बद्ध नहीं की जा सकती। स्वकीया और परकीया के साथ भी ये सभी नायिकाएँ सम्बद्ध नहीं हो सकतीं। स्वाधीनपतिका नायिका केवल स्वकीया ही हो सकती है और अभिसारिका केवल परकीया ही। शेष छहों नायिकाओं का सम्बन्ध स्वकीया और परकीया दोनों के साथ है।[1] इसी प्रकार उत्तमा मध्यमा और अधमा भेद स्वकीया तथा परकीया पर तो घटित हो सकते हैं पर सामान्या पर किसी भी रूप में नहीं। उस से स्नेह-पूर्ण हित की आशा रखना अथवा अहित की आशंका करना व्यर्थ है। केवल संख्यावृद्धि के विचार से गुणन प्रक्रिया का आश्रय खिलवाड़ मात्र है, युक्ति-संगत और तर्क-परिपुष्ट नहीं है।

---

१ संस्कृत के आचार्यों में हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (पृष्ठ ३०) में परकीया की केवल तीन अवस्थाएं मानी गई हैं—विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका, और शारदातनय के भावप्रकाश (पृष्ठ ९५, प ११ १७) में अन्या (वेश्या) की केवल तीन अवस्थाएँ—विरहोत्कण्ठिता अभिसारिका और विप्रलब्धा। पर इन आचार्यों की ये धारणाएँ भी तर्क की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। परकीया की अन्य अवस्थाएं भी सम्भव हैं और वेश्या की उपरिनिर्दिष्ट अवस्थाओं में से हमारे विचार में एक भी अवस्था सम्भव नहीं है।

नायक-नायिका-भेद और पुरुष

नायक-नायिका-भेद निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद पद पर प्रतिबिम्बित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। परकीया नायिका पर भी यह लाञ्छन लगाया जा सकता है कि वह परपुरुष से प्रेम-सम्बन्ध रखती है, पर शास्त्रीय आधार के अनुसार उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रख कर केवल एक ही परपुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बने, भले ही वही पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता भी क्यों न हो। एकाधिक पुरुषों के साथ रति-प्रसंग करने पर काव्यशास्त्र नारी को तो 'कुलटा' नाम से कुख्यात कर देता है किन्तु परनारी-रत दक्षिण धृष्ट और शठ नायकों के प्रति शास्त्र ने कोई तिरस्कार सूचक भाव प्रकट नहीं किया। निस्सन्देह यह पुरुष के प्रति पक्षपात है।

निरपराध भी सौत स्वकीया नायिका पुरुष के स्वार्थ से विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिए पति के प्रेम की भिखारिणी है। ज्येष्ठा कहाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा जब उसे दूसरी सौत की अपेक्षा पति का अधिक स्नेह प्राप्त है अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी—चाहे वह आयु में ज्येष्ठा भी क्यों न हो और उसका विवाह पहले भी क्यों न सम्पन्न हो चुका हो।

पुरुष के स्वार्थ का एक और नमूना है मुग्धा स्वकीया' का 'अज्ञात यौवना नामक उपभेद। 'अज्ञातयौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बन कर सरस काव्य का विषय बन सकती है, पर इधर 'सांकेतिक चेष्टाज्ञान शून्य अनभिज्ञ' नायक का वर्णन काव्य में रसाभास का विषय माना गया है[1] आखिर अज्ञातयौवना के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों?

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य और। यह पुरुष का ही साहस हो सकता है कि रात भर परनारी के साथ उपभोग के उपरान्त प्रातःकाल होते ही रतजगे के कारण आँखों में लालिमा और नारी-नेत्र-चुम्बन के कारण ओष्ठों में काजल की कालिमा तथा अन्य रतिचिह्नों के साथ स्वकीया के सम्मुख ढीठ बन कर आ खड़ा हो जाए, और 'उत्तमा' नायिका को

---

१ अनभिज्ञो नायको रसाभास एव। र० मं० पृष्ठ १४

इतना भी अधिकार न हो कि वह उसके अनिष्ट की ज़रा भी कल्पना कर सके, अन्यथा वह 'मध्यमा' अथवा 'अधमा' के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।

आचार्यों ने ऐसी 'पीड़ित' नारियों को मान करने का अधिकार अवश्य दिया है। पर इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। रिरंसा-पूर्ति के लिए पादस्पर्शन-पूर्वक नायिका को मनाना नायक को और भी अधिक आनन्द देता है। धीरा अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोप-प्रदर्शनों में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। 'वक्रोक्तिगर्विता' और 'सौन्दर्यगर्विता' नायिकाओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शान्ति दे अथवा न दे, किन्तु नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। इन मान प्रदर्शनों और गर्वोक्तियों से नायक की रिरंसा और भी अधिक वेगवती हो उठती है।

मानवती नायिका चाहे जितना भी रूठ ले किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से अन्त में उसे मान की शान्ति अवश्य कर लेनी चाहिए, अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसाभास और अनौचित्य का विषय बन जाएगा।[1] आवेश-चित्त के वशीभूत होकर यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है, तो उसके चले जाने के बाद 'कलहान्तरिता' के रूप में पश्चात्ताप करना और झुँझलाना भी नायिका के ही भाग्य' में लिखा है। भला बेचारे नायक का यह 'सौभाग्य' कहाँ कि वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता फिरे! खण्डिता' और 'अन्यसम्भोगदुःखिता' बनना भी नायिका के ललाट में लिखा है और क्रूर' नायक की वासना का शिकार बन कर नखक्षत दन्तक्षत आदि अन्य 'पीड़ा' का सहन करना भी।

इसी प्रसंग के सम्बन्ध में एक बात और। काव्यशास्त्र ने पुरुष को तो चेतावनी दे दी है कि अमुक नारियाँ सम्भोग के लिए 'वर्ज्या' हैं पर पुरुषों की ऐसी सूची प्रस्तुत न कर काव्याचार्यों ने नारी की कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अधिकार वर्ज्य और अवर्ज्य दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रकारान्तर से दे दिया है। पुरुष के हाथ में लेखनी हो और वह नायक-नायिका-भेद जैसे निरूपण में अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति के लिए सिद्धान्त निर्माण न करे ऐसे अवसर से हाथ धो बैठना भी तो कम दुर्भाग्य का विषय न होता!

---

1 प्रसाध्यस्तु रसाभासा। र० मं० पृष्ठ ८३

सप्तम अध्याय

दोष

दोष-हेयता

ध्वनिपूर्ववर्ती और ध्वनिपरवर्ती आचार्य काव्य-विषयक विभिन्न धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए भी दोष की निन्दा और उसकी हेयता के सम्बन्ध में एक-मत हैं। इन आचार्यों के दो वर्ग हैं। एक वे जो दोष को नितान्त हेय समझते हैं। दूसरे वे जिनका दृष्टिकोण थोड़ा उदार है। प्रथम वर्ग में भामह, दण्डी, रुद्रट केशव मिश्र और वाग्भट उल्लेख्य हैं, तथा दूसरे वर्ग में भरत और विश्वनाथ।

भामह के अनुसार काव्य में एक पद भी सदोष नहीं होना चाहिए। सदोष काव्य कुपुत्र के समान निन्दाजनक है। काव्यरचना न करना कोई अधर्मजनक, व्याधिकारक अथवा दण्डदायक नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है।[1]

दण्डी के शब्दों में—सम्यक्-प्रयुक्ता अर्थात् दोष-शून्या और गुणालंकारयुक्ता वाणी कामधेनु के समान है, पर सदोषा वाणी कवि की मूर्खता को प्रकट करती है। काव्य में दोष का लेशमात्र भी सह्य नहीं है। श्वेत कुष्ठ के एक [छोटे से] चिह्न के कारण सुन्दर शरीर भी अपनी कान्ति खो बैठता है।[2]

---

१ सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ का० अ० १।११,१२

२ गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० द० १।६,७

अलंकारवाद के समर्थक रुद्रट निरलंकृत भी काव्य को मध्यम काव्य मानने को तभी उद्यत है जब वह दोष-रहित हो।[1] केशवमिश्र द्वारा उद्धृत एक पद्य दोष को रस का हानिकारक और पूर्ण रूप से त्याज्य निर्दिष्ट करता है,[2] और वाग्भट ने सम्भवतः भावुकता के अतिरेक में आकर दोषाभाव को स्वर्ग का सोपान और दोष को विष के समान कहा है।[3]

किन्तु उधर भरत का दृष्टिकोण उदार और क्षमापूर्ण है। सदोष नाटक (काव्य) के सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषों के सम्बन्ध में किसी [आलोचक] को अधिक संवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ गुण-हीन अथवा दोष-हीन नहीं है।[4] और आगे चलकर विश्वनाथ भी [चाहे उनका लक्ष्य मम्मट के काव्यलक्षण का जान-बूझकर बुरी तरह से खण्डन करना था] सदोष काव्य को सर्वथा अमान्य नहीं मानते। अनार के दो चार गले सड़े दानों से सारा अनार फेंक नहीं दिया जाता। उनके कथनानुसार "यदि निर्दोषता को काव्य का आवश्यक तत्त्व ठहराया जाएगा, तो काव्य या तो अविरल विषय बन जाएगा अथवा निर्विषय।"[5] निस्सन्देह कोई भी मनस्वितावादी उदारचेता व्यक्ति भरत और विश्वनाथ की उक्त धारणाओं से असहमत नहीं होगा; और किसी अज्ञात आचार्य के इस कथन से भी शायद सहमत न होगा कि—

"अन्यो गुणोऽस्तु वा माऽस्तु महान् निर्दोषता गुणः"[6]

क्योंकि एक तो निर्दोषता एक असम्भव सा भाव है, और दूसरे शास्त्रीय दृष्टि से किसी रसयुक्त रचना में गुण के अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दोष का लक्षण और स्वरूप

दोष के लक्षण अथवा स्वरूप के विषय में ध्वनिपूर्ववर्ती और

---

1 यत्तु परमलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यमम्। का० अ० ६।१०
2 दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः। अलं० शे० पृष्ठ १४
3 वा० अ० १।५, २१
4 न च किंचित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित्। तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः। ना० शा० १७।९०
5 किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्। सा० द० १म परि० पृष्ठ २१
6 अ० शे० पृष्ठ १२

सप्तम अध्याय

दोष

दोष-हेयता

ध्वनिपूर्ववर्ती और ध्वनिपरवर्ती आचार्य काव्य-विषयक विभिन्न धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए भी दोष की निन्दा और उसकी हेयता के सम्बन्ध में एक-मत हैं। इन आचार्यों के दो वर्ग हैं। एक वे जो दोष को नितान्त हेय समझते हैं। दूसरे वे जिनका दृष्टिकोण थोड़ा उदार है। प्रथम वर्ग में भामह, दण्डी, रुद्रट, केशव मिश्र और वाग्भट उल्लेख्य हैं, तथा दूसरे वर्ग में भरत और विश्वनाथ।

भामह के अनुसार काव्य में एक पद भी सदोष नहीं होना चाहिए। सदोष काव्य कुपुत्र के समान निन्दाजनक है। काव्यरचना न करना कोई अधर्मजनक, व्याधिकारक अथवा दण्डदायक नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है।[1]

दण्डी के शब्दों में—सम्यक्-प्रयुक्ता अर्थात् दोष-शून्या और गुणालंकारयुक्ता वाणी कामधेनु के समान है, पर सदोषा वाणी कवि की मूर्खता को प्रकट करती है। काव्य में दोष का लेशमात्र भी क्षम्य नहीं है। श्वेत कुष्ठ के एक [छोटे से] चिन्ह के कारण सुन्दर शरीर भी अपनी कान्ति खो बैठता है।[2]

---

१ सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ भा० अ० १।११,१२

२ गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० द० १।६,७

अलंकारवाद के समर्थक रुद्रट निरलंकृत भी काव्य को मध्यम काव्य मानने को तभी उद्यत हैं जब वह दोष-रहित हो।[1] केशवमिश्र द्वारा उद्धृत एक पद्य दोष को रस का हानिकारक और पूर्ण रूप से त्याज्य निर्दिष्ट करता है,[2] और वाग्भट ने सम्भवतः भावुकता के अतिरेक में आकर दोषाभाव को स्वर्ग का सोपान और दोष को विष के समान कहा है।[3]

किन्तु उधर भरत का दृष्टिकोण उदार और क्षमापूर्ण है। सदोष नाटक (काव्य) के सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषों के सम्बन्ध में किसी [आलोचक] को अधिक संवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ गुण-हीन अथवा दोष-हीन नहीं है।[4] और आगे चलकर विश्वनाथ भी [चाहे उनका लक्ष्य मम्मट के काव्यलक्षण का जान-बूझकर बुरी तरह से खण्डन करना था] सदोष काव्य को सर्वथा अग्राह्य नहीं मानते। अनार के दो चार सड़े गले दानों से सारा अनार फेंक नहीं दिया जाता। उनके कथनानुसार 'यदि निर्दोषता को काव्य का आवश्यक तत्त्व ठहराया जाएगा, तो काव्य या तो प्रविरल विषय बन जाएगा अथवा निर्विषय।'[5] निस्सन्देह कोई भी अनतिवादी उदारचेता व्यक्ति भरत और विश्वनाथ की उक्त धारणाओं से असहमत नहीं होगा; और किसी अज्ञात आचार्य के इस कथन से भी शायद सहमत न होगा कि—

'काव्ये गुणोऽस्तु वा माऽस्तु, महान् निर्दोषता गुणः'[6]

क्योंकि एक तो निर्दोषता एक असम्भव सा भाग है, और दूसरे शास्त्रीय दृष्टि से किसी रसयुक्त रचना में गुण के अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दोष का लक्षण और स्वरूप

दोष के लक्षण अथवा स्वरूप के विषय में ध्वनिपूर्ववर्ती और

---

1 वस्तुनरलंकारं निर्दोषं यदि तन्मध्यमम्। का० अ० ६।४
2 दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः। अलं० शे० पृ० १४
3. वा० अ० २।५, २६
4 न च किंचित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित्।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः॥ ना० शा० १७।१३०
5. निर्दोषं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्। सा० द० १म परि० पृष्ठ २१
6 अ० शे० पृष्ठ १४

ध्वनिपरवर्ती आचार्यों के बीच एक स्पष्ट विभाजन-रेखा सी खिच जाती है। प्रथम वर्ग के आचार्यों ने दोष का सम्बन्ध गुण के साथ स्थापित किया है, तो द्वितीय वर्ग के आचार्यों ने रस के साथ। अपवाद इसके अपवाद हैं।

भरत ने दोष का स्पष्ट लक्षण कहीं प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, उनके गुण-स्वरूप से दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में संकेत अवश्य मिल जाता है। उनके कथनानुसार 'गुण दोषों से विपर्यस्त हैं।'[1] पर वामन की धारणा भरत से विपरीत है—'दोष का स्वरूप गुण से विपर्यय है।'[2] 'विपर्यय' शब्द का एक अर्थ है अभाव, और दूसरा अर्थ है वैपरीत्य। किसी व्यक्ति में न तो दौर्बल्य का अभाव उसके शौर्य का परिचायक है और न शौर्य का अभाव उसके दौर्बल्य का। सुन्दरता का अभाव अलग बात है और कुरूपता अलग बात है। अतः कह सकते हैं कि शौर्य और दौर्बल्य अथवा सुन्दरता और कुरूपता परस्पर अभावात्मक न होकर विपरीत भाव से स्थित हैं और उनकी सत्ता स्वतन्त्र है। किन्तु फिर भी कुछ दोष ऐसे हैं, जो गुण के विपरीत न होकर गुण के अभाव के रूप में स्वीकृत किए जा सकते हैं, उदाहरणार्थ 'कायरता' साहस के अभाव का ही दूसरा नाम है। अतः वामन-सम्मत दोष को प्रमुखतः गुण से विपरीत मानना संगत है, और गौण रूप से गुण का अभावात्मक भी। दण्डी ने विपरीत भाव की ही ओर स्पष्ट संकेत किया है—'गुण काव्य की सम्पत्ति अर्थात् सौन्दर्य विधायक तत्त्व हैं तो दोष उस की विपत्ति अर्थात् सौन्दर्यविघातक तत्त्व।'[3]

आगे चलकर रस-सिद्धान्त की स्थापना ने दोष-स्वरूप को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। आनन्दवर्धन ने रस के अपकर्ष और अपकर्ष के ही आधार पर दोषों के नित्य और अनित्य रूप को प्रथम बार स्थिर किया तथा रस-दोषों की गणना की।[4] यद्यपि इन से पूर्व भरत और रुद्रट ने भी संकेत अवश्य किए थे पर भरत ने दोषों की रसहीनता प्रतिपादन में केवल 'चेष्टोक्ति' आदि विकृत (विशिष्ट दोष-युक्त) शब्दों से बचने का आदेश दिया था और बस,[5] तथा रुद्रट ने 'विरस' नामक दोष की अपवाद में गणना करके[6]

---

१ ना० शा० १।९५ २ गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। का० सू० २।१।१
३. दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा। का० द० (प्रभा टीका) पृष्ठ ३ ४
४ ध्वन्या० २।११; ३।१८-१९ ५. ना० शा० १८।१२१
६ का० अ० (रु०) ११।१२

प्रकारान्तर से रस तथा दोष के परस्पर गम्भीर सम्बन्ध से अपना अपरिचय दिखाया था।

आनन्दवर्द्धन की उक्त धारणाओं से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने दोष का लक्षण प्रस्तुत किया है—मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः।[1] यहाँ 'हति' शब्द विनाश का वाचक न होकर अपकर्ष का वाचक है—'हतिरपकर्षः'[2]। अपकर्ष का अर्थ है उद्देश्य-प्रतीति का विघात। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार उद्देश्य-प्रतीति का तात्पर्य है—सरसरचना अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्य में अविलम्बित तथा अनपकृष्ट रूप से रसप्रतीति; और नीरस रचना अर्थात् चित्रकाव्य में अविलम्बित रूप से चमत्कारी अर्थ का ज्ञान[3]। दोष द्वारा सरस रचना का विघात तीन प्रकार से सम्भव है। इनके अतिरिक्त विघात का चौथा प्रकार सम्भव ही नहीं है—

(१) कहीं रस की प्रतीति नहीं होगी

(२) कहीं रस के प्रतीयमान होने पर भी उस का अपकर्ष हो जाएगा

(३) तथा कहीं रस की प्रतीति विलम्ब से होगी।

और उधर नीरस रचना में भी कहीं मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति नहीं होगी, कहीं होगी भी तो चमत्कार-शून्य होगी अथवा कहीं विलम्ब से होगी।[4]

आगे चलकर दोष का मम्मट प्रस्तुत उक्त लक्षण प्रचलित सा हो गया। हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ जयदेवमिश्र आदि आचार्यों ने थोड़े संशोधन के साथ उसे स्वीकृत कर लिया।[5] पर रस के सर्वातिशायी और सर्वाह्लादक महत्त्व को अस्वीकृत करने वाले जयदेव ने न रस दोषों का

१, २. का० प्र० ७।४९ तथा वृत्ति।

३. उद्देश्यप्रतीतिविघातकत्वमपकर्षोहतिशब्दार्थः। उद्देश्या च प्रतीतिः रसवत्यविलम्बिताऽनपकृष्टरसविषया नीरसे त्वविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थविषया च। का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ १११

४. तेषु क्वचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्याप्यपकर्षः क्वचित्तु विलम्बः। एवं नीरसे क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव क्वचिद् विलम्बेन प्रतीतिः, क्वचिदचमत्कारित्वमित्यूह्यम्।

—का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ १०

५. का० अनु० पृष्ठ १३१; प्र० रु० प्र० पृष्ठ २११; सा० द० ७।१; च० लो० पृष्ठ १०

उल्लेख किया और न दोष का स्वरूप रस पर आधृत माना।[1]

निष्कर्ष यह कि रस-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व गुण और दोष का स्वरूप इन्हीं के परस्पर विपर्यय पर आधृत रहा, पर इस के पश्चात् इनके स्वरूप का मूलाधार रस बन गया। गुण रस के उत्कर्षक हुए और दोष रस के ही अपकर्षक। गुण सदा रस का उत्कर्ष करते हैं पर दोष किन्हीं परिस्थितियों में रस का अपकर्ष नहीं भी करते। अतः गुण रस के नित्य धर्म हैं, और दोष अनित्य धर्म।

दोष भेद

दोष-भेदों की संख्या भरत के समय में १० थी पर मम्मट के समय तक यह सत्तर तक जा पहुंची। मम्मट ने इन्हें पद पदांश, वाक्य, अर्थ और रस गत प्रकारों में विभक्त किया। आनन्दवर्धन से पूर्व रसगत दोषों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। मम्मट-सम्मत रसदोषों का दायित्व आनन्दवर्धन पर है। शेष दोष-प्रकारों के अधिकांश भेदों का मूल स्रोत भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और महिमभट्ट द्वारा स्वीकृत दोषों में बड़ी सरलता से ढूंढा जा सकता है। इन दोषों की निम्नलिखित सूची से उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी—

१ भरत-सम्मत १० दोष[2]—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्याय से अपेत विषम विसन्धि और शब्दच्युत—१०

२ भामह-सम्मत २५ दोष[3]—

(क) सामान्य दोष—नेयार्थ क्लिष्ट अन्यार्थ अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ़ शब्दाभिधान —६

(ख) वाणी के दोष—श्रुतिदुष्ट अर्थदुष्ट कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट —४

(ग) विस्तार दोष—विपर्ययपद असमर्थ बहुपूरण और आकुल[4]—४

---

१ ध्व आ २।११ २ ना शा १७।८८

३ का अ (भा) १।३७-४०; ४।१; ५।१७

४. विपर्ययपदत्व का अर्थ है अभीष्ट अर्थवाची शब्दों के स्थान पर विपरीत अर्थवाची शब्दों का प्रयोग 'असमर्थ' से अभिप्राय है अनभीष्ट अर्थ 'बहुपूरणम्' पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त शब्दों का भरमार है और 'आकुल' से अभिप्राय है शब्द अथवा अर्थ के जाल में लिपट जाना।

(घ) अन्य दोष — अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशकालकलालोकन्यायागमविरोध और प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-हीनता —११

३ दण्डि-सम्मत १० दोष—भामह-सम्मत उक्त अपार्थ आदि ११ दोषों में से प्रथम १० दोष।[1] दण्डी के मत में अन्तिम 'प्रतिज्ञा हेतु तथा दृष्टान्त से हीनता' नामक दोष का निरूपण [केवल शास्त्रीय तर्कों के अवगाहन पर अवलम्बित होने के कारण] व्यर्थ है, अतः उसे सरस साहित्यग्रन्थों में स्थान नहीं मिलना चाहिए।[2]

४ वामन-सम्मत २० दोष[3]—

(क) पदगत—असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत और अनर्थक —५

(ख) पदार्थगत—अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील और क्लिष्ट—५

(ग) वाक्यगत—भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि —३

(घ) वाक्यार्थगत—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध और विद्याविरुद्ध —७

५ रुद्रट-सम्मत २६ दोष[4]—

(क) पददोष—असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीतकल्पना, ग्राम्यता, अव्युत्पत्ति और देश्य —७

(ख) वाक्यदोष—संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ और अनलंकार —४

(ग) अर्थदोष—अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र —९

(घ) गुणों के वैपरीत्य से सम्भव अथवा पदवाक्यगत दोष—न्यूनपदता, अधिकपदता, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अपारपदता —६

६ आनन्दवर्धन-सम्मत रसविरोधी ६ तत्त्व[5]—विरोधी रस के

---

1 का द ३।१२६

2 प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥ का द ३।१२७

3 का सू वृ २।१ तथा २।२

4 का ल (रु) ६।२-४; ११।२; ११।८

5 ध्वन्या ३।१८-१९

विभावादि का ग्रहण; रस से सम्बद्ध भी अन्य वस्तु का अविस्तर वर्णन अप्रधान पर रस की समाप्ति तथा प्रकाशन; परिपुष्ट भी रस की पुनः पुनः दीप्ति; और वृत्ति (व्यवहार) का अनौचित्य।

७. महिमभट्ट ने दोष के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। अनौचित्य दो प्रकार का है—अन्तरंग (अर्थविषयक) और बहिरंग (शब्दविषयक)। अन्तरंग अनौचित्य पर रसों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के अनुचित विनियोग (प्रयोग) का उत्तरदायित्व है। इस पर महिमभट्ट ने प्रकाश नहीं डाला। बहिरंग अथवा शब्दगत अनौचित्य के नवीन पाँच भेदों का विधान आचार्य ने गम्भीरतापूर्ण विवेचन किया है, जिसे मम्मट ने अपने शब्ददोषों में लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया है। वे भेद हैं—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।[1]

८. इस प्रकार मम्मट से पूर्व दोषों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत हो चुकी थी। काव्य के अन्य अंगों के समान मम्मट ने इस अंग को भी नवीन और व्यवस्थित रूप दे दिया। पर इनकी नवीनता दोषों को पद पदांश वाक्य, अर्थ और रस गत रूपों में वर्गीकृत करने में निहित नहीं है, यह कार्य तो वामन रुद्रट, भोजराज आदि आचार्य पहले ही सम्पन्न कर चुके थे।[2] इन्होंने उन आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर उक्त वर्गीकरण को व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया। वस्तुतः मम्मट की प्रमुख विशिष्टता है परम्परागत दोषों को रस से सम्बद्ध कर देना। इन्होंने दोष का स्वरूप भी यही माना है—'जो मुख्यार्थ अर्थात् रस का अपकर्षक है। रस अर्थ की अपेक्षा रखता है और शब्दादि (पद पदांश और वाक्य) रस और अर्थ दोनों के उपयोगी हैं। अतः दोष न केवल रसगत है अपितु अर्थ पद पदांश और वाक्यगत भी है। वर्गीकरण के इस शृङ्खलाबद्ध रूप को उपस्थित करने का श्रेय निस्सन्देह मम्मट को है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥ का० प्र० ७।४९

---

१ व्य० वि० २य विमर्श (सम्पूर्ण)
२ देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १८०; स० क० भ० १।७-९ ११४८
१; १।१४ इ०

मम्मट ने गुण को प्रमुख रूप से रस का और गौण रूप से शब्दार्थ का उत्कर्षक धर्म माना। हेमचन्द्र ने उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपकर्षक धर्मता को दोष पर घटित कर दिया। दोष प्रमुख रूप से रस का अपकर्षक है तो गौण रूप से शब्दार्थ का भी—

रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः। का० अनु० पृष्ठ १६

वस्तुतः शब्दार्थ का अपकर्षक होकर भी दोष परम्परासम्बन्ध से रस का ही अपकर्ष करता है। कायरता, लोभ, मिथ्याभिमान आदि दोष आत्मा के साक्षात् अपकर्षक हैं, पर काणत्व, पंगुता, कुब्जता आदि दोष शरीर की कुरूपता द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से आत्मा को भी हीन करते हैं। आज का मनोवैज्ञानिक हीन-भावना का कारण काणत्व आदि बाह्य दोषों को भी मानता है। परम्परागत उक्ति 'क्वचित्काणो भवेत् साधुः' भी शायद इसी आधार पर ठीक उतरती हो—उस की साधुता को हीन-भावना की प्रतिक्रिया मात्र मान सकते हैं। आनन्दवर्धन द्वारा परिगणित उक्त रस-दोष रस के अपकर्षक साक्षात् रूप से हैं तथा श्रुतिकटु, अपुष्टार्थता, प्रतिकूलवर्णता आदि पद अर्थ और वाक्यगत दोष असाक्षात् रूप से हैं, अथवा परम्परा-सम्बन्ध से हैं। तारतम्य की दृष्टि से विचार किया जाए तो पद पदांश-वाक्यगत दोष निकृष्ट हैं, अर्थगत दोष निकृष्टतर हैं और रसगत दोष निकृष्टतम।

वाक्य-दोषों के सम्बन्ध में एक आक्षेप विचारणीय है कि इन का अन्तर्भाव पद-दोषों में किया जाना सम्भव है। क्योंकि एक तो पदसमूह का ही नाम वाक्य है, और दूसरे, किसी भी वाक्य-दोष द्वारा वाक्य के अनिवार्य तत्त्वों—आकांक्षा योग्यता और आसत्ति—में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचती, जिससे शाब्द-ज्ञान में देर होने की सम्भावना हो जाए। इस आपत्ति का समाधान भी 'रस' की ही अनुकूलता पर आधृत है। साधारण वाक्यों की अपेक्षा काव्यगत सरस वाक्यों की वस्तुगत सामग्री और अर्थप्रतीति में सदा विलक्षणता रहती है। वाक्य-दोषों के उदाहरणों में आकांक्षा आदि तीनों तत्त्वों के विद्यमान रहने पर भी वे रसोत्पादन में समर्थ अनुकूलता से शून्य होते हैं।[1] वाक्य-दोषों को पददोष भी नहीं

---

[1] ननु कथमीषां दोषता आकांक्षायोग्यतासत्त्वे शाब्दज्ञानाविलम्बादिति चेत्। वाक्यान्तरापेक्षया काव्ये सप्रतीतिवैलक्षण्यात्। अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्या

कर सकते हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में सभी पदों के निर्दोष रहते हुए भी वाक्य सदोष होते हैं।

मम्मट के इस प्रकरण की अन्य विशिष्टता है अपने समय तक प्रचलित सभी दोषों में से विशिष्ट दोषों का संचयन और संकलन, जिनकी संख्या ६० के आसपास है। इन दोषों की सूची इस अध्याय के अन्त में प्रस्तुत की जा रही है।[1] इतनी बड़ी दोष-संख्या से बच कर रचना को निर्दुष्ट बनाना कवि के लिए सचमुच एक समस्या बन गई होगी। जो हो दोष-निरूपण को सर्वप्रथम व्यवस्थित आकार प्रकार देने का श्रेय आचार्य मम्मट को है। आगे चलकर हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम वाग्भट द्वितीय जयदेव विद्याधर विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने थोड़े संशोधन और संक्षेप के साथ मम्मट से ही सामग्री ले ली, और पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल आठ रसगत दोषों को रसगंगाधर में स्थान दिया[2] पर उनमें भी कोई नवीनता अथवा मौलिकता नहीं है। आनन्दवर्धन और मम्मट इन पर पहले ही प्रकाश डाल चुके थे।

अन्य दोष

(क) गुण-विपर्ययात्मक दोष—दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में पीछे कह आए हैं कि दोष गुण से स्वतन्त्र होता हुआ भी किन्हीं परिस्थितियों में गुण-वैपरीत्य अथवा गुणाभाव का भी अपर नाम है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में दण्डी वामन और भोज ने इस गुणविपर्ययात्मकता पर भी विचार किया है।

१ दण्डी ने श्लेषादि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है। इन में से अधिकांश गुणों का विपर्यय गौडमार्ग में देखा जाता है।[3] श्लेष गुण का विपर्यय शैथिल्य है, प्रसाद का व्युत्पन्न, समता का वैषम्य अनुप्रासगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का वर्णानुप्रास, सौकुमार्य का दीप्त और कान्ति का अत्युक्ति। यद्यपि दण्डी ने शैथिल्यादि को दोष की संज्ञा नहीं दी, पर इन से युक्त गौड मार्ग वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा हीन और अनुपादेय मार्ग है—यह उन को अवश्य मान्य है।

व्युत्पत्तेः। तथा व्यञ्जकयोगानुकूल्यांशेऽपि रसोत्कर्षानुकूलत्वेऽपि विरहो दोष इति ध्येयम्।   —र० गं० पृष्ठ १

१ देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १८२ १८७

२ र० गं० १ म आ० पृष्ठ ४२   ३ का० द० १।४२

प्रसंग में भामह से सामग्री ली है। रुद्रट का एतत्-सम्बद्ध विवेचन प्रायः स्वतन्त्र है।

१ भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी के नाम से इन सात उपमादोषों का उल्लेख किया है—हीनता, असम्भव, लिंग-भेद, वचन-भेद, विपर्यय, उपमानाधिकता और असदृशता।[1]

२ दण्डी ने इनमें से केवल चार उपमा-दोष माने हैं और वह तभी जब वे सहृदय-जनों के उद्वेग के कारण बनें, अन्यथा नहीं। इस प्रकार दण्डी ने दोष की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति में प्रथम बार अनुद्वेगजनकता अथवा औचित्यविधान की ओर संकेत किया है।[2]

३ वामन ने उक्त सात दोषों में से 'विपर्यय' के अतिरिक्त शेष छः दोषों को स्वीकार किया है।[3]

उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता अथवा अधिकता; उपमेय के लिंग अथवा वचन के अनुसार उपमान के लिंग अथवा वचन का न होना, असदृश और असम्भव उपमान की स्थापना—ये छः दोष तो भामह और वामन को अभीष्ट हैं। इनमें से चार दोष दण्डी को भी स्वीकृत हैं। शेष रहा भामह का सातवाँ 'विपर्यय' नामक दोष—उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता, तो वामन के शब्दों में इसका अन्तर्भाव हीनता और अधिकता में बड़ी सरलता से किया जा सकता है। जहाँ उपमान में अधिकता होगी वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य होगी; और जहाँ उपमान में हीनता होगी वहाँ उपमेय में अधिकता अवश्य होगी। अतः 'विपर्यय' का इन दोनों में अन्तर्भाव होने के कारण इसे अलग दोष मानना उचित नहीं है।[4]

४ रुद्रट ने उपमा के चार दोष गिनाए हैं—सामान्य शब्द-भेद,

---

१ का० अ० (भा०) २।३९

२ न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ का० द० २।५१

३ का० सू० वृ० ४।२।८

४ अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्।
अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति। का० सू० वृ० ४।२।११

वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि।[1] इनके मत में यही चार दोष ही पर्याप्त हैं। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने भामह प्रस्तुत सात उपमा-दोषों में से छः दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है। दोष-सर्वंकषता की दृष्टि से यह विवेचन अवेक्षणीय है—

(क) उपमेय और उपमान का पारस्परिक लिंग और वचन का भेद 'सामान्यशब्दभेद' के आधार पर ही सदोष होता है, अन्यथा नहीं। जैसे 'चन्द्रवत्सेव सुधीरः' यहाँ लिंगभेद, और 'कमलपत्त्रमिव दीर्घे तव नयने' यहाँ वचन-भेद तो सदोष हैं; पर 'अम्बुजा मूपर्व दुर्ला यामी यस्मीव योषिता' में पुमान् और योषित् में, यामः, लक्ष्मा और भूषणम् में लिंगभेद होने पर भी कोई दोष नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त 'सामान्य शब्द भेद' में न केवल उपमेय-उपमान में लिंग, वचन का भेद सम्मिलित है अपितु काल, कारक और विभक्ति का भेद भी सम्मिलित है।

(ख) उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता और अधिकता नामक दोष साम्याभाव अथवा वैषम्य पर ही आश्रित है।

(ग) उपमेय और उपमान की हीनता और अधिकता का 'विपर्यय' नामक दोष 'अप्रसिद्धि' के अन्तर्गत आ जाता है। और फिर कभी कभी निन्दा अथवा स्तुति की इच्छा से जान बूझ कर भी तो उपमान को हीन अथवा अधिक बनाना पड़ता है, जैसे—

मिलि चन्दनेन इव वनं भवति वियोगिनीरक्षमः॥

(घ) भामह का 'असादृश्य' दोष अमान्य है। ऐसा कौन है जो उपमा के लक्षण को जानता हुआ भी सादृश्याभाव में उपमा का उदाहरण प्रस्तुत करेगा; और फिर सदृश उपमान भी यदि अप्रसिद्ध हो तो उसकी स्थापना अशास्त्रीय ही नहीं, अग्राह्मीय भी है।

(ङ) शेष रहा भामह का असम्भव दोष सो वह रुद्रट को स्वीकार है।

५. आनन्दवर्धन ने अर्थालंकार-दोषों का पृथक् रूप से कहीं निर्देश नहीं किया। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में कुछ सीमाएं निर्धारित की हैं।[3] उदाहरणार्थ—

---

१ का॰ अ॰ (रु॰) ११।२४

२ तुलनार्थ—का॰ द॰ २।५२ ५३ ५५ (प्रभा टीका)

३ ध्वन्या॰ २।१८-१९

कर सकते हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में सभी पदों के निर्दोष रहते हुए भी वाक्य सदोष होते हैं।

मम्मट के इस प्रकरण की अन्य विशिष्टता है प्रथम समय तक प्रचलित सभी दोषों में से विशिष्ट दोषों का संचयन और संकलन, जिनकी संख्या ७० के आसपास है। इन दोषों की सूची इस अध्याय के अन्त में प्रस्तुत की जा रही है।[1] इतनी बड़ी दोष-संख्या से बच कर रचना को निर्दुष्ट बनाना कवि के लिए सचमुच एक समस्या बन गई होगी। जो हो, दोष-निरूपण को सर्वप्रथम व्यवस्थित आकार-प्रकार देने का श्रेय आचार्य मम्मट को है। आगे चलकर हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम वाग्भट द्वितीय जयदेव विद्याधर विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने थोड़े संशोधन और संक्षेप के साथ मम्मट से ही सामग्री ले ली, और पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल आठ रसगत दोषों को रसगंगाधर में स्थान दिया[2] पर उनमें भी कोई नवीनता अथवा मौलिकता नहीं है। आनन्दवर्धन और मम्मट इन पर पहले ही प्रकाश डाल चुके थे।

अन्य दोष

(क) गुण-विपर्ययात्मक दोष—दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में पीछे कह आए हैं कि दोष गुण से स्वतन्त्र होता हुआ भी किन्हीं परिस्थितियों में गुण-वैपरीत्य अथवा गुणाभाव का भी अपर नाम है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में दण्डी, वामन और भोज ने इस गुणविपर्ययात्मकता पर भी विचार किया है।

१ दण्डी ने श्लेषादि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है। इन में से अधिकांश गुणों का विपर्यय गौडमार्ग में देखा जाता है।[3] श्लेष गुण का विपर्यय शैथिल्य है; प्रसाद का व्युत्पन्न; समता का वैषम्य; शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का वर्णानुप्रास; सौकुमार्य का दीप्त और कान्ति का अत्युक्ति। यद्यपि दण्डी ने शैथिल्यादि को दोष की संज्ञा नहीं दी पर इन से युक्त गौड मार्ग वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा हीन और अनुपादेय मार्ग है—यह उन को अवश्य मान्य है।

अनुपपत्तेः । तथा वाक्यस्यापि पदानुपपत्तिवत्सत्त्वेऽपि रसोत्कर्षापकर्षादि विरहो दोष इति बोध्यम्। —र० गं० पृष्ठ १

[1] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १९६ १९७

[2] र० गं० १ म आ पृष्ठ ६९ [3] का० द० १।४२

२ वामन ने गुणविपर्ययात्मक दोषों को 'सूक्ष्म-दोष' नाम से अभिहित किया है।[1] उन्होंने इन दोषों का न नामोल्लेख किया है और न स्वरूप निर्देश। पर लगभग प्रत्येक गुण के उदाहरणों के साथ उन्होंने प्रत्युदाहरण इसी उद्देश्य से दिए हैं कि वे सूक्ष्मदोषों के उदाहरण बन जाएँ।[2]

३ भोज ने गुणविपर्ययात्मक दोषों को 'अरीतिमत्' दोषों की संज्ञा दी है। सम्भवतः यहाँ 'रीति' शब्द 'विशिष्टा पदरचना रीतिः', 'विशेषो गुणात्मा'[3] के अनुसार गुण का पर्याय है। अतः 'अरीतिमत्' का अर्थ हुआ—गुणरहित अथवा गुणविपर्ययात्मक दोष। दण्डी के कथनानुसार समाधि गुण काव्य का सर्वस्व है।[4] सम्भवतः इसी कारण भोज ने समाधि को छोड़कर शेष नौ गुणों के विपर्यय दिखाये हैं जो कि इस प्रकार—श्लेष का विपर्यय शिथिलता है समता का विषमता सौकुमार्य का कठोरता प्रसाद का अप्रसन्नता (अप्रसाद) अर्थव्यक्ति का नेयार्थता कान्ति का ग्राम्यता ओज का असमस्तता माधुर्य का अनिर्व्यूढता और औदार्य का अनलंकारता। इनमें से प्रथम तीन दोष शब्दप्रधान हैं, अगले तीन अर्थप्रधान; और अन्तिम तीन उभयप्रधान।[5]

भोज के पश्चात् किसी आचार्य ने ऐसे 'गुण-दोषों' की चर्चा नहीं की। कारण स्पष्ट है गुण को रस का नित्यधर्म मान लेने पर गुण की विपर्ययात्मकता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—और अथवा रौद्र रस के उदाहरण में माधुर्य गुण की अभिव्यंजक रचना होने पर भी वहाँ ओज गुण का विपर्यय 'असमस्तता' न माना जाकर ओज गुण ही माना जाएगा। हाँ, 'प्रतिकूलवर्णता' दोष वहाँ भले ही स्वीकार कर लिया जाए। पर इस दोष का सम्बन्ध भी गुण-विपर्ययता से न होकर रस के साथ है—*वर्णानां रसानुगुणत्वविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम्।*[6]

(ख) अलंकार-दोष—भामह दण्डी वामन और रुद्रट ने उपमा अलंकार के दोषों का भी उल्लेख किया है। दण्डी और वामन ने इस

---

१ गुणविपर्ययात्मानो [illegible] दोषाः। ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते। का सू वृ २२-२३
२ का सू वृ ३।१ (सम्पूर्ण) ३ वही—१।२।७ ८
४ का द १।१ ५ स क भ १।२८ २१
६ सा द ७म परि , पृष्ठ १६

प्रसंग में भामह से सामग्री ली है। रुद्रट का एतत् सम्बन्धी विवेचन प्रायः स्वतन्त्र है।

१ भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी के नाम से इन सात उपमादोषों का उल्लेख किया है—हीनता, असम्भव, लिंग-भेद, वचन-भेद, विपर्यय, उपमानाधिकता और असदृशता।[1]

२ दण्डी ने इनमें से केवल चार उपमा-दोष माने हैं, और वह तभी जब वे सहृदय-जनों के उद्वेग के कारण बनें, अन्यथा नहीं। इस प्रकार दण्डी ने दोष की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति में प्रथम बार अनुद्वेगजनकता अथवा औचित्यविधान की ओर संकेत किया है।[2]

३ वामन ने उक्त सात दोषों में से 'विपर्यय' के अतिरिक्त शेष छः दोषों को स्वीकार किया है।[3]

उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता अथवा अधिकता; उपमेय के लिंग अथवा वचन के अनुसार उपमान के लिंग अथवा वचन का न होना; असदृश और असम्भव उपमान की स्थापना—यह हुए छः दोष जो भामह और वामन को अभीष्ट हैं। इनमें से चार दोष दण्डी को भी स्वीकृत हैं। शेष रहा भामह का सातवाँ 'विपर्यय' नामक दोष—उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता, तो वामन के शब्दों में इसका अन्तर्भाव हीनता और अधिकता में बड़ी सरलता से किया जा सकता है। जहाँ उपमान में अधिकता होगी, वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य होगी; और जहाँ उपमान में हीनता होगी वहाँ उपमेय में अधिकता अवश्य होगी। अतः 'विपर्यय' का इन दोनों में अन्तर्भाव होने के कारण इसे अलग दोष मानना उचित नहीं है।[4]

४ रुद्रट ने उपमा के चार दोष गिनाए हैं—सामान्य शब्द-भेद

---

1 का० अ० (भा०) २।३९

2 न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ का० द० २।५१

3 का० सू० वृ० ४।२।८

4 अनयोर्हीनत्वाधिकत्वयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्।
अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति। का० सू० वृ० ४।२।११

वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि।[1] इनके मत में यही चार दोष ही पर्याप्त हैं। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने भामह प्रस्तुत सात उपमा-दोषों में से छः दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है। दोष-मर्मज्ञता की दृष्टि से यह विवेचन अवेक्षणीय है—

(क) उपमेय और उपमान का पारस्परिक लिंग और वचन का भेद 'सामान्यशब्दभेद' के आधार पर ही सदोष होता है, अन्यथा नहीं। जैसे 'चन्द्र इवेव मुखीरः' यहाँ लिंगभेद, और 'कुवलयवनमिव तीर्णे तव नयने' यहाँ वचन-भेद तो सदोष है; पर 'अन्यदा भूषणं पुंसां शमो लज्जेव योषिताः' में पुमान् और योषित में, शम, लज्जा और भूषणम् में लिंगभेद होने पर भी कोई दोष नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त 'सामान्य शब्द भेद' में न केवल उपमेय-उपमान में लिंग, वचन का भेद सम्मिलित है अपितु काल, कारक और विभक्ति का भेद भी सम्मिलित है।

(ख) उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता और अधिकता नामक दोष साम्याभाव अथवा वैषम्य पर ही आश्रित है।

(ग) उपमेय और उपमान की हीनता और अधिकता का 'विपर्यय' नामक दोष 'अप्रसिद्धि' के अन्तर्गत आ जाता है। और फिर कभी कभी निन्दा अथवा स्तुति की इच्छा से जान बूझ कर भी तो उपमान को हीन अथवा अधिक बनाना पड़ता है, जैसे—

मिहि चपलाया इवार्थ मारयति विघोरिविमिवन्द्रः ॥

(घ) भामह का 'असादृश्य' दोष अमान्य है। ऐसा कौन है जो उपमा के स्वरूप को जानता हुआ भी सादृश्याभाव में उपमा का उदाहरण प्रस्तुत करेगा; और फिर यदि उपमान भी यदि अप्रसिद्ध हो, तो उसकी स्थापना अग्राह्यीय ही नहीं, अवाञ्छनीय भी है।

(ङ) शेष रहा भामह का असम्भव दोष, तो वह रुद्रट का स्वीकार है।

५. आनन्दवर्धन ने अलंकार-दोषों का पृथग् रूप से कहीं निर्देश नहीं किया। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में कुछ सीमाएं निर्धारित की हैं।[3] उदाहरणार्थ—

1. का० अ० (रु०) ११।२४
2. द्रष्टव्य—का० द० २।५१ ५२ ५५ (प्रभा टीका)
3. ध्वन्या० २।१७–१६

(क) शृंगार रस में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग रस का अभिव्यंजक नहीं है।

(ख) शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक आदि का निबन्धन समुचित नहीं है।

(ग) रूपकादि अर्थालंकारों की सार्थकता उनके रसानुकूल प्रयोग में ही निहित है। इस प्रकार के प्रयोग के लिए आवश्यक है कि उनकी विवक्षा सदा रसपरक हो प्रधान रूप से किसी भी दशा में न हो; उन का उचित समय पर ग्रहण और त्याग होना चाहिए तथा आद्यन्त उन के निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

आनन्दवर्धन-सम्मत इन सीमाओं और नियमों के उल्लंघन को अलंकार-दोषों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

६ भोजराज ने वाक्यगत और वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत छः उपमादोषों को भी स्थान दिया है।[१] इस प्रसंग में उनकी अपनी कुछ भी मौलिकता लक्षित नहीं होती।

७ आचार्य मम्मट तक केवल उपमादोषों का ही निर्देश होता रहा, अन्य अलंकार-दोषों का नहीं। अलंकारों में उपमा का प्राधान्य ही इस अधिकार का सम्भव कारण है। मम्मट ने उपमा तथा अन्य अलंकार दोषों की चर्चा करते हुए भी इनका अन्तर्भाव स्वसम्मत दोषों में दिखाया है कि इस प्रकार—[२]

(क) अनुप्रास के तीन दोषों—प्रसिद्धयभाव, वैफल्य और वृत्तिविरोध का क्रमशः प्रतिकूलवर्णता, अपुष्टार्थता और प्रतिकूलवर्णता में;

(ख) यमक को यदि श्लोक के तीन चरणों ही में रखा जाए तो इस दोष का 'अप्रयुक्त' दोष में;

(ग) उपमा के प्रकरण में जाति और प्रमाण में न्यूनता व अधिकता होने पर उन का 'अनुचितार्थता' में; साधारण धर्म में न्यूनता अथवा अधिकता होने पर उनका क्रमशः हीनपदता और अधिकपदता में, लिंग-

---

१ स क भ ११२५,२६ ; ५१ ५२

२ का प्र १ |११२ तथा वृत्ति

वचनभेद और कालपुरुषविधि आदि भेदों का 'प्रक्रमभंगता' में, असादृश्य और असम्भव का 'अनुचितार्थ' में;

(घ) उत्प्रेक्षा अलंकार में ध्रुव इव आदि वाचक शब्दों के स्थान पर यथा आदि शब्दों का प्रयोग करना दोषयुक्त है। इस दोष का 'अवाचकत्व' में उपमा अलंकार में असम्भावित पदार्थ का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार से करना सदोष है इस दोष का अनुचितार्थत्व में

(ङ) समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों में क्रमशः उपमान और उपमेय का शब्द द्वारा कथन सदोष है, इन दोषों का अपुष्टार्थता अथवा पुनरुक्ति में।

विश्वनाथ ने इस प्रसंग में मम्मट का ही अनुकरण किया है—

पृम्मा शृगारंसारदोषाश्चो नैव सम्मत । सा द ७म परि पृष्ठ ४

दोष-गुण —भारतीय काव्यशास्त्र ने दोष को दूर कहा। काव्य के लक्षण में दोष-राहित्य को स्थान मिला। आचार्यों ने इस पर विस्तृत विवेचन भी किया। पर इतना होने पर भी दोष को उन्होंने हर स्थिति में त्याज्य और दूषित नहीं माना। भारतीय आचार्य अनुसार कदापि नहीं था। भरत की इस उदारता का पीछे उल्लेख हो चुका है—'दोषा नात्यर्थता माभाः। भामह ने भी इसी प्रकार संकेत किया है—असाधु पदार्थ भी (साधु) आश्रय के सौन्दर्य से शोभा को धारण कर लेता है—काला अंजन सुनयनी के नयनों के संसर्ग से अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है।[1]

दोष का प्रमुख आधार अनौचित्य है। अनौचित्य ही काव्य में रस-भंग का सब से बड़ा कारण है[2] और रसभंग का दूसरा नाम दोष है। कायरत्व एक दोष है मद्यपान किए हुए भांड़पन भी एक दोष है। किसी काने अथवा मोटे-भद्दे अभिनेता से आदरणीय नायक का अभिनय कराना हास्यास्पद होगा पर उसी अभिनेता से विदूषक का अभिनय कराना गुण है। वस्तुतः दोष की कसौटी है—सहृदय समाज की उद्वेगजनकता अथवा अनौचित्य। महान् से महान् दोष भी यदि उद्वेगजनक नहीं है दूसरे शब्दों में औचित्यपूर्ण है तो वह दोष नहीं रहता।

संस्कृताचार्यों में दण्डी, वामन और रुद्रट ने दोषों के दोषाभावत्व

---

1 का प (भा) १।५५

2 अनौचित्यादृते नान्यद् रसभगस्य कारणम्। ध्व ३।१४ वृ पृष्ठ २५१

और गुणत्व पर प्रकाश डाला है।[1] आनन्दवर्धन ने श्रुतिदुष्ट आदि दोषों को रस के औचित्य अथवा अनौचित्य के आधार पर दोष अथवा गुण के रूप में स्वीकृत करते हुए दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था स्थापित की है। उदाहरणार्थ श्रुतिदुष्टता शृंगार रस में दोष है, पर वही रौद्र रस में गुण है।[2] भोजराज ने १६ पददोषों, १६ वाक्यदोषों और १६ वाक्यार्थदोषों का गुणत्व निरूपित किया है। यहाँ तक कि 'अरीतिमत्' दोषों के अन्तर्गत श्लेष आदि नौ गुणों के विपर्यय शैथिल्य आदि नौ दोषों का भी उन्होंने गुणत्व निरूपित किया है। इस प्रकरण को उन्होंने 'दोषगुण' की संज्ञा दी है। मम्मट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने दोषों की विपरीत स्थिति तीन रूपों में निर्धारित की है—कहीं वे गुण हो जाते हैं कहीं वे दोष नहीं रहते और कहीं वे न दोष रहते हैं और न गुण। उन्हीं से प्रेरित विश्वनाथ का यह कथन उद्धरणीय है—

× × × दोषाणामित्थौचित्यमनमीषिभिः।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥ सा द ७।३२

कुरूपता एक दोष है, पर रसानुकूलता न दोष है और न गुण। इसी प्रसंग में ध्वनिपूर्ववर्ती और ध्वनिपरवर्ती सभी आचार्यों ने 'अनुकरणता' के सम्बन्ध में यही माना है कि इसमें सभी दोष गुण बन जाते हैं।[3] मम्मट के पश्चात् लगभग सभी आचार्यों ने इस दिशा में भी मम्मट का अनुकरण किया है। विश्वनाथ ने इस प्रकरण को थोड़ा व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया है।

मम्मट-प्रस्तुत दोषों की सूची

(क) पदगत दोष—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति अप्रयुक्त, असमर्थ,

---

१ (क) ध्व द ३।१७ १०१ १०६

(ख) का सू २।२।११-२१

(ग) स क १।१९ १६ २२ २४ १६ ७०; ११।१८ २

२ काव्या०—२।१२

३ तुलनार्थ—पातंजल महाभाष्य के "अजाद्यतष्टाप्" ... (२।२।१) सूत्र में '...' शब्द भी इसी ओर संकेत करता है।

निहतार्थ अनुचितार्थ निरर्थक, अवाचक अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत ग्राम्य नेयार्थ क्लिष्ट अविमृष्ट विधेयांश, विरुद्धमतिकृत्। १६

[उक्त दोषों में से—

श्रुतिकटु से लेकर नेयार्थ तक तेरह दोष पदगत होते हैं, तथा अन्तिम तीन दोष समासगत होते हैं।

च्युतसंस्कृति, असमर्थ, और निरर्थक को छोड़कर शेष तेरह दोष पदगत होने के अतिरिक्त वाक्यगत भी होते हैं। इन तेरह दोषों में से कुछ दोष पदांशगत भी होते हैं।]

(ख) वाक्यगत दोष—प्रतिकूलवर्ण,उपहतविसर्ग,लुप्तविसर्ग,विसन्धि हतवृत्त, न्यूनपद अधिकपद कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्धान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग, अनभिहितवाच्य, अस्थानस्थपद, अस्थानस्थसमास, संकीर्ण गर्भित, प्रसिद्धिहत भग्नप्रक्रम, अक्रम, अमतपरार्थ। २१

(ग) अर्थदोष—अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य सन्दिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, सनियम परिवृत्त अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त, अविशेषपरिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, त्यक्तपुनः स्वीकृत अश्लील। २३

(घ) रसदोष—व्यभिचारिभाव रस तथा

स्थायिभाव, की स्वशब्दवाच्यता, अनुभावों तथा विभावों की अभिव्यक्ति में कष्ट कल्पना; प्रकृत रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारिभाव की वर्णना; अङ्गभूत रस की पुनः पुनः दीप्ति; अनवसर में रस वर्णना अनवसर में रस-विच्छेद; अप्रधान का अत्यन्त विस्तृत वर्णन प्रधान की विस्मरता प्रकृति-गत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन; रस के अनुपकारक का वर्णन। १०

अष्टम अध्याय

गुण

गुण-निरूपण में वैविध्य

संस्कृत के आदि आचार्यों में गुण के स्वरूप के विषय में एकमत नहीं रहा—न इसके लक्षण के विषय में, न इसकी स्थिति के विषय में, और न इसके प्रकारों की संख्या के विषय में। कभी इसे रीति के आश्रित माना गया और कभी रीति को इसके आश्रित कहा गया। कभी गुण और अलंकार में नितान्त अभेद समझा गया, कभी दोनों में तारतम्य भाव का अन्तर कहा गया और कभी दोनों को विभिन्न स्वीकार किया गया। कभी इसे शब्दार्थ का धर्म माना गया तो कभी रस का और फिर कभी प्रकारान्तर से इसका भी खण्डन कर दिया गया। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण में पर्याप्त वैविध्य रहा है।

गुण का स्वरूप

वामन और आनन्दवर्धन केवल ये दो ही आचार्य हैं जिन्होंने गुण का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत किया है। मम्मट और विश्वनाथ पर आनन्दवर्धन का प्रभाव है और हेमचन्द्र पर मम्मट का। वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने गुण का स्पष्ट लक्षण नहीं दिया, फिर भी गुणस्वरूप पर उनके विचार प्रकट हो ही जाते हैं।

भरत—भरत ने श्लेष प्रसाद आदि दस गुणों को काव्य के गुण स्वीकार करते हुए इन्हें क्रमशः गूढ़ अर्थान्तर आदि दस दोषों से विपर्यस्त माना है—

> एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
> एत एव विपर्यस्ताः, गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥ ना० शा० १७।९५

पर भरत सम्मत दोषों और गुणों के लक्षणों की पारस्परिक तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ये गुण उक्त दोषों के—क्रमशः अथवा अक्रमशः—'विपर्यस्त' शब्द के निम्नोक्त तीनों रूपों में से किसी भी रूप पर आधृत नहीं हैं—न 'विपरीतभाव' पर आधृत हैं, न 'अन्यथाभाव' पर और न 'अभाव'

पर। हमारे विचार में 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः' में 'गुणाः' शब्द का रसोपादि व्यक्तिगत गुणों का वाचक न मान कर सामान्य गुण शब्द का वाचक मान लेना चाहिए। अब भरत-सम्मत धारणा यह होगी कि दोष काव्यशोभा के विघातक हैं, तो गुण (उनके विपर्यस्त रूप में स्थित होने के कारण) काव्य-शोभा के विधायक हैं। भरत की यह धारणा रस-सम्मत 'भूषण' नामक लक्षण (काव्यलक्षण) तथा 'समता' नामक गुण की परिभाषाओं से भी पुष्ट हो जाती है। 'भूषण' में अलंकारों के साथ गुणों को भी विविधार्थोत्पादक 'भूषणों' का पर्याय माना गया है,[1] और 'समता' में गुण और अलंकारों को एक दूसरे के भूषक कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त भरत ने गुण और अलंकार दोनों का रसोपकारात्मक प्रयोग निर्दिष्ट करके इनके समानमहत्त्व की ओर भी संकेत किया है। अतः भरत के मत में कुल मिलाकर गुण का स्वरूप यह हुआ—

(१) गुण काव्य (शब्दार्थ) के शोभावर्धक हैं।

(२) गुण और अलंकार अलग होते हुए भी समान महत्त्व रखते हैं। (भावी आचार्य उद्भट इसी धारणा से सहमत हैं।)

(३) गुण रसानुकूल प्रयोग की अपेक्षा रखते हैं।

निष्कर्ष में भरत-सम्मत गुण का स्वरूप हुआ—गुण रसानुकूल प्रयोग के आश्रय से काव्यशोभा के वर्धक हैं।

दण्डी—दण्डी ने एक ओर श्लेष, प्रसाद आदि गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है;[3] तो दूसरी ओर स्वभावाख्यान उपमा आदि अलंकारों को वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों के सामान्य अलंकार मानते हुए गुणों को प्रकारान्तर से केवल वैदर्भ मार्ग के विशेष अलंकार माना है।[4] इस दृष्टि से गुण भी अलंकार तो हुए, पर अपेक्षाकृत उत्कृष्ट काव्य के। दण्डि-सम्मत अलंकार का लक्षण है—काव्य (वैदर्भ और गौड काव्य) के

---

1 अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्॥ ना० शा० १७।६

2 अन्योन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम्।
अलंकारगुणाश्चैव समासात् समता मता॥ ना० शा० १७।११

3. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। का० द० १।४२

4 का० द० २।३

शोभाकारक धर्म— काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। अतः दण्डी के अनुसार गुण का स्वरूप हुआ—वैदर्भ काव्य का 'प्राण' अर्थात् शोभाकारक (अनिवार्य) धर्म; और 'काव्य' कहते हैं 'इष्ट अर्थ से संयुक्त पदावली' को।[1]

भरत ने गुणों को रस के आश्रित निर्दिष्ट किया था, पर इधर दण्डी ने माधुर्य गुण का लक्षण 'मधुरं रसवत्' प्रस्तुत करके प्रकारान्तर से रस को ही गुणों के आश्रित माना है।

वामन—गुण का सर्वप्रथम स्पष्ट लक्षण वामन ने किया है—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः (का सू ३।१।१)। स्पष्ट है कि भरत दण्डी और वामन इस विषय में एकमत हैं कि गुण काव्य के शोभाकारक हैं। दण्डी ने गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (रीति) के प्राण कहा था, पर वामन एक पग और आगे बढ़ गए—'रीति' गुणों की विशेषता के कारण ही रीति कहाने की अधिकारिणी है, अन्यथा नहीं—विशेषो गुणात्मा (का सू १।२।८)। अर्थात् गुण कारण है और रीति कार्य। दूसरे शब्दों में जिस रीति को वामन ने काव्य की आत्मा माना है, वही 'रीति' गुणों पर ही आश्रित है। इस प्रकार वामन के मत में गुण का महत्त्व स्वतःसिद्ध है।

आनन्दवर्द्धन मम्मट और विश्वनाथ—आनन्दवर्द्धन से पूर्व भरत दण्डी और वामन स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर से गुण को काव्य अर्थात् शब्दार्थ का धर्म मानते आए थे, पर आनन्दवर्द्धन ने प्रथम बार इसे रस का आश्रित धर्म स्वीकार करके इसके स्वरूप को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। मम्मट और विश्वनाथ ने भी इसी मूल तत्त्व को स्वीकार कर लिया। उक्त तीनों आचार्यों विशेषतः मम्मट के मतानुसार कुछ मिलाकर गुण का स्वरूप इस प्रकार है[2]—

(१) जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार

---

१ वही १।१

२ (क) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६

(ख) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ ध्वन्या० २।६

(ग) रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः × × × ॥ सा० द० ८।१

माधुर्य आदि तीन गुण भी रस के धर्म हैं। रस अंगी है और गुण अंग।

(२) रसयुक्त रचना में गुण की स्थिति अचल है। रसविहीन रचना में गुण का भी अभाव होगा।

(३) गुण रस का सदा उत्कर्ष करते हैं।

इस प्रकार गुण की परिभाषा हुई—जो रस के धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहते हैं और उसका उत्कर्ष करते हैं, वे गुण कहाते हैं।

नव्य आचार्यों के उपर्युक्त गुण-स्वरूप को व्यवहार की दृष्टि से देख लें। शृङ्गार रस की किसी रचना को पढ़ कर अनुभवसिद्ध सहृदय व्यक्ति का चित्त द्रुत हो जाएगा, और चित्त की द्रुति होते ही शृंगार रस का परिपाक। चित्त-द्रुति और रस-परिपाक की अवस्थिति में अत्यन्त निकटता है—द्रुति अन्तिम से पहली अवस्था है और रस-परिपाक अन्तिम अवस्था है। रस के परिपाक से पहिले चित्त का द्रुत होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में 'द्रुति' रस-परिपाक रूप चरमावस्था तक ले जाने में साधक, मम्मट के शब्दों में 'उत्कर्षहेतु', बनती है।[1]

साहित्यशास्त्र में इन्हीं द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों का नाम माधुर्यादि गुण है। गुणों को रस का अचल और साथ ही साथ उसका उत्कर्षक धर्म मानने की यही व्याख्या है। अन्यथा जिसे अनिवार्य धर्म के रूप में रहना ही है, वह उसका उत्कर्ष (उन्नयन) क्या करेगा? सौरभ पुष्प का अनिवार्य धर्म है, पर वह इसका उन्नायक धर्म न होकर साधक धर्म है। मम्मट के 'उत्कर्ष हेतु' शब्द को 'साधक' का वाचक मानना चाहिये 'उन्नायक' का नहीं।

निष्कर्ष—भरत से लेकर विश्वनाथ तक गुण के स्वरूप का यही सारांश है। भरत और दण्डी ने गुण को प्रकारान्तर से शब्दार्थ का धर्म माना और वामन ने स्पष्ट रूप से। दण्डी ने इन्हें केवल वैदर्भ मार्ग के लिए अनिवार्य ठहराया; पर वामन की 'रीति' काव्य की आत्मा कहलाने की अधिकारिणी भी तभी बनती है, जब वह इन गुणों से विशिष्ट हो। यहां तक गुण का स्वरूप स्थूल था—वह केवल बाह्य आकार तक ही सीमित रहा। पर आनन्दवर्धन ने गुण के अन्तःस्वरूप को पहचानते हुए उसे रस का

1 रसोत्कर्षस्तदनुभवसिद्धचित्तद्रुत्यादिरूपकार्यविशेषप्रयोजकत्व-रूपो बोध्यः। का० प्र० बा० बो० टीका पृष्ठ ४६२

धर्म माना,[1] जिसका अनुकरण आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ जैसे मनीषी साहित्याचार्यों ने भी कर लिया।

गुणनिरूपक आचार्य और गुण के प्रकार

गुणनिरूपक आचार्यों को हम पाँच प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रथम प्रकार उन आचार्यों का है जिन्होंने भरत के अनुकरण पर गुण को शब्दार्थ का धर्म स्वीकार करते हुए दस गुणों का निरूपण किया।[1] उन आचार्यों के नाम हैं—भरत, दण्डी, वामन, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय और जयदेव। इन में से दण्डी और वामन ने गुणों का सम्बन्ध क्रमशः मार्ग अथवा रीति के साथ स्थापित किया। वामन ने एक ही नाम के दस शब्दगत और दस अर्थगत गुण माने। वाग्भट१ के निरूपण में कोई मौलिकता नहीं है। जयदेव ने कान्ति और अर्थव्यक्ति गुणों का क्रमशः शृंगार रस और प्रसाद गुण में अन्तर्भाव करके[2] शेष आठ गुण स्वीकृत किये।

द्वितीय प्रकार उन आचार्यों का है, जिन्होंने आनन्दवर्द्धन के अनुकरण पर गुण को रस का धर्म मानते हुए केवल तीन ही गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकृत किए। उन आचार्यों के नाम हैं—आनन्दवर्द्धन, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, विश्वनाथ और जगन्नाथ। इनमें से सर्वप्रथम मम्मट ने वामन के २० गुणों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्द्धन-प्रतिपादित तीन गुणों की प्रतिष्ठा की। मम्मट और विश्वनाथ के गुण-लक्षण आनन्दवर्द्धन के अनुकरण पर निर्मित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। हेमचन्द्र और विद्याधर ने मम्मट का अनुकरण किया है। जगन्नाथ ने गुणों की परिभाषाएँ स्पष्ट रूप से नहीं दी,[3] पर उन के विवेचन से प्रकट होता है कि वे इस सम्बन्ध में मम्मट से सहमत हैं। यद्यपि आनन्दवर्द्धन से पूर्व भामह ने भी उक्त तीन ही गुण स्वीकार किए थे पर एक ओर भामह और

---

१ भरत-सम्मत दस गुण ये हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥

ना० शा० १७।९६

२ च० आ० ५।१

३ वृत्त्यादिष्वेव वा माधुर्यादिकमस्तु। र० गं० १म आ० पृष्ठ ६६

दूसरी ओर आनन्दवर्धन एवं उनके मम्मट आदि अनुकारी आचार्यवर्यों के दृष्टिकोणों में महान् अन्तर है। भामह के गुण केवल बाह्य हैं, पर आनन्दवर्धन के गुण प्रधान रूप से आभ्यन्तर हैं और गौण रूप से बाह्य हैं।

तृतीय प्रकार में केवल कुन्तक का नाम गण्यनीय है। यद्यपि उन्होंने दण्डी और वामन के समान 'मार्ग' के अन्तर्गत गुणों का वर्णन किया है, अतः इन्हें भी उपर्युक्त प्रथम वर्ग में स्थान मिलना चाहिए, पर एक तो इनके तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—वैदर्भादि मार्गों के समान देश परक न होकर कविस्वभाव पर आधृत हैं; और दूसरे, कुन्तक ने इन मार्गों के लिए परम्परागत श्लेष आदि गुणों को न अपना कर औचित्य और सौभाग्य नामक 'साधारण' गुणों, तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक विशेष गुणों को अपनाया है। इन में से औचित्य और सौभाग्य तो तीनों मार्गों में एक ही रूप से पाये जाते हैं, और शेष चार गुण प्रत्येक मार्ग में विभिन्न रूप से।[1] कुन्तक को प्रथम प्रकार में न रख कर अलग स्थान देने का यही कारण है। तर्क-सम्मत और पुष्ट होते हुए भी इनके मार्ग-गुणों का इनके पश्चात् अनुकरण नहीं हुआ। इसका दायित्व सम्भवतः कुन्तक की कठिन विवेचनशैली पर है; अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोक-प्रियता पर।

चतुर्थ प्रकार में केवल दो ही आचार्य हैं—भोजराज और विद्यानाथ। इन्होंने गुणों की संख्या २४ मानी है, जिनमें से दश गुण तो भरत-सम्मत हैं, और शेष चौदह गुण सम्भवतः भोजराज से भी पूर्व विद्वत् परम्परानुमोदित हैं। इन के नाम हैं—उदात्तता, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि।[2]

भोजराज ने इन्हीं गुणों को वामन के समान बाह्य (शब्दगत) और आभ्यन्तर (अर्थगत) मानते हुए इनकी संख्या ४८ मानी है, पर विद्यानाथ

---

1 व जी १।१०-३१
2 स क भ ।१८-२५। इसी प्रकरण में भोज ने इन गुणों के अतिरिक्त वैशेषिक गुण भी माने हैं। वे दोष जो परिस्थिति-वश गुण बन जाते हैं, वैशेषिक गुण कहाते हैं। इनके परिचय के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ दोष-प्रकरण पृष्ठ ११५-११८

ने इनके बाह्य और आभ्यन्तर रूप पर विचार नहीं किया। उन्होंने इन गुणों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है। एक वे जो दोषपरिहार के कारण स्वीकृत होने के कारण सर्वसम्मत नहीं हैं; और दूसरे वे, जो स्वतः ही चारुत्वातिशय के हेतु हैं अतः परमोत्कृष्ट हैं।[1]

केशव मिश्र को भी इसी वर्ग में अन्तर्भूत करना चाहिए। इन्होंने उक्त चौबीस गुणों में से पाँच शब्दगुण और चार अर्थगुण गिनाए हैं, और इन्हीं में ही भोज-सम्मत शेष पन्द्रह गुणों को अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।[2]

पंचम प्रकार के अन्तर्गत हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा संकेतित वे अज्ञातनामा आचार्य आते हैं जिन्होंने पाँच अथवा छः गुण माने हैं। पाँच गुणों के नाम ये हैं—ओज, प्रसाद मधुरिमा साम्य और औदार्य[3] तथा छः गुणों के नाम ये हैं—व्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तर-रहस्योक्ति और संग्रह[4]।

उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट है कि—

(१) भरत और आनन्दवर्धन द्वारा सम्मत क्रमशः दस और तीन गुण समय-समय पर सम्मान पाते रहे।

(२) वामन के दस शब्दगत और दस अर्थगत गुण सम्भवतः साहित्यशास्त्रियों में अपेक्षाकृत अधिक सम्मान्य रहे होंगे तभी मम्मट को

---

१ विद्यानाथ के मत में पहली श्रेणी के अन्तर्गत ये १२ गुण हैं—
सौकुमार्य कान्ति अर्थव्यक्ति संमितता उदात्त ऊर्जस्वित्व रीति प्रसाद उक्ति, सौक्ष्म्य, समता और प्रेयान्। ये गुण क्रमशः इन दोषों के निराकरण-स्वरूप स्वीकृत हुए हैं—श्रुतिकटुता ग्राम्यता अपुष्टार्थता, अयुक्तिमार्थता, विसन्धि एकार्थकर्णता, निरुक्त, अरिष्ट, श्रुतसंस्कृति प्रक्रमभंग और ग्रस्त। भोजराज-सम्मत शेष बारह गुण दूसरी श्रेणी के हैं। प्र० रु० यू० पृष्ठ ११९

२ अ० शे० १।१।१२

३ का० अनु० (हेम) पृष्ठ २० द्वितीय भाग

४ च० आ० ३।१२

भरत और दण्डी के दस गुणों का खण्डन न करके वामन के ही गुणों का खण्डन करना पड़ा।[1]

(३) दस गुणों और तीन गुणों के आगे भोजराज के २४ गुण टिक न सके। विद्यानाथ और केशवमिश्र ने भोजराज का आधार तो लिया, पर उनका पूर्ण अनुकरण न किया।

(४) हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा संकेतित अज्ञातनामा आचार्यों के क्रमशः पाँच और छः गुण भी कालग्रस्त हो गये।

(५) कुन्तक ने परम्परा की अवहेलना तो की, पर उसकी मौलिकता आज भी साहित्यिक जगत् में उपादेय और प्रशंसनीय है।

गुणों का स्वरूप

(१)

भरत, दण्डी और वामन द्वारा प्रस्तुत दस गुणों के लक्षणों[2] के अवलोकन से प्रतीत होता है कि—

(क) भरत-सम्मत गुणों में—

समता, माधुर्य ओज और कान्ति शब्दगत हैं;
समाधि और अर्थव्यक्ति अर्थगत हैं; और
श्लेष प्रसाद, सौकुमार्य और उदारता शब्दार्थगत हैं।

(ख) दण्डि-सम्मत गुणों में—

श्लेष समता ओज और सुकुमारता शब्दगत हैं; और
शेष छः गुण अर्थगत हैं।

(ग) वामन के—

शब्दगुणों में अर्थव्यक्ति और कान्ति को; तथा अर्थगुणों में प्रसाद और ओज को शब्दार्थगुण कहा जा सकता है।

---

१ केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचित् न ततो दश ॥ का प्र ८।७२
विशेष विवरण के लिए देखिए 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' पृष्ठ ५६१-६०

२. ना शा १७।९६-१०७; का द १।४१-१००; का सू वृ० ३।१।४-२५ तथा ३।२।१-१५

(घ) पारिभाषिक शब्दावलि में अन्तर होते हुए भी निम्नलिखित गुणों के स्वरूप लगभग एक से हैं—

(१) प्रसाद, समाधि कान्ति—भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)

(२) सुकुमारता, अर्थव्यक्ति—भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)

(३) सुकुमारता—भरत और वामन-सम्मत (दोनों के अर्थगत)

(४) समता—दण्डी और वामन-सम्मत (शब्दगत)

(५) ओज—भरत और दण्डी

(६) श्लेष दण्डि-सम्मत तथा शब्दगत ओज वामन-सम्मत

(ङ) उक्त तीनों आचार्यों के गुणों में साहित्यशास्त्र के निम्नोक्त तत्त्व स्पष्टतया वर्णित होते हैं—

(१) अन्यार्थप्रतीति—भरत और दण्डी के समाधि और वामन के अर्थगत समाधि गुण से अन्यार्थ की प्रतीति होती है।

(२) रस—दण्डी के माधुर्य गुण से रस की क्षीण झलक और वामन के अर्थगत कान्ति गुण से रस की स्पष्ट झलक मिलती है।

(३) उक्तिवैचित्र्य—वामन का अर्थगत माधुर्य गुण उक्तिवैचित्र्य का द्योतक है।

(४) अर्थचारुत्व—भरत और दण्डी के प्रसाद और सुकुमार गुण; वामन के अर्थगत प्रसाद और सुकुमार गुण; भरत का (दुर्बोधता-राहित्यसूचक) समता गुण, और तीनों आचार्यों के अर्थव्यक्ति गुण रचना के अर्थचारुत्व में ही स्वीकृत किये जाते हैं।

(५) गाढबन्धता—तीनों आचार्यों के श्लेष और ओज गुणों का; तथा वामन के शब्दगत उदारता गुण का प्रधान लक्ष्य समस्तपदता और गाढ बन्ध है।

(६) लय—वामन के शब्दगत समाधि गुण में (शिखरिणी आदि छन्दों के समान) रचना का उतारचढ़ाव सूचित होने के कारण लय का संकेत मिलता है।

(२)

मम्मट तथा विश्वनाथ-सम्मत तीन गुणों का स्वरूप इस प्रकार है—
माधुर्य—चित्त का द्रुतिस्वरूप आह्लाद—जिसमें अन्तःकरण द्रुत हो

जाए ऐसा आनन्द विशेष—माधुर्य गुण कहाता है। यह गुण सम्भोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रसों में क्रम से बढ़ा हुआ रहता है।[1]

इस गुण के व्यंजक वर्ण ये हैं—ट, ठ, ड, और ढ को छोड़ कर शेष स्पर्श वर्णों (क से लेकर म तक वर्णों) का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहना कि पंचम वर्ण पहले आए और स्पर्श वर्ण पीछे। उदाहरणार्थ ङ्क, न्त, आदि। इनके अतिरिक्त रकार तथा णकार ह्रस्व स्वर से युक्त होते हैं।

इस गुण में समास का सर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है।[2]

ओज—चित्त का विस्तार-स्वरूप दीप्तत्व ओज कहाता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इस की अधिकता रहती है।[3]

---

१ (क) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
का प्र ८।६८,६९

(ख) चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥ सा० द ८।२,३

२ का प्र ८।७४ सा द ८।३

माधुर्य गुण का एक उदाहरण लीजिए—

इक भाइ मैं कुन्दन बेलि लसी,
मनिमन्दिर की छवि पुंज भरैं।
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ
अरविंदन तें मकरंद झरैं।
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै
फल सुन्दर द्वै पर आनि परैं।
लखि यों दुति-कंद अनंद-कला,
नँदनंद सिलाद्रव रूप ढरैं। —चिन्तामणि

३ (क) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥
का प्र ८।६९,७

इस गुण के व्यञ्जक वर्ण ये हैं—वर्गों के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का चौथा अक्षर—जैसे स्वच्छ, बद्ध आदि। इनके अतिरिक्त ऊपर या नीचे रकार से युक्त अक्षर तथा ट, ठ, ड, ढ श और ष ये सब ओज गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं।[1]

इस गुण में लम्बे लम्बे समास होते हैं और रचना उद्धत होती है।[2]

प्रसाद—जैसे सूखे ईंधन में अग्नि झट से व्याप्त हो जाती है अथवा जैसे जल स्वच्छ वस्त्र में तुरन्त व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार जो रचना सामाजिक के हृदय में तुरन्त व्याप्त हो जाती है, वह प्रसाद गुण से युक्त कहाती है। ऐसे सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण के व्यञ्जक होते हैं, जिनके सुनते ही इनके अर्थ की प्रतीति हो जाए। यह गुण सभी रसों और सभी प्रकार की रचनाओं में रह सकता है।[3]

(ख) ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥
सा० द० ८।४,५

1. का० प्र० ८।७५, सा० द० ८।५,६
2. का० प्र० ८।७५, सा० द० ८।७

ओज गुण का उदाहरण लीजिए—

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि बूत भिरत सुर दूत विरत तहँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमसान अति 'भूषन' तेज कियो अटल।
सिवराज साहि-सुव खग्ग बल दलि अडोल बहलोल दल॥

3. (क) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥
का० प्र० ८।७१ ७६

(३)

आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत माधुर्य आदि तीन गुणों के लक्षणों[1] का निष्कर्ष यह है—

(१) विभिन्न रसों के चर्वण से सामाजिक के हृदय की तीन दशाएं होती हैं—द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति। ये तीनों चित्तवृत्तियां कही जाती हैं। चित्त के आर्द्र तथा गलित हो जाने को द्रुति कहते हैं। चित्त की अत्यन्त उज्ज्वलता अथवा विस्तृति का नाम दीप्ति है। चित्त की व्यापकता अथवा विकास को व्याप्ति कहते हैं। ये चित्तवृत्तियाँ क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के नाम से पुकारी जाती हैं।

(२) चित्त के द्रवीभाव रूप आह्लाद का नाम माधुर्य है; चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व का नाम ओज है; और चित्त के त्वरित व्यापकत्व का नाम प्रसाद है।

(३) परम्परासम्बन्ध से तत्तद्-रस और तत्तद् रचना को भी उपचार से द्रुत्यादि नामों से पुकारा जाता है। उदाहरणतया रौद्र रस, ओज गुण और दीर्घ समस्त रचना—ये सभी उपचार से 'दीप्ति' नाम से पुकारे जा सकते हैं।

(४) गुण रस के अचल धर्म और उत्कर्षहेतु अर्थात् साधक हैं। माधुर्य

(ख) चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।

सा द ८।७,८

प्रसाद गुण का एक उदाहरण लीजिए—

मोहन की अभिलाष-सी बैस
बसै धन के सम रूप बन्यो है।
रूप समान सुघाई सिखाई,
सुघाई सी जी मैं सुभायपन्यो है।
जैसी सुजानता तैसो सिंगार है,
रूपकुमार सों नेह बन्यो है।
नेह समान कहै सुखराज
सु राधे को जीवन जन्म बन्यो है॥ —कुलपति

१ ध्वन्या २।७; का प्र ८।६८-७१; सा द ८।१-८

गुण संयोग शृंगार, विप्रलम्भ शृङ्गार, करुण और शान्त रस के परिपाक का साधक है, तथा ओज गुण रौद्र, वीर, अद्भुत और बीभत्स रस के परिपाक का। भयानक की स्थिति सभी रसों में सम्भव है। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार[1]—

हास्य रस में माधुर्य और ओज दोनों गुणों की स्थिति समान रूप से रहती है। क्योंकि हास्य रस एक ओर शृंगार रस का अंग है, तो दूसरी ओर उस के द्वारा हृदय का विकास भी होता है।

भयानक और बीभत्स रसों में चित्त के दीप्त होने के कारण ओज गुण की तो प्रकृष्ट अवस्थिति है ही इन रसों में चित्त के मग्न हो जाने के कारण माधुर्य गुण की भी अवस्थिति अल्प रूप में माननी चाहिए।

शान्त रस में विभाव की विचित्रता के कारण कभी ओज गुण प्रकृष्ट रूप में रहता है, और कभी माधुर्य गुण।

समग्र रूप में आचार्य अभिनव के मत का सार यह है—

(क) शृंगार और करुण में केवल माधुर्य गुण
(ख) रौद्र वीर और अद्भुत में केवल ओज गुण
(ग) हास्य में माधुर्य और ओज गुण—दोनों समान रूप से
(घ) भयानक और बीभत्स में ओज गुण प्रकृष्ट रूप में और माधुर्य गुण अल्प रूप में
(ङ) शान्त में कभी ओज गुण और कभी माधुर्य गुण—दोनों प्रकृष्ट रूप में।

(५) गुण मुख्य रूप से रस के धर्म हैं पर इन्हें गौण रूप से शब्दार्थ (शब्द) के भी धर्म माना जाता है। इन्हीं शब्दगुणों की व्यंजना अपने-अपने नियत वर्णों से होती है।[2] हर गुण की रचना और समासों द्वारा व्यंजकता

---

१ एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्विनौ शृङ्गाररौद्रविषयावुक्तौ इति प्रदर्शयितुं समवस्थानेनवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात् कदाचिदोजःप्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः। लोचन (चौखम्बा) पृष्ठ २१२

२ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता
× × × व्यञ्जकाः शब्दगुणास्तु ये।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः॥ का० प्र० ८। ७१

भी प्रथम पृथक् रूप से होती है। माधुर्य गुण की व्यंजिका मधुर रचना है, तो ओज गुण की व्यंजिका उद्धत रचना। माधुर्य गुण असमस्ता अथवा अल्पसमस्ता वृत्ति से व्यंजित होता है, तो ओज गुण दीर्घसमस्ता वृत्ति से।

शेष रहा प्रसाद गुण। उस की एक ही विशेषता है—श्रवण (अथवा पठन) मात्र से ही अर्थबोध। इसी आधार पर कोई भी काव्य-स्थल प्रसाद गुण समन्वित माना जाएगा, चाहे उस में वर्ण, रचना और वृत्ति कैसी भी क्यों न हो।

यहां एक स्वाभाविक शंका उत्पन्न होती है कि शृंगार रस के किसी पद्य में दीर्घसमस्ता वृत्ति और टवर्गादि से युक्त कठोर वर्णयोजना के प्रयुक्त हो जाने पर उस पद्य में माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी अथवा ओज गुण की? इस शंका का समाधान स्पष्ट है कि माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, न कि ओज गुण की। क्योंकि गुण की स्थिति रस पर आधृत है, न कि वृत्ति, रचना और वर्णयोजना पर। हां, यहां 'वर्ण-प्रतिकूलता' दोष भी अवश्य माना जाएगा। यदि इसी पद्य में 'झटिति-बोधत्व' होगा तो यहां माधुर्य गुण के अतिरिक्त प्रसाद गुण का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाएगा। ठीक यही स्थिति अन्य रसों से युक्त रचनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

(३)

कुन्तक ने छः गुण माने हैं—औचित्य और सौभाग्य; तथा माधुर्य प्रसाद लावण्य और आभिजात्य। प्रथम दो गुण सामान्य कहाते हैं क्योंकि ये कवि-स्वभाव पर आधृत कुन्तक-सम्मत तीन मार्गों—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—में समान रूप से और अनिवार्य रूप से रहते हैं। इस विषय में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।[1] शेष रहे अन्तिम चार गुण। कुन्तक ने इन की स्थिति सुकुमार और विचित्र मार्गों में विभिन्न रूप से मानी है तथा मध्यम मार्ग में यथाभिरुचित रूप में।

क्रम रूप में कुन्तक-सम्मत विवरण इस प्रकार है—

१ माधुर्य—सुकुमार मार्ग में असमस्तपदता तथा मनोहारी पदविन्यास का नाम माधुर्य गुण है। पर विचित्र मार्ग में माधुर्य गुण उसे कहते हैं जहां पदों की मधुरता के कारण विदग्धता या विचित्रता प्रकट हो जाए, और शैथिल्य (कोमलता) के परित्याग द्वारा रचना सुन्दर बन जाए।[2]

---

१ देखिए प्रस्तुत ग्रंथ रीति-प्रकरण पृष्ठ १४७-१४८

२ (क) असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥ व० जी० १।२

२. प्रसाद—सुकुमार मार्ग में वह रचना प्रसाद गुण समन्वित कहाती है जिस में किसी कष्ट के बिना अर्थ-प्रतीति तुरन्त हो जाए, तथा जो रस और वक्रोक्ति का विषय कही जाए। पर विचित्र मार्ग में असमस्त पदों अथवा किंचित्समस्तपदों के विन्यास का नाम 'प्रसाद' है। इस मार्ग में प्रसाद गुण वहां भी माना गया है, जहां एक शब्द का तात्पर्य दूसरे शब्द से और एक वाक्य का तात्पर्य दूसरे वाक्य से स्पष्ट हो जाए।[1]

३ लावण्य—सुकुमार मार्ग में लावण्य गुण उस तत्त्व (सौन्दर्य) का नाम है जो वर्णों के विन्यास तथा भिन्न भिन्न पदों के सन्धान से प्रयत्न पूर्वक निर्मित हो। इसी गुण के कारण अर्थ के ज्ञान होने से पूर्व ही रचना में गीत के समान हृदयाह्लादकता आ जाती है। विचित्र मार्ग में इस गुण का सम्बन्ध पदों की संश्लिष्टता से है। जो रचना अलुप्तविसर्गान्त हो और संयोगपूर्व पदों के कारण आपस में गुंथी हुई हो, वह लावण्य गुण से समन्वित कहाती है।[2]

४ आभिजात्य—सुकुमार मार्ग में आभिजात्य गुण-समन्वित वह रचना कहाती है जो श्रवणप्रिय हो जिस की कान्ति स्वाभाविक रूप से अति मसृण हो और जो चित्त को स्पर्श सी करती हो। विचित्रमार्ग में आभिजात्य

(ख) वैदग्ध्यस्पन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥ व० जी० १।४४

१ (क) अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥ वही १।३१

(ख) असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
किंचिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥ वही १।४५

(ग) गमकानि निबध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि ।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ॥ वही १।४६

२ (क) वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ वही १।३२

(ख) अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥ वही १।४७

गुण-युक्त वह रचना कहाती है, जो कविकौशल द्वारा न तो अति कोमल हो और न अति कठिन।[1]

गुण और संघटना में आश्रयाश्रितभाव

(१)

गुण और संघटना अथवा रीति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में काव्यशास्त्रियों में तीन मत प्रचलित रहे हैं—

पहला मत वामन का है जिन्होंने 'विशेषो गुणात्मा' (का० सू० १।२।८) कथन द्वारा 'रीति और गुण में अभेद' स्वीकार किया है।

दूसरा मत उद्भट के नाम से प्रचलित है। इनके अनुसार गुण संघटना के आश्रित हैं—संघटनाया धर्माः गुणा इति भट्टोद्भटप्रभृतयः। भामह भी उद्भट से सहमत हैं।[2]

तीसरा मत आनन्दवर्धन का है—संघटना गुण के आश्रित है।

आनन्दवर्धन ने उक्त तीनों पक्षों पर मौलिकता और गम्भीरता पूर्वक निम्नलिखित विवेचन प्रस्तुत किया है और घोषणा की है कि इस काव्यार्थ विवेक के वे ही आद्य आचार्य हैं—

> इति काव्यार्थविवेकोऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
> सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥
>
> ध्व० (वि सा०) ३।१०

(२)

आनन्दवर्धन के अनुसार गुण रस के आश्रित हैं। वे संघटना के आश्रित नहीं हैं वरन् संघटना उनके आश्रित है। गुण और संघटना में वे अभेद-सम्बन्ध को भी स्वीकृत नहीं करते।

सामान्य नियम यह है कि शृंगार आदि रसों के उदाहरणों में रचना असमस्ता होनी चाहिए, और रौद्र आदि रसों में रचना दीर्घसमस्ता होनी चाहिए, पर कभी कभी इसके विपरीत रचना भी देखी जाती है[3] जहाँ

---

1 (क) श्रुतिपेशलतायोगि सुकुमारमिव चेतसा।
   रचनामसमस्तार्थामभिजातं प्रचक्षते॥ व० जी० १।२३

(ख) अव्युत्पन्नमसम्भाव्यं नातिकठिन्यमुद्वहत्।
   व्याभिजात्यं मनाहारी तदत्र प्रतिनिर्मितम्॥ वही १।२८

2 ध्व० (लोचन) पृष्ठ ३१ ; का० प्र० (बा०) ८।१३

3. माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषय-

यह दोषयुक्त कही जा सकती है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों में गुण रस पर आश्रित है। शृङ्गार रस के उदाहरण में रचना दीर्घसमस्ता हो अथवा असमस्ता, वहाँ माधुर्य गुण ही माना जाएगा। निष्कर्ष यह कि—

(क) गुण रस के आश्रित हैं वे संघटना के आश्रित नहीं हैं।

(ख) गुणों का विषय (रस) नियत है; संघटना का विषय नियत नहीं है। उसका प्रयोग प्रतिकूल रसों में भी देखा जाता है।

(ग) संघटना का विषयानुकूल प्रयोग श्रेयस्कर है। यदि ऐसा न हो तो प्रयोग सदोष अवश्य है, पर त्याज्य नहीं है।

अब यदि वामन के अनुसार गुण और रीति का अभेद माना जाए, अथवा उद्भट के अनुसार गुण को संघटना के आश्रित माना जाए, तो संघटना के समान गुण को भी अनियत विषय मानना पड़ेगा।[1]

अतः आनन्दवर्धन के कथनानुसार उक्त विवेचन का प्रमाणात्मक निष्कर्ष यह हुआ कि गुण और संघटना में न तो ऐक्यमात्र है और न गुण संघटना के आश्रित हैं।

(३)

आनन्दवर्धन ने गुण को रस के आश्रित माना है, और उपचार से उसे शब्द के आश्रित भी कहा है। गुण को संघटना के आश्रित मानने वाला वादी कह सकता है कि कोई भी शब्द वाक्य में संघटित हुए बिना अर्थप्रतिपादक और रस-व्यंजक नहीं हो सकता अतः शब्द के आश्रय-भूत गुण को उपचार से संघटना के भी आश्रित मान लेना चाहिए। किन्तु आनन्दवर्धन को यह धारणा अभीष्ट नहीं है—'वाक्य की बात ही क्या, पदों और वर्णों से ही कभी-कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है।'[2] अतः उक्त आधार पर गुण को संघटना के आश्रित मानना समुचित नहीं है।

योग्या। × × × इति विषयनियमो व्यवस्थितः। संघटनायास्तु न विद्यते। तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति।

—ध्वन्यालोक ३।६ वृत्ति पृष्ठ २११

1 यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्त्वं संघटनाश्रया वा गुणाः, तदा संघटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसंगः (स्यात्)। वही पृष्ठ २१२

2 ध्वन्यालोक ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २२६ २२८

और फिर, यदि वादितोपन्याय से रस को केवल वाक्य के ही द्वारा गम्य माना जाए, तो भी शृङ्गार आदि रसों को प्रकाशित करने वाली द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ, जिन्हें माधुर्य आदि गुण कहा जाता है, समस्तता अथवा दीर्घ-समस्तता—दूसरे शब्दों में संघटना— पर आश्रित न रह कर रौद्र आदि रसों पर ही आश्रित हैं।''[1] अतः इस दृष्टि से भी गुण को संघटना का धर्म नहीं मानना चाहिए।

(४)

वामन के इस सिद्धान्त के विषय में कि 'संघटना और गुण दोनों एक हैं' आनन्दवर्धन का आक्षेप है कि रीति अनियत-विषया है, अतः वह नियत-विषयक गुण के साथ अभिन्न नहीं हो सकती। किन्तु इस आक्षेप का परिहार भी सम्भव है। गुण के समान रीति भी नियत-विषया होती है उदाहरणार्थ, रौद्र रस में दीर्घसमस्ता रचना अभीष्ट है। इस रस में असमस्त रचना यद्यपि सदोष मानी जाती है पर प्रतिभावान् कवि की प्रतिभा के आगे तो यह दोष तिरोहित हो जाएगा और इससे सहृदयों को भी कोई बाधा नहीं पहुँचेगी, किन्तु साधारण कवि उस दोष को छिपा न सकेगा।[2] इस प्रकार से कहा जा सकता है कि रीति के लिए भी कोई न कोई विषय नियत रहता है।

तात्पर्य यह कि यदि संघटना को गुण के समान नियतविषया सिद्ध कर लिया जाए तो आनन्दवर्धन को वामन का 'संघटनागुणैक्य-सिद्धान्त' भी अधिक सीमा तक अमान्य नहीं है।

(५)

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि शृङ्गार और रौद्र रसों के उदाहरणों में विपरीत रचना का प्रयोग क्या सदा ही सदोष है। आनन्दवर्धन यहाँ

---

१ ध्वन्या० ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २१६ २१८

२ यद्यपि संघटनारूपा एव गुणाः। यदुक्तम् 'संघटनावद् गुणानाम् अनियतविषयत्वं प्राप्नोति लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतद् उच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद् विरूपमेवाऽस्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत् ? कविशक्तितिरोहितत्वात्।

—ध्वन्या० ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २१०

संघटना-नियामक प्रकारों के निर्देश द्वारा सिद्ध करते हैं कि 'नहीं'। वक्ता वाच्य और विषय के औचित्य के कारण संघटना का अन्यथा-प्रयोग भी सदुष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ, युधिष्ठिर जैसे प्रशान्त-स्वभावशील व्यक्ति के भी कोपपूर्ण वचनों में; और आख्यायिका में किसी शृंगार रस पूर्ण भी वर्णन में दीर्घसमासा संघटना का प्रयोग सदुष्ट नहीं है। इसी प्रकार नाटक में भीमसेन जैसे क्रोधी व्यक्ति के क्रोध-पूर्ण वचनों में भी असमासा संघटना का प्रयोग सदुष्ट नहीं माना जाता।

आनन्दवर्धन की इस संघटनानियामक चर्चा से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि संघटना का नियामक केवल रस नहीं है, अपितु वक्ता आदि अन्य तत्त्व भी हैं। दूसरे, यही नियामक तत्त्व गुण के भी हो सकते हैं। भीमसेन के शृंगाररस-पूर्ण वचनों में ओजत्व का कुछ न कुछ समावेश अवश्य रहेगा। अतः भीमसेन और अर्जुन के वचनों में माधुर्य गुण में भी अन्तर अवश्य रहेगा। इसी प्रकार युधिष्ठिर और भीमसेन के वचनों में ओज गुण में भी अन्तर रहेगा। इस गुण सम्बन्धी अन्तर के पीछे संघटना के अन्तर का हाथ है। अतः 'गुण संघटना के आश्रित है', यह भी मान लेने में आनन्दवर्धन को सम्भवतः विशेष आपत्ति नहीं है।

(६)

निष्कर्ष यह कि—

(क) 'संघटना गुण के आश्रित है'—यह आनन्दवर्धन का स्वीकृत सिद्धान्त है।

(ख) किन्तु यदि गुण के समान संघटना की भी उपयोगिता रसाभिव्यक्ति में स्वीकृत कर ली जाए तो वामन-सम्मत 'संघटनागुणैक्य-सिद्धान्त' तथा उद्भट-सम्मत 'संघटनाश्रितगुणसिद्धान्त' भी उन्हें अमान्य नहीं है।

(ग) किन्तु जहाँ संघटना रसोपयोगी न होगी, वहाँ वह गुण के ही आश्रित रहेगी और गुण का विधान रस के अनुकूल होगा न कि संघटना के। उदाहरणार्थ, भामह ने शृंगार रस के दीर्घसमास-युक्त भी उदाहरण में ओज गुण की स्वीकृति की है[1] पर आनन्दवर्धन के मत में वहाँ माधुर्य गुण ही होगा ओज गुण नहीं।

---

1 केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ॥ का. अ. (भा.) २।२

गुण का रसधर्मत्व

आनन्दवर्द्धन और उन के मतानुयायी मम्मट और विश्वनाथ ने गुण को मुख्य रूप से रस का धर्म माना और गौण रूप से शब्दार्थ का। पर जगन्नाथ ने इसे रस शब्द, अर्थ और रचना इन सब का समान रूप से धर्म स्वीकृत किया—

(१)

आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने गुण और रस के पारस्परिक धर्म-धर्मिसम्बन्ध को आत्मा और शौर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ उपमित किया है।[1] मम्मट के आधार पर इस साम्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(क) जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मा के धर्म हैं, न कि वर्णादि (वर्ण, रचना वृत्ति) रूप शरीर के।

(ख) जिस प्रकार स्थूल शरीर वाले, पर कायर भी व्यक्ति को, देखकर साधारण लोग कहते हैं 'इसका आकार शूरतापूर्ण है' अथवा किसी कृश शरीर वाले, पर शूर भी व्यक्ति को देखकर वही लोग कहते हैं 'यह व्यक्ति शूर नहीं है' उसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों में माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयोग को देखकर 'यह रचना माधुर्य गुण सम्पन्न है' अथवा शृंगार आदि कोमल रसों में ओज गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयोग को देखकर 'यह रचना ओज गुण सम्पन्न है' ऐसा व्यवहार रस सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति ही करते हैं।

सामान्य नियम यह है कि शृंगार आदि कोमल रसों में माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों का प्रयोग होना चाहिए, और रौद्र आदि कठोर रसों में ओज गुण के प्रकाशक वर्णों का। शृंगार रस की किसी रचना में ओज-गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयुक्त होने पर भी वहाँ माधुर्य गुण, और उस के अनुसार 'द्रुति' नामक चित्तवृत्ति की स्वीकृति होगी, न कि ओज गुण, और उसके अनुसार 'दीप्ति' नामक चित्तवृत्ति की। हाँ, ऐसी रचना में वर्णमति

१ ध्व० २।६ (वृत्ति), का० प्र० ८।६६, सा० द० ८।१

२ का० प्र० ८।६६ (वृत्ति)

श्रुतता' नामक दोष अवश्य रहेगा। निष्कर्ष यह कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं, वे वर्णों पर आश्रित नहीं हैं।[1]

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब गुण रस के धर्म हैं तो सुकोमल शब्दों अथवा अर्थों के सम्बन्ध में यह व्यवहार क्यों पढ़ा अथवा सुना जाता है कि 'ये मधुर (माधुर्य गुण-सम्पन्न) शब्द हैं, अथवा ये मधुर अर्थ हैं'—इस का उत्तर स्वयं मम्मट ने दिया है कि यह व्यवहार गौण रूप से किया जाता है मुख्य रूप से तो गुण रस के ही धर्म हैं।[2]

(२)

गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ के विचार विभिन्न हैं। इन्होंने आनन्दवर्धन आदि-सम्मत गुण और रस में धर्म-धर्मि-सम्बन्ध का खण्डन अवश्य किया है, पर वस्तुतः उनका यह खण्डन 'खण्डन' के लिए है। सिद्धान्त रूप से इन्हें गुण को शब्द, अर्थ और रचना के अतिरिक्त रस का भी धर्म मानना अभीष्ट है। हाँ गुण केवल रस का धर्म नहीं है। इस धारणा के सम्बन्ध में उन के निम्नोक्त तर्क गम्भीर और सूक्ष्म हैं—

(१) माधुर्य आदि गुणों का केवल रसधर्म मानना ठीक नहीं, न तो इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अनुमान प्रमाण—

(क) पहले प्रत्यक्ष प्रमाण को लें। अग्नि का कार्य दाहकता है और गुण उष्णता है; पर उष्णता पहुँचाते हुए भी अग्नि सदा दाह नहीं करती अतः अग्नि का कार्य अलग है और गुण अलग है। किन्तु यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त 'गुणरस-सम्बन्ध' पर घटित नहीं होता। रस का कार्य द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ हैं और उसके गुण माधुर्य आदि हैं। किन्तु वस्तुतः द्रुत्यादि ही माधुर्यादि हैं, अतः ये दाह और उष्णता के समान अलग अलग नहीं हैं वे एकरूप हैं।

(ख) अनुमान प्रमाण के आधार पर भी रस और गुण का धर्म-धर्मि

---

१ अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। —का० प्र० ८ उ०

२. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ८। १

३. केऽमी माधुर्यौजःप्रसादाः रसमात्रधर्मतयोक्ताः तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेन्न। दाहादेः कार्यादेवकारणस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यः रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। र० गं० पृष्ठ ६८

सामर्थ्य' सिद्ध नहीं होता। रस माधुर्य आदि गुणों से ही विशिष्ट होकर द्रुत्यादि के कारण बनते हैं, अतः गुण कारणता के अवच्छेदक हैं, अर्थात् रस रूप कारण के विशेष धर्म हैं, इसलिए अनुमान द्वारा भी गुणों को रस का धर्म मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। जब प्रत्येक रस गुणों के बिना ही द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों का कारण हो सकता है तो गुण की कल्पना में गौरव करना व्यर्थ है।[1]

(२) गुण को रस का धर्म अस्वीकार करने में पण्डितराज ने एक युक्ति और दी है। वेदान्त में आत्मा निर्गुण माना गया है, अतः रस रूप आत्मा को माधुर्य आदि गुणों से विशिष्ट मानना उचित नहीं। और यदि भादि-लोकन्याय से रसों के उपाधिभूत रत्यादि स्थायिभावों को ही गुण विशिष्ट मान लिया जाए, तो प्रथम तो उस में कोई प्रमाण नहीं है, और दूसरे, रत्यादि तो स्वयं गुण हैं, अतः गुणों में अन्य गुणों की समाविष्टता समुचित नहीं है।[2]

(३) यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि यदि गुण रस के धर्म नहीं तो शृंगार रस मधुर (माधुर्य गुण युक्त) है ऐसा व्यवहार क्यों किया जाता है? इस शंका का समाधान पंडितराज ने इस प्रकार दिया है—

द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ रसों द्वारा प्रयोज्य होती हैं अर्थात् उभारी जाती हैं। दूसरे शब्दों में रसों में द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता रहती है, अर्थात् रसों में इन वृत्तियों को उभारने का सामर्थ्य रहता है। माधुर्य आदि गुण वस्तुतः कोई अलग वस्तु नहीं हैं। या तो ये उक्त प्रयोजकता के नाम

---

1 तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात् कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेन्न प्रत्येकमेव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। र गं पृष्ठ ६८

२. किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि मानाभावात्, चरतिला गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च। र गं पृष्ठ ६९

वस्तुतः उक्त प्रमाण रस को गुणशून्य सिद्ध करने के लिए सक्षम प्रतीत नहीं होता क्योंकि वेदान्त में भी व्यावहारिक आत्मा को सगुण माना गया है। इसलिए वैशेषिक शास्त्र में इच्छा, राग द्वेष प्रभृति गुण आत्मनिष्ठ माने गए हैं। च चा (चौखम्भा टीका) पृष्ठ ७८, ७९

हैं, या प्रयोजकता (तथा प्रयोज्य) के सम्बन्ध से द्रुत्यादि ही के नाम हैं। अतः शृंगार द्रुति नामक चित्तवृत्ति का प्रयोजक (उभारने वाला) है, यह मान कर 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार किया जाता है।

इसी सम्बन्ध में एक शंका और। द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ, जिन्हें माधुर्यादि गुण कहा गया है, रसों में रहती नहीं हैं, उन से उभारी जाती हैं। अतः 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार ठीक नहीं है। शंका के समाधान में पंडितराज का कहना है कि जिस प्रकार वह्निगम्य नामक औषधि का० स्पर्श से उष्ण न होती हुई भी सेवन करने से उष्णता उत्पन्न करने के कारण उसके विषय में 'वह्निगम्य उष्ण है' यह व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार भी कर लिया जाता है।[1]

निष्कर्ष—यद्यपि जगन्नाथ ने उपर्युक्त निरूपण से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रसों से उभारी हुई चित्तवृत्तियों रूप गुणों को रस के धर्म मानना प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता और न ही वेदान्त के अनुसार आत्मा अर्थात् रस को गुणयुक्त मानना चाहिये; तथापि इन्हें गुण को रसगत मानना भी अभीष्ट अवश्य है। और इसका प्रमाण है उन का यह सिद्धान्तवाक्य कि प्रयोजकता (अर्थात् माधुर्य आदि तीन गुण) शब्द अर्थ, रस और रचना गत ही मान्य है;[2] न कि केवल रस-गत। किन्तु इस धारणा पर उन्होंने विधिवत् प्रकाश नहीं डाला।

जगन्नाथ का यह समन्वयवादी सिद्धान्त वामन और मम्मट को एक धरातल पर अवस्थित करके उनमें समझौता कराने का प्रयास अवश्य कर रहा है पर गुण को शब्द, अर्थ और रचनागत स्वीकार करने में वही समस्या खड़ी हो जाएगी जो इनसे पूर्व मम्मट ने उठाई थी कि—
अत्युच्च भवत्कल्पप्रशिखाग्नेः भान्ति मोक्तुल्यलतेव धूमाः।[3] का० प्र० ८।१७०

---

१ अत एव शृंगारो मधुर इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादि अस्तु। व्यवहारस्तु वह्निगम्योऽयमितिव्यवहारवद् भाक्तः। र० गं० पृष्ठ ६६

२ प्रयोजकत्वं × × × शब्दार्थरसरचनागतमेव प्रमाणम्। वही—पृष्ठ ६६

३. अर्थात् इस पर्वत पर अग्नि प्रच्छन्न रूप से प्रज्वलित हो रही है और यह वह धूम है जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है।

—ऐसे अर्थ-चमत्कारशून्य शब्द-विन्यास और रचनाप्रकार को देख कर वहाँ भी ओज गुण की स्वीकृति करके काव्यत्व मानना पड़ेगा; और शृङ्गार रस के किसी उदाहरण में कठोर रचना को देखकर वहाँ ओज गुण स्वीकार करना होगा।

हमारे विचार में आनन्दवर्धन आदि का 'शौर्यादय इवाऽऽत्मनः' सिद्धान्त ही युक्ति-युक्त है, जिस पर पीछे प्रकाश डाल आए हैं। हाँ, गौण रूप से गुण को शब्द और अर्थ का धर्म मान लेना चाहिए।

नवम अध्याय

रीति

रीति-निरूपण में वैविध्य

संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण के समान रीति-निरूपण में भी वैविध्य और मतभेद रहा है। रीति की महत्ता, रीति-भेद, रीति-भेदों का आधार, रीति के साथ गुण और रस का सम्बन्ध-स्थापन आदि विषयों पर आचार्य एकमत नहीं रहे। यदि एक समय रीति को काव्य की 'आत्मा' घोषित किया गया तो एक समय यह भी आया जब रीति काव्य-पुरुष की 'अंग-संस्थान' मात्र बन कर रह गई। निरूपण-वैविध्य का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि विभिन्न आचार्यों ने इसे विभिन्न नामों से अभिहित किया है। भामह ने इसे 'काव्य' कहा है दण्डी ने 'मार्ग' और 'वर्त्म'। उद्भट ने इसे 'वृत्ति' नाम दिया है, वामन, रुद्रट, राजशेखर, अग्निपुराणकार तथा विश्वनाथ ने 'रीति' और आनन्दवर्धन ने 'संघटना'। भोज ने इसे 'पन्थ' 'मार्ग' तथा 'रीति' कहा है और कुन्तक ने 'मार्ग'। मम्मट तथा जगन्नाथ इसे 'वृत्ति' और 'रीति' दोनों नामों से पुकारते हैं। इन नामों में से रीति नाम विशेष रूप से प्रचलित रहा। मार्ग और वर्त्म इसके पर्याय रहे। वृत्ति का क्षेत्र मम्मट से पूर्व रीति से प्रायः भिन्न समझा जाता रहा पर मम्मट ने वृत्ति और रीति को पर्याय माना तो पण्डितराज जगन्नाथ तक यह धारणा अक्षुण्ण बनी रही। आनन्दवर्धन ने रीति और संघटना में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य निर्दिष्ट किया है।

रीति-निरूपक आचार्य और रीति के भेद

विभिन्न आचार्यों ने 'रीति' अथवा इस के उक्त पर्यायों के विभिन्न भेद स्वीकृत किये हैं, जिन की सूची इस प्रकार है—

क भामह और दण्डी—वैदर्भी गौडीय =२

ख वामन—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली =३

---

१ का० सू० १।२।६

ग रुद्रट अग्निपुराणकार और विश्वनाथ—उक्त तीन तथा लाटीया (लाटिका) =४
घ भोजराज—उक्त चार तथा आवन्तिका और मागधी =६
ङ आनन्दवर्धन—असमासा मध्यमसमासा और दीर्घसमासा =३
च कुन्तक—सुकुमार, विचित्र और मध्यम =३
छ उद्भट और मम्मट—उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या) =३

(मम्मट ने इन्हें क्रमशः वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली का पर्याय माना है।)

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय विद्याधर, विद्यानाथ और केशव मिश्र ने भी रीति का निरूपण किया है, पर इन के निरूपण में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

रीतियों का अभिधान

वैदर्भी आदि उक्त रीति-भेदों के अभिधान के विषय में साहित्याचार्यों के दो वर्ग हैं। दण्डी, वामन और राजशेखर रीतियों का अभिधान प्रदेश नामों के आधार पर स्वीकृत करते हैं, तथा भामह और रुद्रट इन्हें संज्ञा-मात्र कहते हैं। सुविधा के लिए यहां हम इन आचार्यों को क्रमशः प्रदेश अभिधानवादी और संज्ञामात्रवादी कहेंगे। इन दोनों वर्गों की धारणाओं का क्रमिक विकास साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त रोचक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-वर्ग में प्रदेशों के नाम पर वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण का पक्ष इतना बल पकड़ गया था कि भामह को इस का विरोध करना पड़ा—

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
काम तथास्तु, प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥ का० अ० १।३३

अर्थात् 'अश्मक'[1] वंश आदि में प्रचलित लेखनप्रकार 'वैदर्भ' कहाता है तो कहाता रहे, पर नाम तो प्रायः इच्छा से ही रख दिये जाते हैं। किन्तु पण्डितवर्ग की उक्त विचार-परम्परा भामह के इस निषेध से समाप्त नहीं हुई। वह दण्डी से होती हुई वामन और राजशेखर तक चली आई। रुद्रट इस अन्तराल के अपवाद हैं।

---

१ अश्मक—सम्भवतः ट्रावनकोर का प्राचीन नाम (आप्टे सं० इंग डिक्शनरी० पृष्ठ १८१)

दण्डी के वैदर्भ-गौडीय प्रसंग में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत मिलते हैं, जिन से प्रकट होता है कि दण्डी इन दोनों काव्य-मार्गों को प्रदेश विशेषों से सम्बद्ध मानते हैं। उदाहरणार्थ—

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।

अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम्॥ का० द० १।५४

अर्थात् गौडप्रदेश के निवासी इस (शब्द-समता) का आदर नहीं करते, क्योंकि उन्हें अनुप्रास-प्रिय है। पर वैदर्भप्रदेश के निवासियों को अनुप्रास से मानो यही (शब्दसमता) ही अधिक प्रिय है।[1]

इस सम्बन्ध में वामन की धारणा[2] उल्लेखनीय है जिस का अभिप्राय है कि—

१ वैदर्भी आदि नाम विदर्भ, गौड और पांचाल देशों[3] के नाम पर रखे गये हैं।

२ पर इस का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि जिस प्रकार विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न द्रव्यों के नाम उन प्रदेशों के नाम पर पड़ जाते हैं, ये नाम भी इसी कारण पड़ गए हैं, क्योंकि किसी देश (की जलवायु अथवा अन्य स्थिति) द्वारा काव्य का उपकार नहीं हुआ करता।

३ इन रीति-प्रकारों का इन देशों से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि विदर्भ आदि देशों में वहां के वासी कवियों की रचना में वैदर्भी आदि रीति-भेदों के विशुद्ध रूपों की उपलब्धि होती है।

पर वामन की इस धारणा को रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधु ने स्वीकार नहीं किया। इन के मत में वैदर्भी, पाञ्चाली आदि संज्ञामात्र

---

१ इसी प्रकार दण्डी के अन्य कथन भी इसी तथ्य के समर्थक हैं। देखिये का० द० १।७७, ९१, ५, ६

२ किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यवद् गुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः। नैवं यदाह—
विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।
विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।
—का० सू० वृ० १।२।१०

३ विदर्भ = बरार, गौड = बंगाल, पाञ्चाल = कन्नौज

हैं, इन का विदर्भादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] राजशेखर ने वामन का पूर्ण अनुमोदन किया है। काव्यमीमांसा में निर्दिष्ट एक गाथा[2] के अनुसार काव्यपुरुष और साहित्यविद्यावधू ने भारत की चारों दिशाओं में जाकर विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ-साथ निम्नलिखित रीतियों (वचन-विन्यास-क्रमों) को भी धारण किया था—प्राच्य भूभाग में गौडीया रीति को, पाञ्चाल में पाञ्चाली रीति को, अवन्ती में भी सम्भवतः पाञ्चाली रीति को और दाक्षिणात्य (विदर्भ) के वत्सगुल्म नामक नगर में वैदर्भी रीति को। इन चार भूभागों के अन्तर्गत राजशेखर ने विभिन्न प्रदेशों का भी उल्लेख किया है।

पर दण्डी, वामन और राजशेखर की उक्त धारणा को कुन्तक ने आड़े हाथों लिया है। उन्होंने प्रदेशाभिधानवाद पर चार आक्षेप किए हैं—

१ यदि देशविशेष के नाम पर रीतियों का नाम रखा गया है, तो देश तो अनन्त हैं, रीतियों की संख्या भी अनन्त होनी चाहिए थी।[3]

२ कुन्तक का दूसरा आक्षेप वही है जिस की आशंका वामन को थी—न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्। कुन्तक के कथनानुसार काव्य-रीति किसी देश में प्रचलित मातुलसुतभगिनी-विवाह आदि प्रथाओं के समान कोई दैशिक आचार तो नहीं है कि पुरातन परम्परा पर आश्रित रह कर सभी कवि उसी (काव्य-रीति) को सदा के लिए अपनाते चले जाएँ।[4]

३ कवि-कर्म के लिए शक्ति जैसे ईश्वर प्रदत्त कारण तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास जैसे उपार्जित कारणों की अपेक्षा रहती है; और ये तीनों कारण किसी देशविशेष की नियत सम्पत्ति न होकर व्यक्ति-विशेष की ही सम्पत्ति

---

१ स्मृत—पाञ्चाली वात्सीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
भणितिषु—मागधः इत्येवं नामसामान्येन इति कथयति। स पुनः पाञ्चालेषु भवा इत्यादि व्युत्पत्तिः। का० म० २।७ तथा टीका।

२ का० मी० ३य अ० पृष्ठ ११-२१

३. × × × देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्याद् असंख्यत्वं प्रसज्यते। व० जी० १।२४ वृत्ति

४ न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवत् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्पराभात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते। व० जी० १।२४ वृत्ति

हैं। यही कारण है कि एक ही प्रदेश के एक व्यक्ति में ये कारण पाए हैं, और दूसरे व्यक्ति में नहीं।[1]

४ हाँ, किसी देश की यह विशेषता तो मान्य है कि वहाँ के संगीत अथवा भाषण में माधुर्य है, पर रचनाविशेष को किसी देश की स्वाभाविक विशेषता मान लेना समुचित नहीं है। अन्यथा वहाँ के सभी निवासी काव्य का निर्माण करने लगेंगे।[2]

उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि रीतियों के नामकरण का यह भौगोलिक आधार भामह और दण्डी के समय में अपने यौवन पर था, वामन के समय में ढल रहा था और रुद्रट के समय में प्रायः समाप्त हो चुका था, पर राजशेखर ने इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। काव्यमार्ग को मानवस्वभाव पर आधृत मानने वाले कुन्तक को 'प्रदेशाभिधानवाद' भला कैसे स्वीकृत होता? यही कारण है कि इस का इन्होंने समर्थ शब्दों में खंडन किया है।

हमारे विचार में दंडी और वामन का झुकाव प्रदेशाभिधानवाद की ओर तो है, पर ये इसका प्रबल समर्थन नहीं कर पाए। वैदर्भ और गौड मार्गों के बीच विभाजक रेखाएँ खींचते हुए भी दंडी इस तथ्य को भुला नहीं सके कि मानवप्रकृति की भिन्नता का प्रभाव प्रत्येक कवि की लेखन-शैली में भी उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में, शैली पर उस के कर्ता के व्यक्तित्व की छाप सदा अंकित रहती है। उन्हीं के कथनानुसार—वाणी का अभिव्यक्ति-प्रकार बहुविध है उसके अनेक सूक्ष्म भेद हैं—इतने कि जिन्हें सरस्वती भी गिनने में अशक्त है। कहीं इक्षु, क्षीर, गुड़ आदि के मिठास में भी अन्तर निर्दिष्ट कर सकना सम्भव हो सका है।[3] निष्कर्ष यह

---

१ तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्षमाणो न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठातुम्। किं च शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्य-कारणसम्पत् प्रतिनियतदेशविशेषविषयतया न व्यवतिष्ठते। नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनादन्यत्र च दर्शनात्। व जी १।२४ वृत्ति

२ न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्।

—व जी १।२४ वृत्ति

३. का द १।१०१ १ १ १ २

कि इसकी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी प्रदेश-विशेष के सभी कवियों की रचना न तो एक सी शैली में प्रतिबद्ध हो सकती है, और न ही उस प्रदेश में प्रचलित शैली से सभी कवि प्रभावित हो सकते हैं। अर्थात् एक प्रदेश के निवासी अन्य प्रदेश की शैली को भी अपना सकते हैं।

दण्डी से लगभग एक शती पूर्व एक ऐसा वर्ग अवश्य रहा होगा जो 'प्रदेशाभिधानवाद' का प्रबल समर्थक होगा। निर्भीक आचार्य भामह ने एक निष्पक्ष आलोचक के समान उनकी धारणा को अस्वीकृत कर दिया है। इससे उनकी गम्भीर विचारशीलता और मनस्विता का परिचय मिलता है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रदेशाभिधानवाद में पूर्ण रुचि न रखते हुए भी वामन भामह के समान परम्परा के उल्लंघन का साहस नहीं कर सके। हाँ उनकी अरुचि इस वृत्ति पाठ से अवश्य प्रकट हो गई है—'न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्'। इधर राजशेखर के सम्मुख यह स्पष्ट संकेत था कि पाञ्चाली आदि नाम केवल संज्ञामात्र हैं। इन में तथा देशों में अन्वयानुक-सम्बन्ध नहीं है पर फिर भी यदि इन्होंने सर्वसम्मत चार रीतियों के बीच मिटती और धुंधली बनती जा रही रेखाओं को किसी तर्क दिये बिना फिर से उगाने का प्रयास किया है, तो केवल जनश्रुति पर आवृत परम्परा के परिपालन के लिए, अथवा अपने ग्रन्थ में उल्लिखित काव्यपुरुष और साहित्य विद्यावधू की कल्पित भ्रमण-यात्रा में केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए।

हमारा विचार है कि भामह से पूर्व वैदर्भ आदि नाम इन देशों के नाम पर पड़े होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं पर तत्तद् देशों में इन रीतियों का परिपालन कठोरता से किसी भी समय नहीं किया जाता होगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं। सच तो यह है कि इन नामों के पड़ने से पूर्व भी काव्य की शैलियाँ अपनी-अपनी विभाजक विशिष्टताओं से सम्पन्न रही होंगी। फिर धीरे-धीरे ये इन्हीं नामों से अभिहित हो गईं। पर एक प्रदेश के सभी कवि एक ही लेखन-रीति को अपना लें यह एक असम्भव और अविश्वसनीय कल्पना है। यों स्थूल रूप से हर देश और काल में ऐसी स्थूल विभाजन रेखाएं खींची जा सकती हैं जैसे दण्डी के समय में वैदर्भ कवि गौड मार्ग को अथवा गौड कवि वैदर्भ मार्ग का नितान्त भी नहीं अपनाते होंगे। निष्कर्ष यह कि प्रदेशाभिधानवाद की अपनी यथार्थता

है पर वह अस्पष्ट संयत और सीमित है। उस पर कठोरता से परिपालन की सम्भावना एक कल्पना मात्र है।

रीति का लक्षण और स्वरूप

वामन—यद्यपि वामन से पूर्व रीति का निरूपण भामह और दण्डी और इनसे भी पूर्व कुछ सीमा तक भरत कर चुके थे पर इन तीनों ने न तो रीति शब्द का व्यवहार किया है और न इसका स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम यह कार्य वामन ने किया। इनके मतानुसार रीति 'विशिष्ट पदरचना' को कहते हैं। पदों की रचना में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। गुण काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं। 'काव्य' शब्द का प्रधान रूप से तो अर्थ है—वे शब्दार्थ जो ओज आदि गुणों और यमकोपमादि अलंकारों से शोभित हों पर गौण रूप से 'काव्य' शब्द का अर्थ शब्दार्थ का द्योतक वाक्य भी है। 'रीति' काव्य अर्थात् शब्दार्थ की आत्मा है।[१] वामन को रीति के ही अन्तर्गत काव्य की सभी रूपविधाओं का समावेश भी अभीष्ट था। उनके कथनानुसार तीनों रीतियों में सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य उस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है।[२]

निष्कर्ष यह कि कोरी पदरचना रीति नहीं कहाती। वह गुणों से विशिष्ट होकर ही रीति कहाती है। वामन के मतानुसार ओज आदि दस गुण शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। अतः 'रीति' शब्द से वामन का अभिप्राय केवल शब्दगत सौन्दर्य अथवा वर्णनामात्र नहीं अपितु अर्थगत सौन्दर्य भी है। समष्टि रूप में वामन की रीति का स्वरूप है—गुणों

---

१ विशिष्टपदरचना रीतिः। का० सू० १।२।७
विशेषो गुणात्मा। वही १।२।८
काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। वही ३।१।१
काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु
शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। का० सू० वृ० १।१।१
रीतिरात्मा काव्यस्य। का० सू० १।२।६
२ एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—का० सू० वृ० १।२।१३

(शब्दार्थ के शोभाजनक धर्मों) से युक्त पदरचना; और ऐसी पदरचना *शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर की आत्मा है।*

आनन्दवर्धन—वामन ने रीति को विशिष्टा पदरचना कहा था, आनन्दवर्धन ने इसे 'संघटना' अर्थात् सम्यक् घटना नाम दिया। पदरचना और घटना पर्याय शब्द हैं। अन्तर केवल 'विशिष्ट' और 'सम्यक्' विशेषणों में है जो दोनों आचार्यों के विभिन्न दृष्टिकोणों का परिचायक है। वामन के मतानुसार पदरचना में वैशिष्ट्य गुणों के कारण आता है, और गुण पदरचना (रीति) के आश्रित हैं। इधर आनन्दवर्धन के मतानुसार घटना का सम्यक्त्व तभी है जब वह गुणों के आश्रय में रहकर रस की अभिव्यक्ति करे।[1] निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्धन की संघटना गुणों पर आश्रित है और वह *रसाभिव्यक्ति का एक साधन है।* वामन की रीति (पदरचना) पर गुण आश्रित हैं और वह स्वयं साध्य है। दूसरे शब्दों में, यदि पदरचना में शब्दगत और अर्थगत 'शोभाकारक धर्मों' अर्थात् गुणों का समावेश हो गया, तो उसकी सिद्धि हो गई।

'पदरचना' और 'घटना' शब्दों में अर्थसाम्य होते हुए भी वही दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। पर समास के सद्भाव और अभाव को रीतिनिरूपण में दोनों आचार्यों ने स्थान दिया है—रचना-शैली के इस बाह्य तत्त्व को वामन भी नहीं भुला सके।

राजशेखर, कुन्तक और भोजराज—आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने और उनके अनुकरण पर भोज ने शृंगारप्रकाश में रीति को 'वचनविन्यासक्रम' कहा है।[2] यह शब्द भी पदरचना अथवा घटना का ही पर्याय है। कुन्तक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है, जिसे उन्होंने 'कविप्रस्थानहेतु'[3] भी कहा है। दूसरे शब्दों में, वह मार्ग जिस पर कवि प्रस्थान करे, अर्थात् रचना-शैली। मानवस्वभाव पर आधृत कुन्तक के 'सुकुमार' आदि तीन मार्ग वास्तव में रचनाशैली से भिन्न भी नहीं हैं। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीङ्

---

1. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
   रसान् × × × × ध्वन्या॰ ३।६
2. स का पाठ प रा (राघवन) पृष्ठ १०१
3. व॰ जी॰ १।२४

(गयी) बाद से बताकर[1] इस शंका का समाधान भी प्रकारान्तर से कर दिया है कि रीति-शब्द मार्ग, वर्त्म, पन्थाः का पर्याय क्यों माना जाता है।

मम्मट और विश्वनाथ—राजशेखर आदि उक्त तीनों आचार्यों ने रीति और रस का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था—यह काम आनन्दवर्धन के अनुयायी आचार्यों—ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने किया। मम्मट ने वृत्ति (रीति) को रसविषयक व्यापार कहा[2], और विश्वनाथ ने रीति को रस भाव आदि की उपकारिका माना।[3] आनन्दवर्धन के 'संघटना' शब्द के अनुकरण पर विश्वनाथ ने रीति को 'पद संघटना' कहा। आनन्दवर्धन ने रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन का उपहास उड़ाया,[4] तो विश्वनाथ ने रीति को आत्मा के आकाश से अंगसंस्थान के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया।[5] आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) के प्रकारों को समासों के आधार पर विभक्त किया और उसे गुण के आश्रित बताया मम्मट और विश्वनाथ ने भी प्रकारान्तर से यही स्वीकृत किया।

मम्मट और विश्वनाथ के मत में कुल मिलाकर रीति का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) रीति एक बाह्य तत्त्व है, वह समास पर आधृत है।

(२) रीति गुण के आश्रित है—प्रत्येक रीति के वर्ण तत्तद् गुण के अनुसार हैं।

(३) रीति काव्यशरीर के अंगसंस्थान के समान है।

(४) रीति की स्थिति इस तथ्य पर निहित है कि वह काव्य के आत्म-स्वरूप रस की अभिव्यक्ति में साधन मात्र बने न कि इस तथ्य में कि वह स्वयं काव्य की आत्मा बन जाए।

---

१ स क म २।२०

२ वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।
का प्र ९म उ वृत्ति ११५

३ × × × उपकर्त्र्यो रसादीनाम्। सा द० ९।१

४ अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ ध्वन्या ३।४७

५ पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। सा द० ९।१

वामन से विश्वनाथ तक रीति के उक्त स्वरूप-निरूपण में तीन स्पष्ट विभाजक रेखाएं खींची जा सकती हैं—

१ रीति काव्य की आत्मा है—स्वयं एक सिद्धि है। —वामन;

२. रीति कवियों के लिए एक मार्ग अर्थात् रचना-प्रकार है। न वह काव्य की आत्मा है, और न रसाभिव्यक्ति से उसका कोई सम्बन्ध है।

—राजशेखर, भोज आदि;

३ रीति रचना-प्रकार के रूप में रसाभिव्यक्ति का साधन है।

—आनन्दवर्धन मम्मट, और विश्वनाथ।

निष्कर्ष यह कि वामन-सम्मत 'काव्य की आत्मा' रीति विश्वनाथ तक आते-आते अंगसंस्थान बन कर तो रह गई, पर इसकी आवश्यकता सभी आचार्यों ने अप्रतिहत रूप से स्वीकृत की।

रीति-भेदों का स्वरूप

पहले कह आए हैं कि रीति-भेदों के स्वरूप-निर्देशक आधार के सम्बन्ध में संस्कृत के काव्यशास्त्री एकमत नहीं रहे। भामह से जगन्नाथ तक रीति-भेदों का स्वरूप मुख्यतः इन आधारों पर स्थिर किया गया—गुण, रस और मानव-स्वभाव। दण्डी तथा वामन प्रथम आधार के प्रमुख पुरस्कर्ता हैं और आनन्दवर्धन द्वितीय आधार के। कुन्तक तृतीय आधार के प्रवर्तक हैं, पर इनका अनुगमन नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त उद्भट ने वर्णयोजना को आधार बनाया तथा राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार ने समास, अनुप्रास आदि को। इन आधारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(१) गुण के आधार पर

रीति-भेदों को गुण के आधार पर स्थिर करने वालों में दण्डी और वामन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भामह ने गुण का उल्लेख स्पष्ट रूप से तो नहीं किया पर इन्हें अभीष्ट यही है।

भामह—भामह, दण्डी और वामन के समय में वैदर्भ काव्य को गौडीय काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट काव्य माना जाता था। भामह ने इस धारणा का खण्डन किया है। इसी खंडन द्वारा वे तत्सम्मत दो काव्यों—वैदर्भ और गौडीय के स्वरूप पर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डाल गए हैं। उनके कथनानुसार वैदर्भ और गौडीय में अन्तर मान कर एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट मानना उचित नहीं है। उनके कथनानुसार—

(क) कुछ विद्वान् वैदर्भ को गौडीय से प्रधान मान कर उसे सत्य समझते हैं और तदर्थ पुष्ट भी गौडीय को वैदर्भ के समान नहीं मानते।

(ख) किन्तु यही वैदर्भ ही गौडीय है। वस्तुतः इनमें कोई पार्थक्य नहीं है। गतानुगति के न्याय (लोक-परम्परा अथवा भेड़चाल) से निर्बुद्धि जनों की ऐसी बहुत सी बातें हुआ करती हैं।

(ग) सत्य तो यह है कि प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त), ऋजु और कोमल होता हुआ भी यदि वैदर्भ पुष्टार्थता और वक्रोक्ति से शून्य है तो वह केवल कर्णप्रिय गान के समान (श्रेष्ठ काव्य से) भिन्न है।

(घ) अलंकारयुक्त, ग्राम्यदोषरहित अर्थवान्, न्याय्य (लोकसंगत), और आकुलता (अव्यवस्था) से रहित गौडीय भी श्रेष्ठ है, तथा अपने गुणों से रहित वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है।[1]

भामह के उक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) वैदर्भ और गौडीय में से कोई भी श्रेष्ठ काव्य नहीं है।

(२) अपितु यों कहिए कि वैदर्भ ही गौडीय है इनमें परस्पर कोई पार्थक्य (अन्तर) नहीं है।

(३) वैदर्भ काव्य में ये गुण होने चाहिएँ—
मुख्य गुण—पुष्टार्थता और वक्रोक्ति
अमुख्य गुण—प्रसन्नता (प्रसाद), ऋजुता और कोमलता

(४) गौडीय काव्य में ये गुण होने चाहिएँ—
अलंकारवत्ता, ग्राम्यदोष-रहितता, अर्थवत्ता न्याय्यता और आकुल-रहितता।

(५) अपने अपने गुणों से युक्त होने पर दोनों ही ग्राह्य और समान-महत्त्वशाली हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह ने—

एक तो दण्डी और वामन के समान दोनों काव्य-भेदों में गुणों का होना मान लिया है—यद्यपि इन गुणों के नाम विद्वत्परम्परागत श्लेष, माधुर्य आदि से भिन्न हैं।

दूसरे, दण्डी और विशेषतः वामन के गुणों के समान भामह के इन गुणों में भी दो गुण दोषाभावश्रमित हैं—जैसे अग्राम्य और अनाकुल।

---

1 का० अ० (भा०) १।३१, ३२, ३३, ३५

तीसरे, भामह 'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्' कह तो गए हैं, पर दोनों भेदों में पृथक् पृथक् गुणों का निर्देश इस तथ्य का सूचक है कि उन्हें दोनों की पृथक् सत्ता अभीष्ट अवश्य थी—पर दोनों के समान महत्त्व के साथ। एक पिता के लिए दोनों पुत्र समान होते हुए भी अपनी अपनी विशिष्टताओं (गुणों) के कारण वस्तुतः पृथक् पृथक् ही होते हैं।

दण्डी—दण्डी के कथनानुसार वाणी के मार्ग अर्थात् लेखन प्रकार अनन्त हैं, उन में परस्पर सूक्ष्म भेद है। उन अनेक मार्गों में से वैदर्भ और गौडीय ही ऐसे मार्ग हैं जिनका अन्तर विशेष रूप से स्पष्ट है, और यह अंतर यह है कि श्लेष, प्रसाद आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के तो प्राण कहे गये हैं पर गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय देखा जाता है।[1]

दण्डी का 'विपर्यय' शब्द व्याख्यासापेक्ष है। दण्डी के टीकाकार इस शब्द से कभी 'वैपरीत्य' अर्थ ग्रहण करते हैं कभी 'अन्यथात्व' और कभी 'अभाव'। दण्डी के निरूपणानुसार 'प्रायः' शब्द से यह सूचित होता है कि गौड मार्ग में श्लेषादि गुणों का विपर्यय सदा पूर्ण रूप से नहीं रहता, अपितु कभी कभी अंशरूप से भी रहता है। इसके अतिरिक्त 'प्रायः' शब्द दोनों मार्गों के साम्य का भी सूचक है।[2]

दण्डी की विवेचना के अनुसार वैदर्भ और गौडीय मार्गों में गुणों और उन के विपर्यय की स्थिति इस प्रकार है—

(१) वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता सौकुमार्य और कान्ति—यह पाँच गुण पाए जाते हैं, और गौड मार्ग में क्रमशः इनके निम्नोक्त विपर्यय—शैथिल्य अनुप्रास, वैषम्य दीप्ति और अत्युक्ति।

---

१ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

काव्यादर्श १।४०, ४२

२. गौडवर्त्मनि एषां गुणानां विपर्ययः स च क्वचित् सर्वात्मनाभाव-रूपः क्वचिदंशतः सम्भवन्नपि प्रायो दृश्यते। प्रायः इत्यनेन क्वचिद्गुणयो-साम्यमप्यस्तीति सूच्यते। का० द० (प्रभा टीका) पृ० ४१

(२) वैदर्भ मार्ग के शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का विपर्यय गौड मार्ग में वर्णानुप्रास है।

(३) वैदर्भ मार्ग में ओज गुण केवल गद्य में होता है, और गौडीय मार्ग में गद्य और पद्य दोनों में।

(४) वैदर्भ और गौडीय दोनों मार्गों में निम्नलिखित चारों गुण समान रूप से पाये जाते हैं—अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता), अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि दण्डी गौडीय मार्ग को वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य मानते हैं किन्तु उसे सर्वथा सदोष और त्याज्य नहीं मानते। यदि उन्हें गौडीय मार्ग को सदोष कहना अभीष्ट होता तो—

(१) न तो वे स्वभावाख्यान, उपमा रूपक आदि ३५ अर्थालंकारों को वैदर्भ और गौडीय मार्ग के साधारण अर्थात् दोनों मार्गों के समान अलंकार स्वीकृत करते ;[1]

(२) न उक्त विवरण में निर्दिष्ट अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता) अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि इन चारों गुणों को दोनों मार्गों में वे समान बताते ;

(३) और न ही ओज गुण की स्वीकृति गौडीय मार्ग के गद्य और पद्य दोनों रूपों में की जाती।

हमारे उक्त निष्कर्ष की पुष्टि और स्पष्टता निम्नलिखित उदाहरण से हो जाएगी। दण्डी के अनुसार श्लेष गुण का लक्षण है—'अस्पृष्ट शैथिल्यम्' अर्थात् शैथिल्य का अभाव। शैथिल्य कहते हैं—अल्पप्राण अक्षरों के बाहुल्य को।[2] अनुप्रास के इच्छुक गौड इस 'शैथिल्य' को मानते हैं पर बन्ध-गौरव अर्थात् काव्य-गुम्फन के इच्छुक वैदर्भों को शैथिल्य का विपर्यय अर्थात् अभाव 'शिलष्ट (श्लेष) गुण अभीष्ट है।[3] उदाहरणार्थ

---

१ काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ का० द० २।३
२ शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् । का० द० १।४३
३ का० द० १।४३

'मालती की माला भ्रमरों से व्याप्त है' इस कथन को गौड़ और वैदर्भ कवि क्रमशः इस प्रकार कहेंगे—

गौड़—मालती माला लोलालिकलिला।[1] का० द० १।४३ (शिथिल)

वैदर्भ—मालतीदाम लंघितं भ्रमरैः।[2] का० द० १।४४ (दिलष्ट)

स्पष्ट है कि गौड मार्ग का 'शैथिल्य-युक्त कथन काव्य से बहिष्कृत सदोष त्याज्य अथवा तुच्छ कदापि नहीं कहा जा सकता। दोनों उदाहरणों में कथन-प्रकार का ही अन्तर है। निष्कर्ष यह कि दण्डी के मत में वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ है, पर गौडीय मार्ग को निकृष्ट भी नहीं कहा जा सकता।

वामन—दण्डी के समान वामन ने भी रीतियों को गुणों के साथ सम्बद्ध किया है। उनके कथनानुसार गौडीया रीति ओज और कान्ति गुणों से विशिष्ट होती है; पाञ्चाली रीति माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से; और वैदर्भी रीति तीनों गुणों से। गौडीया में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव के कारण उसे अत्युल्बणपदा (उद्भटपदा) और समासबहुला माना गया है। पाञ्चाली में ओज और कान्ति गुणों के अभाव के कारण उसे अनुल्बणपदा (कोमलपदा) और विच्छाया (निःसत्त्वा) कहा गया है।[3] वैदर्भी सदा असमस्तपदा तो नहीं हो सकती, पर हाँ, जब वह समासरहिता होगी तो उसे शुद्धा वैदर्भी कहा जाएगा—

साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। का० सू० १।२।११

ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी और वामन के समय वैदर्भ मार्ग अथवा वैदर्भी रीति का गुणगान अधिक था। दण्डी वैदर्भ मार्ग के गुण गायक और प्रशंसक थे यह हम पहले बता आए हैं। वामन ने अपने समय में प्रचलित जिन पद्यों को उद्धृत किया है उन से ध्वनित होता है कि वैदर्भी रीति दोष से नितान्त अस्पृष्ट सर्वगुण-गुम्फित और वीणा-स्वर के समान सुन्दर रचना है। यह वाणी रूपी मधु रस का स्रोत है। यह सहृदयों के हृदय में अमृत की वृष्टि करती है।[4] स्वयं वामन ने इस रीति

---

1 अर्थात् मालती की माला चंचल भ्रमरों से कलित (व्याप्त) है।

2 अर्थात् मालती की माला भ्रमरों से लंघित (व्याप्त) है।

3 का० सू० वृ० १।२।११, १२

4 क. अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उन के कथनानुसार वैदर्भी रीति में वर्णित वर्ण्य विषय अति आनन्ददायक बन जाता है। यहाँ तक कि थोड़ा सा वर्ण्य विषय भी इस रीति के सम्पर्क से आस्वादनीय बन जाता है—

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या। का सू १।२।११
तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि।[१] वही—१।२।२१

(२) रस के आधार पर

दण्डी और वामन के मत में वैदर्भी आदि काव्य-तत्त्व साध्य थे और गुण उन के साधन। पर आनन्दवर्धन और उनके मतानुयायियों—मम्मट, विश्वनाथ आदि के तक आते आते वस्तुस्थिति बदल गई। अब ये—

(१) रसाभिव्यक्ति के साधन अथवा रस के उपकारक बन गए।

(२) गुणाभिव्यंजक वर्ण-योजना के द्वारा गुणों के साक्षात्कार के निश्चेता नियत हुए।

(३) 'संघटना' के पर्याय बन जाने के कारण अब इनके स्वरूप के लिए समस्तता अथवा असमस्तता का निर्देश आवश्यक हो गया।

आनन्दवर्धन तथा उन के अनुयायियों का श्रेय इसी में है कि उन्होंने उक्त तीनों तत्त्वों को एक साथ व्यवस्थित कर दिया अन्यथा इन से पूर्व उद्भट वर्णयोजना के आधार पर वृत्तियों (रीतियों) का स्वरूप निर्धारित कर चुके थे,[२] तथा रुद्रट इसी प्रसंग में 'समास' और रसानुकूलता की चर्चा कर आए थे। हाँ गुण और संघटना में आश्रयाश्रयीसम्बन्ध की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को है, जिस पर इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।[३] मम्मट पर उद्भट का स्पष्ट प्रभाव है इस की चर्चा आगे यथास्थान की गई है।[४] रुद्रट तथा आनन्दवर्धन आदि की धारणाओं को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

क. सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

ख. [illegible] प्रयाति चेतः [illegible]॥
का सू वृ १।२।११, २१

१ 'वैदर्भी की श्रेष्ठता' के लिए देखिये पृष्ठ २१६-१७

२ का सा सं १।३-७

३, ४ देखिए प्रस्तुत ग्रंथ पृष्ठ २१६-२१९; २६६-७०

८. रुद्रट—रुद्रट की महत्त्वपूर्ण देन है—रीति-प्रकारों की परिभाषा में सर्वप्रथम समस्तपदता को स्पष्ट रूप से स्थान देना। इनके पश्चात् विश्वनाथ पर्यन्त सभी आचार्यों ने रीतियों के स्वरूप में इस तत्त्व का समावेश किया है।

रुद्रट के कथनानुसार नामों अर्थात् सुबन्त शब्दों (संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण) की वृत्ति के दो भेद हैं—समासवती और असमासवती। समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ हैं—पांचाली लाटीया और गौडीया। पांचाली लघु-समासा लाटीया मध्य-समासा और गौडीया आयत-समासा होती है। 'लघुसमास' से तात्पर्य है—दो, तीन, (चार) पदों का समास। 'मध्यसमास' पाँच (छः), सात पदों का समास कहाता है और 'आयत-समास' सात से अधिक पदों का।[1] असमासवती वृत्ति की एक ही रीति है—वैदर्भी। इस में 'नामों' का तो समास होता नहीं और अर्थ की विच्छित्तता के लिए क्रियापदों का उपसर्गों से जो योग होता है, उसे समास नहीं कहना चाहिए।[2] वामन ने 'साप्यसमासाभावे शुद्धवैदर्भी' (का० सू० १।२।१९) कहकर वैदर्भी में लघु समासों की स्वीकृति दे दी थी, पर रुद्रट को यह भी अभीष्ट नहीं है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वैदर्भी के लक्षण में रुद्रट के नाम पर एक कारिका उद्धृत की है पर यह कारिका उनके प्राप्य ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में उपलब्ध नहीं है—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥ सा० द० ९म परि०

इसमें समस्तपदता के अतिरिक्त गुण तथा वर्णयोजना का भी समावेश हुआ है। इनमें से गुण-तत्त्व के समावेश में वामन का प्रभाव मान्य है, और निश्चय वर्णगत रचना का मूल स्रोत उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह है जिसमें वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों का निरूपण किया गया है। ऊपर कह आए हैं कि रुद्रट ने वैदर्भी को असमासवती वृत्ति

---

१ का० अ० (रु) २।३-६

२ नाम्नामनुपसर्गैः संयुज्यन्ते क्रियाभिर्यत्र।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ का० अ० (रु) २।६

की एक ही रीति माना है। पर इस कारिका में वैदर्भी को 'एकसमस्ता' स्वीकार किया जाना कुछ खटकता अवश्य है।

रुद्रट ने रीतियों का निरूपण समस्तपदता के आधार पर तो किया है, पर साथ ही रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव की ओर सर्वप्रथम संकेत करके उन्होंने इन्हें केवल वाक्यात्मक तथा भावपक्ष-शून्य होने से भी बचा लिया है। उनके कथनानुसार वैदर्भी और पाञ्चाली रीति का यथोचित प्रयोग शृङ्गार, प्रेयस्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में करना चाहिए, तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में। शेष रसों—वीर, हास्य, बीभत्स, और शान्त में रीति का कोई नियम नहीं है।[1]

ख. आनन्दवर्धन—आनन्दवर्धन ने संघटना को तीन प्रकार का माना है—असमासा मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। इनके मत में संघटना माधुर्यादि तीन गुणों पर आश्रित रहकर रसों को व्यक्त करती है।[2]

ग मम्मट—मम्मट के रीति भेदों के स्वरूप पर उद्भट का प्रभाव भी है, तथा आनन्दवर्धन का भी। इन्होंने वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियों को उद्भट के अनुकरण पर क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों से अभिहित किया है।[3] इनकी वर्णयोजना में भी उद्भट-सम्मत वर्णों की स्वीकृति की है, तथा उन्हीं के समान उक्त वृत्तियों का अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत निरूपण किया है।[4] इधर मम्मट पर आनन्दवर्धन का प्रभाव भी कम नहीं है। वृत्तियों को 'रस' के उपकारक सिद्ध करने के लिए इन्होंने वृत्ति को 'नियत वर्णगत रसविषयक व्यापार' कहा है,[5] तथा प्रथम दो वृत्तियों—उपनागरिका और परुषा—का

---

१ (क) इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विधेयं रचनीया।
× × × शृङ्गारे॥ का० अ० (रु०) १०।१७
(ख) वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥ वही—१५-२
(ग) शेषरसेषु न रीतिनियमः। वही

२ ध्वन्या० ३।५,६

३ केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। का० प्र० ९।८१

४ द्रष्टव्य—का० सा० सं० १।३-७ का० प्र० ९।८

५. का० प्र० ९म उ० पृष्ठ ४६५

उन्होंने क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों के अभिव्यंजक वर्णों के साथ स्थापित किया है। इस प्रसंग में कोमला नामक तीसरी वृत्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि इसके व्यंजक वर्ण वही हैं, जो उक्त दोनों वृत्तियों के अभिव्यंजक वर्णों से शेष बच रहते हैं—

(क) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।

(ख) ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा।

(ग) कोमला परैः।

परैः शेषैः। (का० प्र० ६।८० तथा वृत्ति)

किन्तु मम्मट द्वारा प्रस्तुत कोमला का स्वरूप विवादास्पद है। 'परैः शेषैः' इस वृत्तिपाठ का काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने अर्थ किया है—'ओजोमाधुर्यव्यंजकातिरिक्तैः प्रसादव्यंजकैः वर्णैः युक्ता वृत्तिः कोमलेत्युच्यते।' अर्थात् जो रचना प्रसाद गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त हो, उसे कोमला वृत्ति कहते हैं। पर वस्तुतः यह भाष्य विरोधात्मक है। स्वयं मम्मट ने प्रसाद गुण को सभी प्रकार की रचनाओं में व्याप्त माना है।[1] इस गुण की एक ही विशिष्टता है—झटित्यर्थबोध। इस विशिष्टता से युक्त कोई भी रचना चाहे उस में माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण हों, अथवा ओज गुण के, प्रसादगुणान्वित कही जा सकती है। अतः एक तो, प्रसाद गुण को विशेष वर्णों से सम्बद्ध करना मम्मट-मतानुकूल नहीं है और दूसरे, कोमला को प्रसाद गुण से सम्बद्ध करना भी मम्मट को अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस प्रसंग को लिखते समय मम्मट के सम्मुख उद्भट का अनुप्रास अलंकार है जिस में उपनागरिका और परुषा वृत्तियों को उन्हीं वर्णों से संयुक्त माना गया है, जिन्हें मम्मट ने क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्ण कहा है तथा कोमला वृत्ति को उद्भट ने उक्त दो वृत्तियों से अवशिष्ट वर्णों से युक्त निर्दिष्ट किया है। उद्भट ने इन वृत्तियों को माधुर्यादि गुणों के साथ सम्बद्ध नहीं किया। वस्तुतः उन के ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह में गुणों का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। अतः उनके इस प्रसंग में न तो प्रसाद गुण की सर्वरचना-व्यापकता का

---

1 × × × प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
× × × सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु रचनासु च।

का० प्र० ८।७० तथा वृत्ति

प्रश्न उपस्थित होता है, और न कोमला वृत्ति और प्रसाद गुण के परस्पर *सम्बन्ध-स्थापन द्वारा उत्पन्न उक्त विरोध का।* इधर *मम्मट आनन्दवर्धन* के इस सिद्धान्त से प्रभावित थे कि रीति (संघटना, वृत्ति) गुण के आश्रित है।[1] अतः इनके लिए यहां गुणों की चर्चा करना आवश्यक हो गया। प्रथम दो गुणों और रीतियों के पारस्परिक सम्बन्ध तो स्थापित हो गए, पर कोमला के विषय में वे न तो उद्भट की अवहेलना कर सके, यही कारण है कि उन्हीं के समान 'परै शेषैः' शब्दों द्वारा उन्हें कोमला का स्वरूप निर्दिष्ट करना पड़ा[2] और न ही प्रसाद गुण को वे इस से सम्बद्ध कर सके क्योंकि स्वयं उन्हीं के अनुसार इस गुण के लिए किसी वर्णयोजना की *आवश्यकता नहीं है।* पर *मम्मट* के *टीकाकारों ने इस प्रसंग में* जब माधुर्य और ओज गुण का उल्लेख क्रमशः उपनागरिका और परुषा के साथ देखा तो 'परै शेषैः' के आधार पर को उन्होंने प्रसाद गुण को कोमला के साथ जोड़ दिया। इधर इस भ्रम का प्रभाव चिन्तामणि पर भी पड़ा और इन्हों ने *'मिलि प्रसाद पुनि कोमला'* इन *शब्दों द्वारा उन का अनुकरण कर* लिया। अस्तु। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह कि—

(१) उपनागरिका और परुषा वृत्तियों (अथवा वैदर्भी और गौडी रीतियों) के साथ यही वर्णयोजना सम्बद्ध है, जो क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों की अभिव्यंजिका है। उद्भट और मम्मट दोनों को यही अभीष्ट है।

(२) कोमला का सम्बन्ध माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों से अवशिष्ट वर्णों के साथ है—यही उद्भट और मम्मट दोनों को अभीष्ट है।

(३) किन्तु मम्मट के उक्त पाठों के अनुसार कोमला का प्रसाद गुण के साथ सम्बन्ध जोड़ना युक्ति-संगत नहीं है। मम्मट को भी यह अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। इस विषय में उद्भट की अभीष्टता का तो प्रश्न ही *उपस्थित नहीं होता।*

---

१ ध्व० आ० ३।०३

२ शेषवर्णैः—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया।

का० प्र० सू० ११९

घ विश्वनाथ—विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट रीति-भेदों के स्वरूप पर आनन्दवर्धन और मम्मट का प्रभाव है। आनन्दवर्धन के समान इन्होंने रीति को 'रसोपकर्त्री' कहा : 'उपकर्त्री रसादीनाम्' तथा इनके लक्षणों में समस्तता अथवा असमस्तता की चर्चा की है। इनके कथनानुसार वैदर्भी रीति की रचना ललित होती है। इसमें या तो समास का अभाव रहता है या अल्प समास होते हैं। गौडी रीति का बन्ध आडम्बर युक्त अर्थात् उद्भट होता है। इसमें समासों की अधिकता रहती है। पाञ्चाली रीति में पांच छः पदों का समास रहता है। मम्मट के समान इन्होंने रीति-भेदों को गुणाभिव्यंजक वर्णयोजना के साथ सम्बद्ध किया है। वैदर्भी और गौडी रीतियों की अभिव्यञ्जकता क्रमशः माधुर्य और ओज गुण के अभिव्यंजक वर्णों द्वारा होती है, तथा पाञ्चाली की इन गुणों के अभिव्यञ्जक वर्णों से शेष बचे हुए वर्णों द्वारा।[1] स्पष्टतः पांचाली के सम्बन्ध में हमारे वही विचार हैं, जो मम्मट के प्रसंग में ऊपर कोमला के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये हैं। विश्वनाथ पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—रुद्रट, राजशेखर, अग्नि पुराणकार, भोजराज—का भी प्रभाव है।[2] इन्हीं के समान इन्होंने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के अतिरिक्त लाटीया की भी चर्चा की है। लाटी रीति की स्थिति वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियों के बीच की है।

आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों के मतानुसार रीति-स्वरूप का सार यह है—

(१) रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं।

(२) ये गुणव्यंजक नियत वर्णों से रचित होती हैं, और

(३) समस्तपदता की अधिकता अथवा न्यूनता इनका बाह्य रूप है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या किसी रचना

---

१ सा द ९।१-५

२ राजशेखर भोजराज और अग्निपुराणकार ने रीतियों को रस और गुण के साथ सम्बद्ध न करके उनके केवल बाह्यस्वरूप की चर्चा की है। समास और अनुप्रास के अतिरिक्त इन्होंने उपचार और सन्दर्भ नामक तत्त्वों को भी रीतियों का आधार बनाया है (अ॰ म राघवन पृष्ठ ११८), पर इन तत्त्वों पर न इन्होंने प्रकाश डाला है और न इनका मूल स्रोत हमें अन्य ग्रंथों से उपलब्ध हुआ है।

में उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम तत्त्व के अभाव का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। शेष दोनों तत्त्वों में से किसी एक के सद्भाव से भी उस रचना को रीति-विशेष से अभिहित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

> उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
> ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥[1]

इस पद्य में समासबाहुल्य के न होने पर भी ओजगुण के व्यंजक नियत वर्णों और उत्कट (आडम्बर-युक्त) बन्ध होने कारण गौडी रीति की स्थिति स्वीकार की जाएगी और निम्नलिखित पद्य में—

> विकचकमलगन्धैरन्धयन् भृङ्गमाला सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वातः ।
> प्रमदमदनमाद्यद् यौवनोद्दामरामा-रमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः ॥[2]

ओज गुण के व्यंजक नियत वर्णों के न होने पर भी केवल समासबाहुल्य के कारण इसे गौडी रीति से विशिष्ट कह दिया जाएगा।

इसी सम्बन्ध में एक शंका और। तो क्या जो रचना गौडी रीति से विशिष्ट होगी, वहाँ ओज गुण और वीर अथवा रौद्र रस का ही सद्भाव माना जाएगा। हमारा समाधान है कि यह सदा आवश्यक नहीं है। गुणों का सद्भाव द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों पर आधृत है, और रसों का सद्भाव विभावादि के संयोग से रत्यादि स्थायिभावों की अभिव्यक्ति पर। उक्त प्रथम पद्य में गौडी रीति ओज गुण और वीर रस की स्वीकृति मानी जाएगी; किन्तु दूसरे पद्य में गौडी रीति के होने पर भी शृंगार रस और माधुर्य गुण की। इसी प्रकार अन्य रीतियों के सम्बन्ध में भी यही मान्य है।

(२) कवि-स्वभाव के आधार पर

आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच कुन्तक ने कवि-स्वभाव के आधार पर काव्य-मार्गों (रीतियों) का स्वरूप निर्धारित किया है। प्राचीन परम्परा से नितान्त विनिर्मुक्त उनका यह प्रकरण उन की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है तथा मनोवैज्ञानिक तत्त्व के उद्घाटन का एक सफल प्रयास है।

कुन्तक के कथनानुसार कवि-स्वभाव अनन्त हैं। अतः उन के अनुरूप कवि-मार्ग भी संख्यातीत हैं। पर स्थूल रूप से उन्हें तीन वर्गों में

---

१ २. साहित्यदर्पण पर हरिदास की कुसुमप्रतिमा टीका पृष्ठ ५५२

विभक्त किया जा सकता है[1]—सुकुमार विचित्र और मध्यम।[2]

काव्यमार्ग के इस विभाजन की संगति में कुन्तक ने जो आधार उपस्थित किया है, वह मनोवैज्ञानिक सत्य की भित्ति पर अवलम्बित है। शक्तिमान् व्यक्ति और उस की शक्ति में मूलतः कोई अंतर नहीं है। यही कारण है कि सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी सहज अर्थात् सुकुमार होती है। उसी शक्ति से वह व्युत्पत्ति (निपुणता) भी वैसी ही अर्जित करता है जो सुकुमारता से रमणीय होती है। फिर ऐसी शक्ति और व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग के ही अभ्यास में तत्पर हो जाता है।[3] कुन्तक ने ठीक यही व्याख्या विचित्र और मध्यम स्वभाव वाले कवियों के मार्ग के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत की है।[4]

यहाँ एक स्वाभाविक शङ्का उपस्थित होती है। शक्ति आन्तरिक है, और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आहार्य अर्थात् बाह्य हैं। अतः शक्ति को तो स्वभाव कहना युक्तिसंगत है, पर व्युत्पत्ति और अभ्यास को नहीं। अतः केवल स्वभाव के आधार पर कविमार्ग को स्थिर कर सकना सम्भव नहीं है, (क्योंकि काव्य-निर्माण में शक्ति के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।) इस शङ्का का समाधान कुन्तक के कथनानुसार इस प्रकार है—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभावानुसार ही प्रवर्तित होते हैं। अतः स्वभाव में और इन दोनों में उपकार्योपकारक सम्बन्ध है। स्वभाव इन दोनों को उत्पन्न करता है और ये दोनों उसे पुष्ट करते

---

१ यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

व॰ जी॰ १।२४ वृत्ति पृष्ठ १ २

२. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ व॰ जी॰ १।२४

३. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्, तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते। व॰ जी॰ १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १०१

४ व॰ जी॰ पृष्ठ १०१ । १२

है। व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य होते हुए भी कविस्वभाव-जन्य हैं। अतः कविस्वभाव को काव्यमार्ग का आधार स्वीकृत करना युक्तिसंगत है।[1]

कुन्तक ने सुकुमार आदि उक्त तीन मार्गों में चार विशेष गुणों की स्थिति मानी है, और दो साधारण गुणों की। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य ये चार विशेष गुण हैं, तथा औचित्य और सौभाग्य ये दो सामान्य गुण हैं। प्रथम चार गुण तीनों मार्गों में विभिन्न रूप से स्थित रहने के कारण विशिष्ट गुण कहाते हैं। इनके स्वरूप पर हम इसी प्रबन्ध में अन्यत्र प्रकाश डाल आए हैं।[2] अंतिम दो गुण तीनों मार्गों में एक ही रूप से स्थित रहने के कारण सामान्य गुण कहाते हैं। जिसके द्वारा किसी पदार्थ (स्वभाव) का महत्त्व आञ्जस अर्थात् सम्यक् (न न्यून, न अधिक) रूप से पोषित किया जाता है उसे औचित्य गुण कहते हैं।[3] सौभाग्य गुण के लिये कवि प्रतिभा की विशिष्ट प्रयत्नशीलता अपेक्षित रहती है। यह गुण काव्याश्रित सम्पूर्ण सामग्री के व्यापार से सम्पादन करने योग्य सहृदयजनों के लिये अलौकिक चमत्कारोत्पादक काव्य का एक जीवन अर्थात् परम तत्त्व है।[4]

क सुकुमार मार्ग—इस मार्ग में पदार्थ के स्वभाव को ही प्रधान स्थान दिया जाता है। अतः इस में कृत्रिमता की सदा उपेक्षा की जाती है।[5] यही कारण है कि कवि को इस मार्ग में अलङ्कारों के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता।[6] यह मार्ग अम्लान (नवनवोन्मेषशालिनी) प्रतिभा से समु

---

1 यद्यपि शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते। नैष दोषः। यस्मात् स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। × × × स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेन अवस्थानात्, स्वभावस्तावत्तदुपकरोति तौ च तत्परिपोषमातनुतः। व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १ ३

2 देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ २११-२१३

3 आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥ व० जी० १।५३

4 व० जी० १।५५,५६

5 भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः। व० जी० १।२५

6 अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः। वही १।२६

स्पष्ट नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर होता है।[1] प्रतिभा के द्वारा जो कुछ भी वैचित्र्य उत्पन्न हो सकता है, वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ इसी मार्ग में शोभित होता है।[2]

ख विचित्र मार्ग—यह मार्ग सुकुमार मार्ग से नितान्त विपरीत है। सुकुमार मार्ग अयत्न-साध्य है, कृत्रिमता से रहित सहज मार्ग है, पर यह विशेषयत्न-साध्य, नितान्त कृत्रिम आहार्य मार्ग है। इस मार्ग में कवि की प्रतिभा के प्रथम ही विलास में शब्द और अर्थ में वक्रता स्पष्ट स्फुरित होने लगती है।[3] इस मार्ग में कवि एक अलंकार से सन्तुष्ट न रह कर अलङ्कार पर अलङ्कार लादे जाते हैं और रचना अलंकारों की चमक-दमक से उस प्रकार आच्छादित सी हो जाती है जिस प्रकार जाज्वल्यमान भूषणों से लदी हुई नारी का शरीर।[4] इस मार्ग की एक अन्य विशेषता है—उक्ति वैचित्र्य। इस के बल पर अन्य कवियों द्वारा अनेक बार निष्पेषित विषय भी सौन्दर्य की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं।[5] वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवन है, जिस के कारण कथनोक्ति अतिशय रूप से स्फुरित हो उठती है।[6] किन्तु कुन्तक का विचित्र मार्ग अलङ्कारों से लदा हुआ भी चकाचौंध कर देने वाला केवल बाह्य रूप नहीं है, अपितु इस से अलङ्कार्य प्रकाशित हो जाता है।[7] इस मार्ग में शब्द और अर्थ की वृत्ति से भिन्न किसी विषय (वाक्यार्थ) की प्रतीयमानता (व्यंग्य) की रचना की जा सकती है।[8] यह मार्ग निस्सन्देह प्रयत्नसाध्य है। यही कारण है कि कुन्तक ने इस मार्ग को खड्गधारा के समान अति दुष्कर पथ कहा है।[9]

ग मध्यम मार्ग—सुकुमार सहज (स्वाभाविक) मार्ग है विचित्र मार्ग आहार्य (कवि की व्युत्पत्त्यादि जन्य) मार्ग है, और मध्यम मार्ग दोनों का मिश्रण है। इस मार्ग में प्रथम दो मार्ग परस्पर स्पर्द्धा करते हुए से विद्यमान रहते हैं।[10] जैसे एक सौन्दर्यप्रेमी रसिक नागरिक की रंगबिरंगे वस्त्रों में विशेष रुचि होती है, उसी प्रकार सौन्दर्य के व्यसनी कवि भी दोनों मार्गों से मिश्रित इस मध्यम मार्ग के प्रति विशेष आदर रखते हैं।[11]

---

१ अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः। वही १।२५

२ व० जी० १।२८

३-११ व० जी० १।३४, ३५, ३६ ३८, ४२, ३७, ४०, ४३, ४४,
 ५१ ५२

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता

दण्डी और वामन ने स्पष्ट रूप से और राजशेखर ने संकेत रूप से वैदर्भ मार्ग अथवा वैदर्भी रीति की सर्वश्रेष्ठता स्वीकृत की है। भामह और कुन्तक ने इसका विरोध किया है। पूर्व पक्ष के पृष्ठपोषक वामन हैं और उत्तर पक्ष के कुन्तक।

पूर्व पक्ष—दण्डी ने श्लेष आदि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहते हुए गौड मार्ग में इनके विपर्यय को दिखाकर वैदर्भ मार्ग की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता घोषित की है, पर वामन के समान उन्होंने गौड मार्ग को नितान्त अग्राह्य नहीं माना।[1] राजशेखर के कथनानुसार साहित्यविद्यावधू काव्यपुरुष को गौडीया रीति के मूल स्थान प्राची प्रदेश में आकृष्ट न कर सकी, पाञ्चाली रीति के मूल स्थान पञ्चाल प्रदेश में वह उसके प्रति कुछ कुछ आकृष्ट होने लगा, और वैदर्भी रीति के मूलस्थान दक्षिण प्रदेश में वह उस पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो गया, तथा वहीं वत्सगुल्म नामक नगर में उन दोनों का विवाह भी सम्पन्न हो गया।[2] इस कथा द्वारा राजशेखर ने वैदर्भी को प्रकारान्तर से सर्वोत्तम रीति घोषित किया है तथा गौडीया को अधम और पाञ्चाली को मध्यम।

वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ रीति माने जाने की लोक-परम्परा का प्रभाव वामन पर सबसे अधिक पड़ा है। सम्भवतः उसी के वशीभूत होकर उसने केवल इसे ही ग्राह्य रीति माना है। उसके कथनानुसार सकल गुणों से विशिष्ट होने के कारण वैदर्भी रीति ग्राह्य है, और अल्प (केवल दो-दो) गुणों से विशिष्ट होने के कारण गौडीया और पाञ्चाली रीतियाँ अग्राह्य हैं।[3]

इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक कवि वैदर्भी रीति का अभ्यास एकदम प्रारम्भ कर दे। वामन का उत्तर है, 'हाँ'। कुछ आचार्य कह सकते हैं कि वैदर्भी रीति तक पहुँचने के लिए गौडीया और पाञ्चाली का अभ्यास—(नवीन उदीयमान

---

१ देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ २११-२१५

२ का मी ३ अ पृष्ठ १८-२१

३ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। का सू वृ १-२-१४
न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्। वही १-२-१५

कवियों के लिए ही सही)—एक सोपान स्वरूप है। पर वामन को उनका यह मत भी स्वीकृत नहीं है। कवि को आरम्भ से ही वैदर्भी रीति का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि एक अतत्त्वशील (असारता का अभ्यासी) व्यक्ति तत्त्व (सार) को कभी भी निष्पन्न नहीं कर सकता। शण (पटसन) से बुनने का अभ्यास करने वाला कोई व्यक्ति त्रसर (रेशम) से बुनने का कार्य कभी सम्पन्न कर सकेगा।[1] वामन का यह तर्क मौलिक आधार पर अति पुष्ट है, किन्तु वे स्वयं गौडीया और पाञ्चाली को अभ्यासार्थ भी अग्राह्य मानते हुए उनकी उपादेयता को अस्वीकृत नहीं कर सके। उनके कथनानुसार जिस प्रकार एक चित्र रेखाओं पर आधृत होता है, उसी प्रकार काव्य (की सभी रूपविधाएं) इन तीनों रीतियों पर प्रतिष्ठित रहती हैं—

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।

का सू १।२।१३ (वृत्ति)

तो क्या वामन की अन्तरात्मा गौडीया और पाञ्चाली को नितान्त अग्राह्य समझती होगी, इसमें सन्देह किया जा सकता है। किन्तु इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ रीति मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदर्भी रीति को सर्वगुणसम्पन्ना मानने में वामन कुछ भावुक भी अवश्य हो गए हैं। किसी सुन्दर से सुन्दर कवित्वपूर्ण भी पद्य में दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों की स्थिति कदाचित् सम्भव नहीं है। जो खींचतान की जाए, वह और बात है। उदाहरणार्थ, वामन के टीकाकार हरभूराम ने वामन द्वारा प्रस्तुत वैदर्भी रीति के उदाहरण 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' में दस शब्द-गुण खींच तान कर निकाल ही लिए हैं।[2] यदि वे चाहते तो दसों अर्थ गुण भी इसी पद्य में से निकाल सकते थे। पर निस्सन्देह यह एक खेलवाड़ मात्र है, इस तरह से तो श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण अत्यन्त विरल हो जाएँगे।

उत्तर पक्ष—भामह ने वैदर्भ (मार्ग) की श्रेष्ठता को अमान्य घोषित करते हुए ऐसा कहने वालों के कथन को निर्बुद्धियों का प्रलाप कहा है।

---

१ का सू १।२।१७, १८

२. का सू वृ (विद्याविलास प्रेस) सन् १९ ० में प्रकाशित संस्करण पृष्ठ १८, १९

उनके मत में वैदर्भी और गौड़ीया में कोई पार्थक्य नहीं है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भामह ने दोनों मार्गों के पृथक् पृथक् गुणों की ओर संकेत किया है, अतः उन्हें उन दोनों में अन्तर तो अभीष्ट था, पर एक को दूसरे की अपेक्षा ज्यायान् मानना अभीष्ट नहीं था।

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता का प्रबल खण्डन कुन्तक ने किया है। उनके कथनानुसार उत्तम, अधम और मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना उचित नहीं है।[१] यदि वैदर्भी को उत्तम रीति घोषित किया जाए तो जितनी सहृदयाह्लादकारिता वैदर्भी में स्वीकृत की जाएगी, उतनी अन्य किसी रीति प्रकार में नहीं, और इस प्रकार से शेष दो रीतियों का विवेचन ही व्यर्थ माना जाएगा।[२] यदि यह युक्ति दी जाए कि वैदर्भी के अतिरिक्त शेष दो रीतियों का विवेचन इसलिये किया गया है कि कविवर्ग उनका परित्याग कर सकें तो रीति-निरूपक उन आचार्यों को भी यह तर्क स्वीकृत नहीं होगा।[३] वस्तुतः काव्यकृति का रूप दरिद्रों के दान (अथवा दरिद्रों को दान देने) के समान नहीं है कि यथाशक्ति जो कुछ भी भला-बुरा दान कर दिया जाए, उतना ही ठीक है। काव्यकृति में तो अधमता और मध्यमता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[४] इस प्रकार कुन्तक को रीतियों में श्रेष्ठ और निकृष्ट भेद अभीष्ट नहीं है। अपने सुकुमार आदि तीनों मार्गों को

---

१ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि रीति को उत्तम, अधम और मध्यम भेद से स्वीकृत करने वाले किन आचार्यों पर कुन्तक आक्षेप कर रहे हैं। यह आक्षेप वामन पर तो कदापि नहीं है, क्योंकि उन्होंने रीति को इस तारतम्य के आधार पर विभक्त नहीं किया।

२. न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति।

व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ ४

३ परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवानभ्युपगमात्। वही पृष्ठ ४

४ न चाशक्तिमात्रसमर्थनेन यथाशक्ति दरिद्रदानवत् काव्यं करणीयतामर्हति। वही पृष्ठ ५०-५१

उन्होंने समान रूप से महत्त्वपूर्ण तद्विदाह्लादकारी कहते हुए किसी एक को दूसरे से न्यून नहीं कहा।[1]

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में न केवल साहित्यशास्त्रियों ने प्रकाश डाला है, अपितु समय समय पर कवियों ने भी प्रकारान्तर से इसका गुणगान किया है। उदाहरणार्थ—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।[2]

नै० च ३।११६

वस्तुत इस लोकरूढ़ि के पीछे एक तथ्य निहित है—वैदर्भी रीति सदा से असमस्ता अथवा स्वल्पसमस्ता कही गई है। इसे बाह्य अलंकारों अथवा कृत्रिमता से लादने की आवश्यकता नहीं है, अतः यह अप्रयत्नसाध्य है। इसके विपरीत अन्य रीतियों में समस्तपदता बाह्य आडम्बर और कृत्रिमता का लाना आवश्यक है अत ये प्रयत्नसाध्य हैं। वैदर्भी रीति को सुकोमल भावनाओं के प्रकट करने का साधन माना गया है। यह रीति माधुर्य गुण के *अभिव्यंजक व्यंजनों से संयुक्त समझी गई है* और माधुर्य गुण की स्थिति शृङ्गार, करुण आदि जैसे सुकुमार रसों में होती है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।

माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥ ध्वन्या २-८

निस्सन्देह ये दोनों रस सर्वाधिक प्रिय हैं। वैदर्भी रीति के गुणगान का भी यही कारण है कि यह रीति इन्हीं रसों की व्यञ्जरूपात्मिका है। हाँ, गौडीया और पाञ्चाली रीति का भी अपना स्थान है। वीर रौद्र आदि कठोर रसों में वैदर्भी रचना वह चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकती, जो गौडीया रीति करेगी। इस प्रकार भयानक और अद्भुत रसों के लिए पाञ्चाली रीति ही उपयुक्त है। वीर, रौद्र, भयानक अथवा अद्भुत रसों की स्वीकृति करते हुए भी इन दोनों रीतियों को अप्रधान समझना युक्तिसंगत नहीं है। अतः यदि लोकरूढ़ि से दूर रहकर निष्पक्षभाव से विचार किया जाए तो कुन्तक

---

1 तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेः न कस्यचिन्न्यूनता। वही पृष्ठ १ २

2. वैदर्भी और गुण शब्द का श्लिष्टार्थ—

वैदर्भि—दमयन्ति, पक्षे वैदर्भि रीति।

गुण—सौन्दर्यादि गुण, पक्षे श्लेषप्रसादादि दश गुण।

के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ेगा—तद्विदसहृदयमरिचवरीतिसमाख्यैः न काव्यविन्यूनता।

मम्मट-सम्मत रीतियों की परीक्षा—

जैसा कि हम पहले संकेत कर आए हैं मम्मट ने स्वसम्मत उपनागरिका परुषा और कोमला वृत्तियों (रीतियों) का स्वरूप उद्भट से प्रभावित होकर प्रस्तुत करते हुए उपनागरिका वृत्ति का सम्बन्ध माधुर्य गुण के अभिव्यंजक (प्रकाशक) वर्णों के साथ स्थापित किया है और परुषा वृत्ति का सम्बन्ध ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों के साथ।[1] कोमला वृत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने केवल इतना मात्र संकेत किया है—'कोमला परैः'—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।

ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः॥ का० प्र० ९।८

मम्मट द्वारा प्रस्तुत उक्त वृत्तियों में से कोमला का स्वरूप विवादास्पद है। 'परैः शेषैः' इस सूत्रपाठ का काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने अर्थ किया है—'ओजोमाधुर्यव्यञ्जकव्यतिरिक्तैः प्रसादव्यञ्जकैः वर्णैः युक्ता वृत्तिः कोमलेत्युच्यते।'[2] अर्थात् जो रचना प्रसाद गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त हो उसे कोमला वृत्ति कहते हैं। पर वस्तुतः यह मान्यता विरोधात्मक है। स्वयं मम्मट ने प्रसाद गुण को सभी प्रकार की रचनाओं में व्याप्त माना है।[3] इस गुण की एक ही विशिष्टता है—पढ़ते ही तुरन्त अर्थ का अवबोध। इस विशिष्टता से युक्त कोई भी रचना चाहे उस में माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण हों, अथवा ओज गुण के प्रसादगुण से युक्त कही जा सकती है। अतः एक तो प्रसाद गुण को विशेष वर्णों से सम्बद्ध करना मम्मट-मतानुकूल नहीं है और दूसरे कोमला का प्रसाद गुण से सम्बद्ध करना भी मम्मट को अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस प्रसंग को लिखते समय मम्मट के सम्मुख उद्भट के अनुप्रास अलंकार का स्वरूप है जिस में उपनागरिका और परुषा वृत्तियों को उन्हीं वर्णों से संयुक्त माना गया है जिन्हें मम्मट ने क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक मान कहा है, तथा कोमला वृत्ति को उद्भट ने

---

१ देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २०

२ का० प्र० (बा० बो० टीका) पृष्ठ ४४०

३ ××× प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
सर्वेषां सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च।

उक्त दो वृत्तियों से अवशिष्ट वर्णों से युक्त निर्दिष्ट किया है।[1] उद्भट ने इन वृत्तियों को माधुर्यादि गुणों के साथ सम्बद्ध नहीं किया। वस्तुतः उन के ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह में गुणों का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। अतः उनके इस प्रसंग में न तो प्रसाद गुण की सर्वरचना-व्यापकता का प्रश्न उपस्थित होता है और न कोमला वृत्ति और प्रसाद गुण के परस्पर सम्बन्ध-स्थापना द्वारा उत्पन्न उक्त विरोध का। इधर मम्मट आनन्दवर्धन के इस सिद्धान्त से प्रभावित थे कि रीति (संघटना अथवा वृत्ति) गुण के आश्रित है।[2] अतः इनके लिए यहां गुणों की चर्चा करना आवश्यक हो गया। प्रथम दो गुणों और रीतियों के पारस्परिक सम्बन्ध तो स्थापित हो गए, पर कोमला के विषय में वे न तो उद्भट की अवहेलना कर सके, यही कारण है कि उन्हीं के समान 'परैः शेषैः' शब्दों द्वारा उन्हें कोमला का स्वरूप निर्दिष्ट करना पड़ा; और न ही प्रसाद गुण को वे इस से सम्बद्ध कर सके, क्योंकि स्वयं उन्हीं के अनुसार इस गुण के लिए किसी वर्णयोजना की आवश्यकता नहीं है। पर मम्मट के टीकाकारों ने इस प्रसंग में जब माधुर्य और ओज गुण का उल्लेख क्रमशः उपनागरिका और परुषा के साथ देखा तो 'परैः शेषैः' के आधार पर उन्होंने प्रसाद गुण को कोमला के साथ जोड़ दिया। अस्तु! इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह कि—

(१) उपनागरिका और परुषा वृत्तियों (अथवा वैदर्भी और गौड़ी रीतियों) के साथ यही वर्णयोजना सम्बद्ध है, जो क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों की अभिव्यंजिका है। उद्भट और मम्मट दोनों का यही अभीष्ट है।

---

१ परुषा—शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता॥
उपनागरिका—सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥
ग्राम्या—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥
अनुप्रास—सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥
का० सा० सं० १।३-७

२. देखिए पृष्ठ २११-२१३

(२) कोमला का सम्बन्ध माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों से अवशिष्ट वर्णों के साथ है—यही उद्भट और मम्मट दोनों को अभीष्ट है।

(३) किन्तु मम्मट के उक्त कथन के अनुसार कोमला का प्रसाद गुण के साथ सम्बन्ध जोड़ना युक्ति-संगत नहीं है। मम्मट को भी यह अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। इस विषय में उद्भट की अभीष्टता का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

हिन्दी में 'रीति' शब्द का द्विविध प्रयोग

हिन्दी के आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में और वैदर्भी आदि रीतियों के अर्थ में। पहला अर्थ हिन्दी का अपना है, पर दूसरा अर्थ वामन के समय से प्रच लित है। पहले अर्थ का प्रयोग चिन्तामणि के समय से प्रारम्भ हो जाता है—

रीति सु भाषा कवित की बरनत बुध अनुसार। क० क० त० १।६

चिन्तामणि से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में रीति शब्द का उक्त अर्थ में प्रयोग हमें उपलब्ध नहीं हुआ। एक स्थान पर केशव ने इस शब्द का प्रयोग किया है—

दुखना काव्या माह रति बर्णत है इहि रीति। र० प्रि० ३।१७

परन्तु यहाँ 'रीति' शब्द 'शास्त्रीय विधान' का इतना वाचक नहीं है, जितना कि 'व्यवहार' अर्थ का। हाँ, केशव ने 'पन्थ' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में किया है—

समुझे बाला बालक हूँ बर्णन पन्थ अगाध। क० प्रि० ३।१

भोज ने रीति शब्द की व्युत्पत्ति गत्यर्थक रीङ् धातु से की है। इस दृष्टि से केशव का 'पन्थ' शब्द रीति का ही पर्याय है। इसके अतिरिक्त यह शब्द परम्परा-सम्मत भी है। भोज और कुन्तक इस का प्रयोग पहले ही कर आए हैं—

भोज—वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥
स० क० भ० २।२

कुन्तक—सम्प्रति तत्र ये मार्गाः पन्थानस्तेषां समन्वयः × ×।
व० जी० १।२४ (वृत्ति)

चिन्तामणि के उपरान्त प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने 'रीति' शब्द का शास्त्रीय विधान के अर्थ में प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

मतिराम—सो विमल्लबोध कौं बरनत कवि रस-रीति । र रा०—२०
भूषण— सुकविन हूँ की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ । शि भू०—३०
देव— अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति । श र
सुरतिमिश्र—बरनन मत रंजन बहो रीति अलौकिक होइ ।
निपुण कर्म कवि की जु तिहि काव्य कहत सब कोई ॥ का सि०
सोमनाथ— छन्द रीति समुझे नहीं बिन पिंगल के ज्ञान । र० पी० पि ३।११
दास—(क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों ॥ का नि १।१२
अब कछु तुलक रीति कवि, कहत एक उल्लास ॥ का नि० १५।१
(ख) कन्हौं सुकविन के बरत अरु सुकविन के ग्रन्थ ।
जाते कछु हीं हूँ लहूँ, कवितई को पन्थ ॥ श नि० ५
दूलह— जोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार की रीति ॥ क कु० म०—१
पद्माकर—ताहि को रति कहत है रस-ग्रन्थन की रीति ॥ ज वि० ५।५
बेनी प्रवीन—या रस मद मन तरंग में भव रस रीतिहिं देखि ।
अति प्रसन्न ह्वै सुजन की, कीन्हीं प्रीति विसेखि ॥
न र० त १।११

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रीति अथवा पन्थ शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इन के साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः संलग्न है—कवित्त-रीति, कवि-रीति काव्य-रीति, छन्द-रीति अलंकार-रीति, तुलक-रीति, वर्णन-पन्थ कवि-पन्थ और कविता-पन्थ । अतः 'रीति' शब्द व्यापक अर्थ में काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है । पर आज 'रीति-कवि' अथवा 'रीति-ग्रन्थ' में प्रयुक्त रीति शब्द से काव्य शास्त्र से ही सम्बद्ध अर्थ लिया जाता है । सम्भव है रीतिकाल में ही रीति शब्द इस व्यापक अर्थ का द्योतक बन गया हो । अस्तु ! वस्तुतः रीति शब्द के उक्त प्रयोग को देख कर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि इतिहासकारों ने इस काल को रीतिकाल, तथा चिन्तामणि आदि को रीति-बद्ध और बिहारी आदि को रीति सिद्ध कवियों की श्रेणी में गिनाया है ।

अलंकार

चित्रकाव्य : अलंकार निबन्ध

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ-प्रधान और व्यंग्यार्थ-गुणीभूत काव्य को क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया है तो व्यंग्यरहित काव्य को 'चित्र' नाम से पुकारा है।[1] मम्मट, अप्पय्यदीक्षित और नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस दिशा में आनन्दवर्धन का अनुकरण किया है।[2] इन आचार्यों के मत में चित्रकाव्य शब्दालंकार और अर्थालङ्कार का पर्याय है। यद्यपि मम्मट और नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण और अलङ्कारयुक्त काव्य को 'चित्र' कहा है,[3] पर यहाँ उनका 'गुण' शब्द द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों के द्योतक माधुर्य आदि गुणों का द्योतक न होकर गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ का ही पर्याय है,[4] जैसा कि उन के उदाहरणों से भी स्पष्ट है। रस के धर्मस्वरूप 'गुण' को नीरस चित्रकाव्य का अंग समझना युक्तियुक्त है भी नहीं।

आनन्दवर्धन के शब्दों में चित्र (अवर, अधम) काव्य रसभावादि तात्पर्यरहित और व्यंग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य है। यह केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति मात्र है।[5]

व्यंग्यराहित्य चित्रकाव्य की सब से बड़ी विशेषता है। पर यहाँ एक

---

१ ध्वन्या ३-४२

२. का० प्र १।५; चि मी पृ ५; अलं महो ३।१०

३. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का प्र १म उ

४ अत्र गुणपदं तद्व्यंजकपरम्। अन्यथा तस्य रसधर्मतया तद्विरहित-चमत्कारित्वे चित्रत्वानुपपत्तेः। का प्र पृ २१ टीका भाग

५. ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। ध्वन्या ३।४२ (वृत्ति)

शङ्का उपस्थित होती है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्तनैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो। अतः चित्रकाव्य को वस्तु व्यंग्य और अलङ्कार-व्यंग्य से रहित तो कह सकते हैं पर उसे रस-व्यंग्य से रहित कभी नहीं कह सकते।[1] अपनी ही इसी शङ्का का समाधान आनन्दवर्धन ने स्वयं कर दिया है—'यह सत्य है कि रसादि प्रतीति-रहित कोई भी काव्य सम्भव नहीं हो सकता। पर यह सब कुछ कवि की विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रस भाव आदि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थालङ्कार की रचना करता है, तब उस रचना में रस आदि के किसी न किसी रूप में होने पर भी रसादिशून्यता की कल्पना की जाती है। ऐसी अवस्था में जो रसादिप्रतीति होती भी है वह परिपुष्ट नहीं होती है।'[2] अतः चित्रकाव्य वह 'अलंकार-निबन्ध' है जहाँ रस-भावादि के किसी न किसी रूप में विद्यमान रहने पर भी कवि की विवक्षा इन पर नहीं रहती—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या० ३।४२ (वृत्ति)

इधर मम्मट ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हुए कहा है—'चित्रकाव्य (अलंकार निबन्ध) को नितान्त व्यंग्य-शून्य कभी नहीं कह सकते। इस में प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ रहता अवश्य है, पर वह स्फुट नहीं होता।'[3] इसी कारण इसे अधम काव्य कहा गया है।

---

1 तत्र यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन।—वही

2 सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।—वही

3 अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का० प्र० ११७

रस-भाव आदि से निरपेक्ष और स्फुट-प्रतीयमानार्थरहित चित्र-काव्य को 'काव्य' न मानने का प्रश्न भी आनन्दवर्धन ने उठाया है। पर उन्होंने जब देखा कि विशृंखल (अन्याचार्यी) कवियों की प्रवृत्ति इसी ओर अधिक रहती है तो उन्होंने इसे भी काव्य का एक प्रकार, अधम ही सही, मानने की अनुमति दे दी है—

तथापि कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादयमस्माभिः परिकल्पितः। ध्वन्या० ३।४२ (वृत्ति)

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(१) चित्रकाव्य अलंकार-निबन्ध को कहते हैं।

(२) यद्यपि चित्रकाव्य में रस भाव आदि किसी न किसी रूप में अवश्य रहते हैं पर कवि की विवक्षा इन की अपेक्षा शब्द और अर्थ में अधिक रहती है। अतः चित्रकाव्य ध्वनिरहित और नीरस माना गया है।

(३) विशृंखल (अन्याचार्यी) कवि इसे अपनाते हैं अतः यह भी काव्य का एक (अधम अवर) प्रकार अवश्य है।

अलंकारवाद के समर्थक आचार्य

आनन्दवर्धन और उन के समर्थकों ने अलंकार को चित्र (अधम) काव्य कहा, पर इन से पूर्ववर्ती आचार्यों की अलंकारविषयक धारणा इन से विपरीत थी। वे अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते थे। उन के मत में काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार के अंतर्गत हैं। इन आचार्यों में से भामह और दण्डी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भामह के शब्दों में जिस प्रकार कान्त होने पर भी वनिता-मुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता उसी प्रकार सुन्दर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता।[1]

दण्डी ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व माना है। इनके मत में गुण तो अलंकार हैं ही।[2] रस भाव आदि भी रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार ही हैं।[3] इनके अतिरिक्त गुण आदि ५ सन्धियों उपक्षेप आदि ६४ सन्ध्यंगों,

१ (क) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। का० अ० १।१३
(ख) [illegible] वाग्विचित्रमलंकृता
विभाति वनितेव विदग्धमण्डना। का० अ० १।५८
२,३ का० द० २।१,५.

कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्मवत् आदि १६ वृत्त्यंगों, भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा विभिन्न नाट्यालंकारों को भी उन्हों ने 'अलंकार' की संज्ञा दी है।[1] इन में से विषय के आवश्यकतानुसार किन्हीं का स्वभावाख्यान आदि अलंकारों में और किन्हीं का भाविक अलंकार में अंतर्भाव हो जाता है।[2]

वामन ने काव्यगत समस्त सौंदर्य को 'अलङ्कार' कहते हुए दण्डी का समर्थन तो किया है : 'सौन्दर्यमलंकारः'; 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'। पर उन का यह 'अलङ्कार' शब्द न तो उपमा आदि अलङ्कारों का पर्याय है[3] और न वामन अलङ्कार को काव्य का नित्य धर्म मानते थे।[4] अलङ्कारवाद के समर्थक उस युग में अलंकार के सम्बन्ध में वामन की यह धारणा उन्हें निस्सन्देह एक निर्भीक आचार्य के रूप में उपस्थित करती है।

भामह और दण्डी के ही समकक्ष उद्भट भी अलङ्कारवाद के समर्थक रहे होंगे। उनके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में काव्य के अन्य अंगों को छोड़कर केवल अलङ्कारों का ही निरूपण किया गया है। दण्डी के समान उन्होंने भी अंगीभूत रस, भाव आदि को रसवत्, प्रेयस् आदि अलङ्कारों के नाम से पुकारा है।[5] अंगभूत रस भाव आदि को उदात्त अलङ्कार के अंतर्गत मानने का उन्होंने ही सर्वप्रथम आदेश किया है।[6] गुण और अलंकार को एक समान मानते हुए उन में विभेद दिखाने वालों का उन्होंने उपहास किया है।[7] परवर्ती आचार्यों ने इन्हें सदा अलङ्कारवाद के प्रबल समर्थक के रूप में समादृत किया है, पर उनके 'भामहविवरण' अथवा किसी

---

१ यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥ का० २।३६७

२ तत्र केषांचित् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भावः केषांचित् भाविके इति यथायथं विचारानुरोधेन ज्ञातव्यम्। का० द०, प्रभा टीका पृष्ठ ३११

३ स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। का० सू० वृ० १।१।३

४ पूर्वे नित्याः। वही ३।१।२

५ का० सा० सं० ४।२, ३, ४, ५, ७

६ उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥ का० सा० सं० ४।८

७ × × × गड्डरिकाप्रवाहेणैषां भेदः।
का० प्र० ८ म उ० पृष्ठ ४७०

ग्रन्थ ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने के कारण यहाँ उनकी कोई स्पष्ट अलङ्कार सूचक प्रशस्ति प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

रुद्रट की गणना अलंकारवादी आचार्यों में की जाती है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में रस का विवेचन भी किया है, पर वह इतना सामान्य कोटि का है कि इस आधार पर रुद्रट को रसवादी आचार्य नहीं माना जा सकता। एक तो इन के ग्रंथ का नाम ही 'काव्यालङ्कार' है, और दूसरे, ग्रन्थ का अधिकांश भाग अलङ्कारों को समर्पित हुआ है। इस दृष्टि से रुद्रट का कुछ झुकाव अलङ्कारवाद की ओर भी दिखाई देता है।

आगे चल कर इन आचार्यों का अलंकार-सिद्धान्त ध्वनिवादियों के वर्धमान प्रभाव के आगे धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। आनन्दवर्धन ने अलंकार-निबन्ध को 'चित्रकाव्य मात्र' कहते हुए अलंकार के महत्त्व को धराशायी कर दिया। उनके अनुमोदन में मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' को अपने काव्यलक्षण में स्थान दे दिया,[1] और विश्वनाथ के मत में अलंकार 'उत्कर्षमात्राधायक' होने के कारण काव्य के 'स्वरूपाधायकत्व रूप'[2] से वंचित हो गया।

इस पर भी अलंकार के समर्थकों ने पराजय स्वीकार नहीं की, और कुन्तक और जयदेव ने अलंकार की महत्ता का पुनः प्रदर्शन किया। कुन्तक के शब्दों में अलंकारसहित [शब्दार्थ] ही की काव्यता होती है, यह एक तत्त्व (यथार्थ बात) है। × × × काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य है, उसका केवल योगदान ही अभीष्ट नहीं है।[3] जयदेव के अलंकार-महत्त्वसूचक कथन में कोई सार नहीं है। यमक के मोह को संवरण न कर सकने के कारण वह मम्मट पर फीका और व्यर्थ सा छींटा फेंक कर रह गये हैं—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ च० लो० १।८

स्पष्टतः उक्त पद्यांश में भामह, दण्डी, उद्भट और कुन्तक एक ओर

---

१. का० प्र० १म उ० पृष्ठ ११ २. सा० द० १म परि० पृष्ठ ११

३. तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता। × × × सैषा सालंकारस्य काव्यतामिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति। व० जी० पृष्ठ ?

है, तथा आनन्दवर्धन और उनके समर्थक दूसरी ओर। परन्तु रस और ध्वनि को काव्य-कामिनी की आत्मा; और उपमा अनुप्रास आदि अलंकारों को शब्दार्थ रूप काव्यशरीर के अस्थिर शोभाधायक कटककुण्डलादि के समान आभूषण स्वीकार कर लेने की स्थिति में भामह आदि आचार्यों के समान अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग अथवा सर्वस्व मानने का प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता। जो विद्वान् विचारक आज भी कविता को नवोढा के रूप में न देखकर छायाश्रया से आभूषिता, पूर्णयौवनसम्पन्ना पुरन्ध्रिका के रूप में देखना चाहते हैं वे आज भी अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने के पक्ष में हो सकते हैं किन्तु उनकी संख्या अत्यन्त नगण्य है।

अलंकार का स्वरूप और लक्षण

आनन्दवर्धन से पूर्व केवल दण्डी और वामन ने अलंकार का लक्षण दिया और उनके पश्चात् मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने। शेष आचार्यों के अलंकार-लक्षणों में मम्मट आदि की छाया है।

दण्डी और वामन के अलंकार-लक्षणों में तारतम्य का अन्तर है। दण्डी के मत में काव्य (शब्दार्थ) की शोभा करने वाला अलंकार है[1] तो वामन के मत से यह कार्य गुण का है, और अतिशय शोभा करने वाला धर्म ही अलंकार है[2]।

आनन्दवर्धन ने अलंकार को अंग (शब्दार्थ) के आश्रित माना, और उन्हें कटक-कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर का शोभा जनक धर्म) कहा।[3]

आनन्दवर्धन ने अलंकार-लक्षण में अलंकार का रस के साथ कोई सम्बन्ध निर्दिष्ट नहीं किया था (यद्यपि यह सम्बन्ध उन्हें अभीष्ट अवश्य था)। यह कार्य मम्मट[4] और विश्वनाथ[5] ने किया। इनके मत में अलंकार

---

1 काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। का० द० २।१

2 काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।
—का० सू० ३।१।१,२

3. अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्व० २।६

4 उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८।६७

5. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ सा० द० १०।१

शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का प्रायः उपकार करते हैं। अपने अलंकार-लक्षणों में इन्होंने अलंकार को शब्दार्थ का उस प्रकार अनित्य धर्म माना है, जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि शरीर के अनित्य धर्म हैं। इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी अलंकारों को काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयता-प्रयोजक धर्म मान कर ध्वनिवादियों का ही समर्थन किया है।[1] रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मत में कुछ मिलाकर अलंकार का स्वरूप इस प्रकार है—

१ अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म हैं।
२ ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं।
३ ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का भी उपकार करते हैं,
४ और कभी रस का उपकार नहीं भी करते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकाल से पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के अलंकार-स्वरूप में एक तत्त्व को तो किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है वह है अलंकारिता—काव्य की शोभा-जनकता—'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः।' दूसरी समानता यह है कि दोनों वर्गों के आचार्यों ने अलंकार को शब्दार्थ का ही शोभाकारक धर्म माना है।[2] दोनों वर्गों के मत का विभेदक धर्म यह है कि रसवादी अलंकार से शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का भी उपकार मानते हैं, पर अलंकारवादी 'शब्दार्थ की शोभा से आगे नहीं बढ़ते।

गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना

अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए गुण से उसका पार्थक्य दिखाना अत्यन्त आवश्यक है और फिर, गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना का इतिहास अत्यन्त रोचक भी है। इस से हम दोनों काव्य-तत्त्वों के महत्त्व और स्वरूप के विकास को समझने में सहायता मिलेगी।

भरतमुनि—भरतमुनि ने गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना स्पष्ट शब्दों में तो कहीं नहीं की। पर इनके समता और समाधि गुणों के लक्षण में यह संकेत अवश्य मिल जाता है। समता गुण के लक्षण में इन्हों

---

१ जगन्नाथ—काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः।

२ दण्डी और वामन का 'काव्य' शब्द तथा आनन्दवर्धन और मम्मट का 'अंग' शब्द 'शब्दार्थ' के पर्यायवाची हैं।

ने गुण और अलंकार को 'अन्योन्य-सदृश' और 'अन्योन्य-भूषण' कहा है।[1] तो समाधि गुण के लक्षण में उपमा अलंकार तथा समाधि गुण में पोषक-पोष्य, अथवा शासन-साध्य भाव मान कर, हमारे विचार में, गुण को अपेक्षाकृत महत्त्वशाली मान लिया है।[2]

दण्डी—दण्डी ने पुनरुक्ति और संशय दोषों के अभाव को 'गुण' न कह कर 'अलंकार' कहा है।[3] श्लेष प्रसादादि दश गुणों को भी प्रकारान्तर से इन्होंने 'अलंकार माना है।[4] इस प्रकार दण्डी ने 'गुण' को अलंकार के विशाल गर्भ में ठीक उसी प्रकार समा दिया है, जिस प्रकार सन्धि, सन्ध्यंग आदि अन्य तत्त्वों को। इस से सिद्ध तो यह होता है कि दण्डी को अलंकार का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक अभीष्ट है। परन्तु वस्तुस्थिति ठीक इस से विपरीत है। वस्तुतः उन का 'अलंकार' पद वामन के समान विशाल तथा संकुचित दोनों अर्थों का बोधक है। उसके विशाल अर्थ में भले ही सभी काव्य-तत्त्व समा जाएं, पर केवल उपमादि अलंकार सूचक संकुचित अर्थ की अपेक्षा गुण कहीं अधिक महत्त्वशाली है। इस सम्बन्ध में कतिपय प्रमाण लीजिए—

(१) दण्डी ने स्वभावाख्यान, उपमा आदि अलंकारों को साधारण अलंकार तथा श्लेष, प्रसाद आदि गुणों को प्रकारान्तर से असाधारण अलंकार मानते हुए इन्हें अपने अभीष्ट 'वैदर्भ मार्ग' का प्राण कहा है।[5]

---

१ अन्योन्यसदृशं यत्र तथा अन्योन्यभूषणम्।
अलंकारगुणानैव समासाद् समता यथा ॥ ना० शा० १७।१०

२ उपमाभिरनेकाभिः (?) धर्माणां यत्नतस्तथा।
मान्त्राणां व्यतिरेकयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ॥ ना० शा० १७।१ ९

३ (क) न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंकिया। का० द० ३।१३७
(ख) ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥ वही ३।१४१

४ का० द० २।३, ३६७

५ (क) काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ का० द० २।३
(ख) × × × ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। का० द० १।४२

(२) मण्डलीकृत्य बर्हाणि × × × (का० द० १।१००) पद्य में उपमादि में से किसी अलंकार के न होने पर भी सुकुमार गुण के सद्भाव में ही इन्होंने वहां काव्य-स्वीकृति दे दी है।[1]

(३) इनके कथनानुसार यों तो सभी अलंकार अर्थात् काव्य-तत्त्व अर्थ में रस-सेचन करने में समर्थ हैं, पर अग्राम्यता अथ माधुर्य गुण इस भार का सर्वाधिक वहन करता है।[2]

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि दण्डी को अलंकार की अपेक्षा गुण का महत्त्व अधिक स्वीकृत है।

उद्भट—उद्भट के नाम पर इस सम्बन्ध में तीन उल्लेख मिलते हैं। जिन में एक तो स्वतंत्र है, और शेष दो एक दूसरे के पूरक हैं—

(क) लौकिक शौर्यादि गुणों और कटक-कुण्डलादि अलंकारों में निस्सन्देह यह भेद है कि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहते हैं, तो अलंकार संयोग (अनित्य) सम्बन्ध से। पर ओज आदि गुणों और अनुप्रास, उपमादि अलंकारों में कोई भेद नहीं है। ये काव्य में समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। लौकिक गुणों और अलंकारों के सदृश काव्यगत गुणों और अलंकार में भी भेद समझना भेड़चाल के समान है। पर मम्मट ने इस मत को स्वीकार नहीं किया।

(ख) गुण और अलंकार चारुत्व के हेतु हैं; अतः उन दोनों में

---

१ मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥
इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोऽपि तादृशः।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः॥ का० द० १।१००, १०१

२ कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १।६२

३ भामहवृत्तौ भट्टोद्भटस्तेषामनुपाल्य दूषयति—"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।" इत्यभिधानमसत्।
—का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७ (मूल पाठ तथा बा० बो० टीका) का० अनु० पृ० २ (वृत्तिभाग)

शाम्य है। उन में केवल विषय अथवा आश्रय का ही भेद है। गुण संघ-टना (रचना) के अधीन हैं, तो अलंकार शब्द अथवा अर्थ के।[1]

उद्भट के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गुण और अलंकार का आधार (विषय अथवा आश्रय) तो अपना अपना है पर इनका महत्त्व समान ही है।

वामन—वामन ने स्वसम्मत काव्य की आत्मा 'रीति' में गुणों की ही विशिष्टता का अनिवार्य स्वीकार कर अलंकार की अपेक्षा गुण के महत्त्व प्रदर्शन में कोई कसर नहीं छोड़ी।[2] साथ ही इन की निम्नोक्त दो धारणाएँ भी इस विषय को और अधिक पुष्ट करती हैं—

(क) गुण काव्यशोभा के जनक हैं[3] और अलंकार उस जनित शोभा के वर्धक।[4]

(ख) गुण नित्य हैं और अलंकार अनित्य, अर्थात् अकेले गुणों से तो काव्य की शोभा हो सकती है पर अकेले अलंकारों से नहीं।[5]

पर वामन के इस मन्तव्य पर कि गुण काव्य-शोभा के जनक हैं, मम्मट को महान् आपत्ति है। उनका तर्क है कि न तो सभी गुण काव्यव्यवहार के प्रवर्तक हैं और न कुछ गुण। यदि सभी गुण प्रवर्तक मान लिए जाएँ तो केवल 'समग्रगुणा' वैदर्भी रीति ही काव्य की आत्मा मानी जाएगी, शेष दो रीतियाँ—गौडी और पाञ्चाली नहीं। और यदि कुछ

---

1 (क) उद्भटादिमतेनोक्तमेव गुणालंकारभेदमनुवदति— 'चारुत्व-हेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां चाश्रयभेदाद् भेदव्यपदेशः। संघटना-श्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः।

—म. प्र. पृष्ठ ११० मूल पाठ तथा रत्नापण टीका।

(ख) उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।

—काव्य सर्व पृष्ठ ६

२ का. सू. १।२।६ ७,८

३. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। का. सू. वृ. ३।१।१

४ तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। वही—३।१।२

५. पूर्वे नित्याः।

[पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः]

वही—३।१।३ तथा वृत्ति

गुण प्रयोजक मान लिए जाएँ तो 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः' (इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो रही है और यह वह धूम-समूह है जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है) आदि चमत्कारशून्य स्थलों में भी गाढबन्धत्व रूप 'ओज' गुण के विद्यमान होने पर काव्यत्व स्वीकार कर लिया जाएगा, जो कि अनुचित है।[1]

इसके अतिरिक्त वामन का यह मन्तव्य भी कि 'अलंकार गुणों से उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हैं' मम्मट को स्वीकार नहीं है, क्योंकि ऐसे पद्य भी मिल जाते हैं, जहाँ वामन-सम्मत गुणों में से एक भी गुण घटित नहीं होता तो भी वहाँ अलंकारों के अस्तित्व के कारण ही काव्यत्व की स्वीकृति हो जाती है।[2]

उद्भट—भामह ने गुण और अलंकार को समान स्तर पर तो रखा है, पर इस सम्बन्ध में कोई कारण अथवा तर्क उपस्थित नहीं किया—जैसे अलंकार को काव्यशोभा का हेतु कहा गया है, वैसे गुण को भी।[3]

आनन्दवर्द्धन मम्मट विश्वनाथ—आनन्दवर्द्धन और उनके मतानुयायियों—मम्मट और विश्वनाथ ने रस के पृष्ठाधार पर गुण और अलंकार का भेद प्रतिपादित करते हुए गुण को अधिक महत्त्वशाली माना है। सारतः उनकी मान्यताएँ निम्नलिखित हैं[4]—

१ गुण रस (अंगी) के आश्रित हैं, पर अलंकार शब्दार्थ (अंग) के।

२ गुण रस के स्थिर धर्म हैं, पर अलंकार शब्दार्थ के अस्थिर धर्म।

३ गुण रस के साक्षात् उत्कर्ष-विधायक हैं, पर अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं।

४ सरस रचना में कोई न कोई गुण अवश्य रहेगा, पर अलंकार का होना आवश्यक नहीं है। सरस रचना तो अलंकार के बिना भी हो सकती है; पर हाँ, इनके होने पर काव्य की शोभा बढ़ अवश्य जाती है।

---

१ का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७२

२ उदाहरणार्थ देखिए—का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७२

३ तदुक्तं भामहेन—
यो हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलंकारः प्रकीर्तितः।
गुणोऽपि तादृशो ज्ञेयः शोभा स्यादुभयोरपि ॥ प्र० ० ० पृष्ठ ११५

४ इन तीनों आचार्यों के गुण तथा अलंकार के अन्तरों के लिए देखिए पृष्ठ १११ पा० टि० ३,४,५।

५. गुण रस का सदा उपकार करते हैं, पर सरस रचना में विद्यमान भी अलंकार कभी कभी रस का उपकार नहीं भी करते।[1]

६. रसविहीन रचना में अलंकार केवल उक्ति का वैचित्र्य (चमत्कारमात्र) दिखाते हैं;[2] पर रसविहीन रचना में गुण के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

निष्कर्ष यह कि गुण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है पर अलंकार अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसी तथ्य को आनन्दवर्धन के परवर्ती सभी रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से ध्वनिकाल से पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों की मान्यताओं में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। पर उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने इस विषय में दोनों कालों के प्रतिनिधि आचार्यों—आनन्दवर्धन और वामन—को एक ही धरातल पर खड़ा करने का विफल प्रयास किया है। उनके निरूपण का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. काव्य गुणों से युक्त शब्दार्थ रूप शरीर वाला होने के कारण सरस ही होता है, न कि नीरस।[4]

—दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों का विचित्र समन्वय

---

१ क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। का० प्र० ८म उ०, पृष्ठ ४६५

२ यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। का० प्र० पृष्ठ ४६५

३ उदाहरणार्थ—

भोजराज—अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ स० कं० १।५९

हेमचन्द्र—'अलंकारमपि गुणयुक्तं स्वदते।' अलंकाराः शब्दार्थैक-संश्रयाद् व्यस्यन्ति न्यस्यन्ति च न गुणाः। न चालंकृती-नामपोद्धारप्रत्याहाराभ्यां काव्यं दुष्यति पुष्यति वा। गुणानां तु[illegible] न संभवत इति।

—का० अनु० पृष्ठ १ (टीका-भाग)

[illegible]—अलंकारसहस्रैः किं गुणो यदि न विद्यते।
[illegible] ॥ प्र० पी० पृष्ठ ११

४ काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात् सरसमेव भवति न तु नीरसम्।
का० सा० सं० (लघुवृत्ति) पृष्ठ ८१

२ काव्य के गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद ।[1]

—आनन्दवर्धन के समान

३ रसाभिव्यक्ति माधुर्य और ओज से मिश्रित प्रसाद गुण द्वारा होती है ।[2] —आनन्दवर्धन के मत से विपरीत

४ गुणों से शोभित काव्य में अलङ्कारों द्वारा अतिशय शोभा हो जाती है ।[3] —वामन के समान

५ निर्गुण काव्य में अलङ्कार का प्रयोग काव्य-शोभा के अभाव का कारण भी बनता है तथा अपनी भी शोभा नष्ट कर बैठता है । × × × × अलङ्कार अनित्य है । गुण-रहित काव्य तो अकाव्य कहाता है, पर अलङ्कार-रहित नहीं ।[4] —वामन के समान

तात्पर्य यह कि अग्निपुराणकार की स्थिति त्रिशंकु के समान है । न तो वे पूर्ण रूप से आनन्दवर्धन का अनुगमन कर सके हैं, और न वामन का ।

निष्कर्ष—तुलना का परिणाम दो विकल्पों में ही सम्भव होता है—दोनों पक्षों की समानता; अथवा पहले या दूसरे पक्ष की एक दूसरे से अधिकता । उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ उद्भट और वाग्भट को गुण और अलङ्कार का समान महत्त्व स्वीकृत है, वहाँ दण्डी, वामन तथा रसध्वनिवादी आचार्य गुण को अधिक महत्त्वशाली स्वीकार करते हैं । भरत को संभवतः दोनों की मिली महत्ता भी स्वीकृत है, और गुण का अपेक्षाकृत

---

१ गुणाः काव्यस्य माधुर्यौजःप्रसादलक्षणाः ।

—अ भा सं (काव्यवृत्ति) पृष्ठ ८१

२ माधुर्यौजसोस्तु तदुभयसम्भिन्नस्वरूपत्वेन तारतम्येनाऽवस्थितौ प्रसाद एव शोभनोपस्था । वही पृष्ठ ८१

३ अलंकाराणां गुणोपकारिकत्वोभये काव्ये शोभातिशयविधायित्वम् ।

—वही पृष्ठ ८२

४ न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलंकाराणां स्वशोभितुर्वोभार-वच्छोभाविघातित्वं दृश्यते । × × × अलंकाराणां निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभाहेतुत्वाभावः स्वशोभाभावोऽपि च । × × × अलंकाराणामनित्यता । गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति न त्वलंकाररहितम् ।

—वही पृष्ठ ८१-८२

अधिक महत्त्व भी। प्रतिहारेन्दुराज की स्थापना कमनीय है, उन में इतना साहस नहीं है कि वे केवल एक पक्ष पर स्थिर रह सकें।

आनन्दवर्धन और उन के मतानुयायियों के गुणालङ्कार-भेद-सम्बन्धी निरूपण में रस रूप आत्मा का पृष्ठाधार निस्सन्देह प्रबल है। लोक में इसी आधार पर शौर्य और कुण्डल में से यदि शौर्य की महत्ता स्पष्ट है तो काव्य में भी इसी आधार पर माधुर्य और उपमा में से माधुर्य की ही महत्ता स्पष्ट और अकाट्य सिद्ध हो जाती है। निष्कर्ष यह कि गुण अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली है।

अलंकारों के प्रकार

(१)

अलङ्कारों को तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है— शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। *मम्मट के मत में इस विभाजन का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक भाव' है,*[1] और रुय्यक के मत में आश्रयाश्रयिभाव'।[2]

जिस के रहने पर जो रहे, वह 'अन्वय' कहाता है; और जिस के न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक। इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रासादि को शब्दालंकार; उपमादि को अर्थालङ्कार तथा पुनरुक्तवदाभास श्लिष्ट परम्परित रूपक और शब्द हेतुक अर्थान्तरन्यास को उभयालङ्कार माना है। और इधर रुय्यक अपने ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' में अनुप्रासादि, उपमादि और पुनरुक्तवदाभासादि उक्त अलङ्कारों को क्रमशः शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ये क्रमशः शब्द अर्थ और शब्दार्थ पर आश्रित हैं, अर्थात् इन में आश्रया-श्रयिभाव है। मम्मट-सम्मत अन्वय-व्यतिरेकभाव के खण्डन में इन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस आधार तो पर श्रौती अर्थात् शाब्दी उपमा (जिसमें 'इव' का प्रयोग आवश्यक है—'इव' के हटा देने पर वह अलंकार नहीं रहता) शब्दालङ्कार मानी जाएगी किन्तु इसे स्वयं मम्मट ने अर्थालङ्कार के अन्तर्गत माना है। अलङ्कार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ[3]

---

1 इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वय व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।

२ १ तत्र शब्दालंकारा यमकादयः। अर्थालंकारा उपमादयः। उभया-लंकारा लाटानुप्रासादयः। × × × । लोकवदाश्रयाश्रयि

में कर्ण और कुण्डल के आश्रय आश्रित-सम्बन्ध का उदाहरण देते हुए अलङ्कारों को भी शब्दादि पर ठीक उसी प्रकार आश्रित बताया है, जिस प्रकार कर्ण पर कुण्डल आश्रित रहता है।

पर उधर मम्मट ने आश्रयाश्रयिभाव को भी अन्वयव्यतिरेक के ही अंतर्गत माना था। अनुप्रास 'शब्द' के आश्रित है, यह माना। पर 'शब्द' के न रहने पर तो वहाँ अनुप्रास अलङ्कार नहीं रहेगा। अतः 'आश्रया-श्रयिभाव' की भी अपनी कसौटी 'अन्वयव्यतिरेक' ही है।[1]

वस्तुतः देखा जाए तो जयरथ का 'कर्णकुण्डल' उदाहरण अयुक्त है। अनुप्रास अलङ्कार 'शब्द' पर 'कर्णकुण्डलवत्' आश्रित न रह कर 'तन्तु-पटवत्' आश्रित है। पट तन्तु से निर्मित है; अनुप्रास भी शब्द से निर्मित है; पर कुण्डल कर्ण से निर्मित नहीं है। तन्तु के न रहने पर पट और शब्द के न रहने पर अनुप्रास नहीं रहता; पर कर्ण के न रहने पर भी कुण्डल रहता है। अतः आश्रयाश्रयिभाव को स्वीकृत करते हुए भी 'अन्वय व्यतिरेकभाव' के व्यापार में अवश्य आना पड़ेगा।

रुय्यक का आक्षेप था श्रौती उपमा 'अन्वयव्यतिरेक' के आधार पर शब्दालङ्कार ठहरती है। पर श्रौती उपमा में 'इव' शब्द की उपस्थिति के कारण अलङ्कार नहीं है अपितु इव के तात्पर्य के कारण है। 'इव' का पर्यायवाची सादृश्यवाचक 'वा' शब्द भी 'इव' के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है। अतः श्रौती उपमा अन्वयव्यतिरेक के आधार पर अर्थालङ्कार ही ठहरती है न कि शब्दालंकार। इसी अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर भोजराज-सम्मत उपमादि २४ शब्दार्थोभयालंकारों[2] को कसें, तो वे मात्र सभी अर्थालंकार ही सिद्ध होते हैं।

भावस्य तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ। न तदाश्रयत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसंगात्। तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसारिणीति मतम्।

—काव्य दर्पण पृष्ठ १५६-२५०

१ योऽलंकारो यदाश्रित स तदलंकार इत्यपि अलंकाराणाम् अन्वय व्यतिरेकावेव समाश्रितवन्तौ। तदाश्रयाश्रयित्वं च भिन्नस्याश्रयाश्रयिभावस्या-भावात् इत्यलंकाराणां प्रयोजकमिव एव परस्परव्यतिरेकौ स्याताम्।

—अ म १ म व पृष्ठ ०६६

२ स० क भ ३।१ तथा टीकाभाग

इस प्रसंग में एक शंका उपस्थित होती है कि उभयालंकार होते हुए भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकारों के साथ और श्लिष्ट परम्परित रूपक तथा शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास को अर्थालंकारों के बीच स्थान क्यों मिलता चला आया है ? इस शंका का समाधान अपेक्षाकृत चमत्काराधिक्य में सन्निहित है। एक ओर पुनरुक्तवदाभास में शब्दगत चमत्कार अधिक है तो अर्थगत कम, और दूसरी ओर अवस्था इस के ठीक विपरीत है।

वक्रोक्ति यमक और लाटानुप्रास के विषय में भी एक ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है। अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर क्या इनकी गणना शब्दार्थालंकारों में नहीं हो सकती ? यद्यपि इसी आधार पर इन्हें भी शब्दार्थालंकार मानना चाहिए, पर शब्दगत चमत्कार की अत्यधिकता के कारण इनकी गणना शब्दालंकारों में ही की जाती है।

(२)

शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्ष महत्त्व

भामह के समय में विद्वानों का एक वर्ग अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व आँकने के पक्ष में था; और दूसरा वर्ग शब्दालंकारों का। पर भामह ने एक समन्वयवादी के रूप में दोनों के ही महत्त्व को समान रूप से स्वीकार किया है।[1]

दण्डी ने केवल दो शब्दालंकारों—अनुप्रास और यमक—का निरूपण किया है और दोनों का समादर की दृष्टि से नहीं देखा। उन के मत में अनुप्रास का अर्थ वैचित्र्य है; और यह श्लेष गुण के अभाव का दूसरा नाम है। गौड़ (अपेक्षाकृत निकृष्ट) मार्ग के अवलम्बी ही इसे अपनाते हैं।[2] यमक के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं है—'तत्तु नैकान्तमधुरम्।'[3]

---

1 (क) रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। का० अ० १।१३
(ख) रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥ का० अ० १।१४-१५

2, 3 का० द० १।५२-६०, १।६१

आनन्दवर्धन ने यमकादि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रकट शब्दों में व्यक्त की है—'ध्वन्यात्मक शृंगार, विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक आदि का निबन्ध कवि के प्रमाद का सूचक है। काव्य में अलंकार का प्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिए; पर यमक-निबन्धन के लिए तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी पड़ती है। सरस रचना में यमक अलंकार रस को गौण बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है।[1]

कुन्तक की भी यमक के सम्बन्ध में यही धारणा है कि यह शोभा-शून्य अलंकार है इस के विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ?—
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते। व. जी. २।७

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि अर्थालंकारों का पक्ष प्रबल है। भामह के एक वादी की यह धारणा कि 'रूपक आदि अर्थालंकार तो बाह्य हैं' हास्यास्पद सी प्रतीत होती है। न जाने इन्हें 'बाह्य' किस अर्थ में कहा गया। अर्थालंकार का चमत्कार शब्द के अर्थ की प्रतीति के पश्चात् ही ज्ञात होता है—शायद इसी कारण अर्थालंकार को बाह्य (गौण अथवा कुछ कम महत्त्वपूर्ण) समझा गया हो, पर इस तर्क से मनस्तुष्टि नहीं होती। वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व अपने अपने स्थान पर समुचित है: उभावेतावलंकार्यौ (व. जी. १।१) अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य (अलंकारों द्वारा अलंकृत करने योग्य) हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि के कथनानुसार सरस्वती का एक कुण्डल शब्दालंकार है तो दूसरा अर्थालंकार।[2] अतः प्रथम तो इन की तुलना करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। तुलना की भी जाए, तो 'आन्तरिक' पक्ष की सदा विजय मानी जाती है; और यहां आन्तरिक पक्ष है अर्थालंकार, न कि शब्दालंकार।

---

1 ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥
× × × यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः। × × अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। यद्, रसवन्ति कानिचिद् यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामंगता यमकादीनां त्वंगितैव।
—ध्वन्या० २।१५,१६ तथा वृत्ति

2 अलंकारमहोदधि ८।१

अलंकारों की संख्या

भरतमुनि से लेकर अप्पय्यदीक्षित-पर्यन्त वाणी-विलास की ज्यों ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गई अलंकारों की संख्या भी त्यों त्यों प्रायः बढ़ती चली गई। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा फिर भी नये अलंकारों का समावेश संख्या में वृद्धि करता ही गया। भरत मुनि ने केवल ४ अलंकार माने थे। इनके पश्चात् भामह ने ३६, दण्डी ने ३५, उद्भट ने ४०; वामन ने ३१ रुद्रट ने ५२ भोजराज ने ७२, मम्मट ने ६७, रुय्यक ने ८१, जयदेव ने १०० विश्वनाथ ने ८८; अप्पय्यदीक्षित ने १२४ और जगन्नाथ ने ७१ अलंकार माने।

अलंकारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत-वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे जिनका सम्बन्ध अलंकाय अर्थात् रस को किसी भी रूप में अलंकृत करने के साथ नहीं है। जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य—इन आठ प्रमाणों को प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार देहलीदीपिका-न्याय पर आधृत काव्यार्थापत्ति अलंकार; क्रियाओं पर आधृत सूक्ष्म और पिहित अलंकार कण्ठ की भिन्न ध्वनि पर आधृत काकु वक्रोक्ति अलंकार काल पर आधृत भाविक अलंकार स्वीकृत कर लिये गये। स्मरण, भ्रम सन्देह प्रहर्षण विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं इन में अलंकारता मानना इनके प्राकृत रूप की अवहेलना करना है। आदर आश्चर्य घृणा पश्चात्ताप आदि भावों को भी प्रकट करने में वीप्सा अलंकार मानना समुचित नहीं है।

दण्डी के कथनानुसार—'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। (का० द २-१)—यदि अलंकार वाणी के हर विलास का नाम है, तब तो उपरिगणित सभी अलंकार अलंकार' संज्ञा से विभूषित हो सकते हैं किन्तु यदि अलंकार से अभिप्राय करण-वाचक रूप 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः' है तो प्रमाण सूक्ष्म, पिहित आदि को उपमा रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के समकक्ष कभी नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयास भी समय समय पर होते रहे। इस दिशा में कुन्तक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। इन्होंने केवल २० अलंकारों का निरूपण किया, और इन में से भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता अनन्वय निदर्शना और परिवृत्ति—इन छः सादृश्यमूलक

अलंकारों का उपमा में; समासोक्ति का श्लेष में, तथा सहोक्ति का उपमा में अन्तर्भाव करके शेष ११ अलंकार ही मान्य ठहराये।[1] अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत अलंकारों के विषय में उन का कथन है कि या तो वे शोभाशून्य हैं, या इन्हीं अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अतः वे मान्य नहीं हैं।[2] कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में जयदेव का नाम उल्लेख्य है। उन्होंने शुद्धि, संसृष्टि, संकर, मालोपमा और रशनोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है।[3] इधर यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन झलकीकर ने कुल मिलाकर १४ अलंकारों में से कुछ का खण्डन किया है और कुछ को मम्मट-सम्मत अलंकारों में अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।[4]

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वाणी-विलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्पय्यदीक्षित तक अलंकारों की संख्या १२१ तक पहुँच गई।

अलंकारों का वर्गीकरण

भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। उन के मतानुसार वक्रोक्ति ही काव्य चमत्कार का बीज है; स्वभावोक्ति तो प्रकारान्तर से 'वार्ता' मात्र है।[5] पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह अवहेलना सबको स्वीकृत नहीं है। उन्होंने समस्त वाङ्मय को उक्त दो वर्गों—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति—में विभक्त करते हुए 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इस के

---

१ व जी ३।११ से १०

२ भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचनालंकारतया मताः ॥ व जी ३।००

३ च भा ५।११२ १२१

४ का प्र (झलकीकर) भूमिका-भाग पृष्ठ ११

५ (क) युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ का भ ११९

(ख) × × × ।
इत्यादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ वही २।८९ ८०

प्रति अपना समादर प्रकट किया है।[1] पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह सम्मत अवहेलना कम नहीं हुई। वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व घोषित करने वाले कुन्तक के समय में यह उग्र रूप धारण कर गई। यहां तक कि कुन्तक ने इसे अलंकार रूप में भी स्वीकृत नहीं किया। उन के एतद् विषयक तर्क का अभिप्राय यह है—स्वभाव कहते हैं स्वरूप को; और स्वभावोक्ति कहते हैं स्वरूप के आख्यान को। किसी भी वस्तु के काव्यगत वर्णन के लिए उस के स्वभाव अर्थात् स्वरूप का आख्यान अनिवार्य है, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तो निरुपाख्य (अस्तित्व-हीन) है। अतः स्वभाव की उक्ति को भी यदि स्वभावोक्ति नामक अलंकार कहा जाता है, तो यह नितान्त असंगत है। वस्तुतः स्वभावोक्ति शरीर है, इसे ही अलंकृत करने के लिए अन्य अलंकार अपेक्षित हैं। स्वयं शरीर कभी भी अपना अलंकार नहीं बन सकता—भला स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में कौन समर्थ है।[2]

चारुत्व [काव्यचमत्कार अथवा अलंकार] के इसी-वस्तुतः उक्त वर्गीकरण को किसी भी आचार्य ने उल्लिखित नहीं किया। अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में वर्गीकृत करने का श्रेय रुद्रट को है, यद्यपि उनसे भी पूर्व उद्भट ने यह प्रयास अवश्य किया है, पर इस में वे सफल नहीं हुए। इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसार-संग्रह में निरूपित ४० अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया है पर चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में कोई आधार-साम्य लक्षित नहीं होता जिस के बल पर इन्हें पृथक् वर्गों में रखने का कारण बताया जा सके। चतुर्थ वर्ग में भी प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित के अतिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकारों को तो विषय-साम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्ति-संगत प्रतीत

---

१ (क) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥
का द २।३६३

(ख) का द० २।७-८

२ स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥व० जी० १।१२,१३

होता है; पर इसी वर्ग में श्लेष अलंकार को स्थान देने का कारण समझ में नहीं आता।

रुद्रट ने अर्थालंकारों का वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—इन चार भेदियों में विभक्त किया—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।

एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ का० ७ ७।९

वस्तुस्वरूप-कथन को वास्तव कहते हैं। सहोक्ति समुच्चय आदि, यथासंख्य आदि अलंकार वस्तुगत हैं। उपमेय और उपमान की समानता का नाम औपम्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक आदि अलंकार इस के अन्तर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को अतिशय कहते हैं। पूर्व, विरोध उत्प्रेक्षा विभावना आदि अतिशयमस्त अलंकार कहाते हैं। अनेकार्थकता का नाम श्लेष है। अविशेष विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में भी रखा है, जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्य गत भी; विरोध और अधिक अतिशयगत भी हैं और श्लेषगत भी; उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी हैं, और अतिशयगत भी विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया, एकावली के कर्ता विद्याधर ने रुय्यक का प्रायः अनुकरण किया। एकावली की तरल टीका के कर्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है[1]—

१ सादृश्यमूल अलंकार वर्ग—

(क) भेदाभेद प्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण

(ख) अभेद प्रधान—

(अ) आरोपमूला—रूपक, परिणाम, सन्देह आदि

(आ) अध्यवसायमूला—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

२ औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग—

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक

---

१ एकावली, अष्टम उन्मेष (सम्पूर्ण) तरल-टीका सहित

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्त, निदर्शना
(ग) भेद प्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति
(घ) विशेषणविच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर
(ङ) विशेष्यविच्छित्ति—परिकरांकुर
(च) विशेषण विशेष्यविच्छित्ति—श्लेष
(छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा को; अर्थान्तरन्यास में अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्यविशेष की चर्चा होने के कारण अर्थान्तरन्यास को; और गम्यप्रस्ताव के कारण पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग में स्थान दिया गया है।

३ विरोधगर्भ अलंकार वर्ग—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि
४ शृंखलाकार अलंकार वर्ग—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
५ न्यायमूलक अलंकार-वर्ग—
(क) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग अनुमान
(ख) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय आदि
(ग) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप आदि
६ *गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकारवर्ग*—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।[1]

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लेते हुए अर्थालंकारों को प्रमुख चार प्रकारों में विभक्त किया है, और फिर इन प्रकारों के कुल मिलाकर निम्नलिखित ९ भेद गिनाए हैं[2]—

प्रमुख प्रकार—(१) प्रतीयवस्तुगत (२) प्रतीयमानौपम्य, (३) प्रतीयमान रसभावादि (४) अस्फुट प्रतीयमान।

अवान्तर विभाग—(१) साधर्म्य मूल (भेद प्रधान, अभेद प्रधान भेदाभेद प्रधान); (२) अध्यवसायमूल; (३) विरोधमूल; (४) वाक्यन्यायमूल; (५) लोकव्यवहारमूल, (६) तर्कन्यायमूल

---

१ इन अलंकारों के अतिरिक्त एकावली ग्रन्थ में निम्नलिखित अलंकारों का निरूपण तो है, पर इन्हें किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं किया गया—स्वभावोक्ति, भाविक उदात्त संकर और संसृष्टि।

२ प्र रु भू पृष्ठ ११७-११८

(७) शृंखलावैचित्र्यमूल; (८) अपह्नवमूल (९) विशेषण-वैचित्र्यमूल।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपर्युक्त वर्गीकरण किसी सीमा तक तर्कपूर्ण होते हुए भी एकान्त रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार-अध्येता के लिए ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं।

अलंकारों के प्रयोग में औचित्य

(१)

'आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुपात्र हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है न किसी यति का शरीर',[1] और न किसी नारी का यौवन वन्ध्य-वपु।[2] इधर सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी-बड़ी आँखों में ही शोभित होती है अन्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरों पर सुशोभित होता है, अन्यत्र नहीं—

> दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री-
> स्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः। स० क० भ० ३।११

पर इसके विपरीत कंठ में मेखला का, नितम्बफलक पर सुन्दर हार का हाथों में नूपुरों का, चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद बनेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।[3]

---

१ तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्य-स्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौ-चित्यात्।

२. वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः। का० सू० वृ० ३।१।२ (वृत्ति)

३ कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः॥
औ० वि० च० पृष्ठ १

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव, सुन्दर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग तथा सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। अब यदि शरीर अथवा यौवनरम्य वपु पर आभूषणों का अवधारण एक कौतुकमात्र है तो नीरस काव्य में भी अलंकारों के प्रयोग का दूसरा नाम 'उक्तिवैचित्र्यमात्र' है—यत्र तु नास्ति रसः तत्र [अलंकाराः] उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ।[1] जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में भी यमक आदि का बन्धन समुचित नहीं है।[2] तात्पर्य यह कि लौकिक और काव्यगत दोनों प्रकार के अलंकारों का जीवन[3] और उनकी अलंकारिता[4] उचित-स्थान विन्यास पर ही आश्रित है। इस प्रकार इन दोनों सौन्दर्यों में समानता होते हुए भी शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ 'रकार' का अनुप्रास विप्रलम्भ शृङ्गार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है, तो 'टकार' का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता।[5] तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की सफलता अथवा असफलता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधृत है।

---

1. का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४१५
2. ध्वन्या० २।१५
3. काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
   यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ औ० वि० च० पृष्ठ ४
4. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः । वही पृष्ठ ६
5. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—
   (क) अपसारय घनसारम् × × ×
   (ख) चित्ते विहरति न हरति × × × का० प्र० ८म उ०

(७) शृंखलावैचित्र्यमूल; (८) अपह्नवमूल (९) विशेषण-वैचित्र्यमूल।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपर्युक्त वर्गीकरण किसी सीमा तक तर्कपूर्ण होते हुए भी एकान्त रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार-अध्येता के लिए ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं।

अलंकारों के प्रयोग में औचित्य

(१)

आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुघड़ हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर,[1] और न किसी नारी का यौवन वन्ध्य-वपु।[2] इधर सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी-बड़ी आँखों में ही शोभित होती है, अन्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरों पर सुशोभित होता है, अन्यत्र नहीं—

दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री-
स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारवल्लिः। स० कं० भ० ३।११०

पर इसके विपरीत कंठ में मेखला का; नितम्बफलक पर सुन्दर हार का; हाथों में नूपुरों का, चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद बनेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।[3]

---

१ तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौचित्यात्।

२. वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः। का० सू० वृ० ३।१।२ (वृत्ति)

३ कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः॥
औ० वि० च० पृष्ठ १

अर्थालंकार का स्वरूप रस है—रस भाव आदि का अंग बन कर रहना।[1] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना भी कवि की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जायेंगे जब ये रस में दत्तचित्त प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आए;[2] और किसी प्रयत्न के बिना अनायास ही रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपृथग्यत्न रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

और यदि शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर अपृथग्यत्न रूप से रचना में स्वतःसमावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान-महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है[3]—

(१) रूपकादि अर्थालंकारों की अंगीभूत रस के प्रति सदा अंगरूप से विवक्षा करना;

(२) अलंकार की अंगीरूप में कभी भी विवक्षा न करना;

(३, ४) अवसर पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना;

(५) आरम्भ कर के उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना;

(६) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंगरूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना।

---

१ रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ ध्वन्या पृष्ठ ११९

२ अलंकारान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्या २।१६ (वृत्ति)
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्या २।१६

३. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥

(२)

संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है[1] और रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा, प्रौढा आदि पांच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है।[2] आनन्दवर्धन ने अनुप्रास-यमक के विषय में एक चेतावनी दी है—शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा अभिव्यंजक नहीं हुआ करता। अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक, [शब्दश्लेष, चित्र आदि] का प्रयोग कवि के प्रमाद का सूचक है।[3] कुन्तक अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता (संकुलता-पूर्ण बद्धता) के पक्ष में नहीं है; और यदि ऐसी रचना हो भी जाए, तो उनके कथनानुसार उसे अशुकुमार न बनाना चाहिए। भट्ट लोल्लट (?) के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अतिविरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है अथवा भेड़चाल के समान है।[5]

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं-कहीं उनका तीव्र विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। हाँ, वह इन्हें स्वस्थ रूप में अवश्य देखना चाहता है।

---

१ का द १।६१, ७७, ६१

२ का अ २।१२

३. (क) शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ ध्वन्या २।१४

(ख) ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ ध्वन्या २।१५

४ नातिनिर्बन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता । व जी २।४

५. यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः । अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा ॥ का अनु (हेमचन्द्र) पृष्ठ १५

अलंकार का स्वरूप रूप है—रस भाव आदि का अंग बन कर रहना।[1] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की तथा अपेक्षा रखनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना भी कवि की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। वे ध्वनि के उपकारक तभी समझे जायेंगे जब वे रस में दत्तचित्त प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आएं;[2] और किसी प्रयत्न के बिना अनायास ही रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपृथग्यत्न रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

और यदि शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर अपृथग्यत्न रूप से रचना में स्वतःसमावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान-महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है[3]—

(१) रूपकादि अलंकारों की अंगीभूत रस के प्रति सदा अंगरूप से विवक्षा करना

(२) अलंकार की अंगीरूप में कभी भी विवक्षा न करना;

(३, ४) अवसर पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना;

(५) आरम्भ कर के उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना;

(६) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंगरूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना।

---

१ रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ ध्वन्या० पृष्ठ १२१

२. अलंकारान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्या २।१६ (वृत्ति)
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्या २।१६

३. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ, नातिनिर्वहणैषिता॥

उपर्युक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं। पाँचवें का तीसरे और चौथे साधन में तथा छठे का पहले साधन में अन्तर्भाव हो सकता है। इन सब का मूल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों का रस के अंगरूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान रूप में कभी नहीं। और ऐसा करने के लिए कवि समीक्षा-बुद्धि से काम ले तभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ ध्व० २।१०

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

१ संस्कृत-ग्रन्थ

अकबरशाह	शृंगारमंजरी	सं०—डॉ० वी. राघवन
अप्पय्यदीक्षित	कुवलयानन्द	नि० सा० प्रेस
	वृत्तिवार्तिक	नि० सा० प्रेस
	चित्रमीमांसा	नि० सा० प्रेस
अल्लराज	रसरत्नप्रदीपिका	भारतीय विद्याभवन बम्बई
अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक (लोचन)	चौखम्बा सं० सी०
	नाट्यशास्त्र (अभिनव भारती १ भाग)	गा० ओ० सी०
अमरचन्द्र	काव्यकल्पलतावृत्ति	चौखम्बा सं० सी०
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक (हिन्दी-भाष्य)	आचार्य विश्वेश्वर
	(हिन्दी-टीका)	दीधिति चौखम्बा सं० सी०
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	सं०—बनहट्टी, ब० सं० प्रा० सी०
कोक्कोक	रतिरहस्य	वेंकटेश्वर पु० एजेन्सी कलकत्ता
कल्याण मल्ल	अनंगरंग	मोतीलाल बनारसी दास
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित (हिन्दी-भाष्य)	आ० विश्वेश्वर
केशवमिश्र	अलंकारशेखर	चौखम्बा सं० सी०
गोविन्द ठक्कुर	काव्यप्रकाश (प्रदीप)	आनन्द आश्रम, पूना
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रेस
जयदेव	चन्द्रालोक	चौखम्बा सं० सी०
ज्योतिरीश्वर	पंचसायक	वेंकटेश्वर पु० एजेन्सी, कलकत्ता
दण्डी	काव्यादर्श	बी० ओ० आर० आई० पूना
धनंजय	दशरूपक	नि० सा० प्रेस
नरसिंह	नञ्जराजयशोभूषण	गा० ओ० सी०

पतंजलि	महाभाष्य (नवाह्निक)	कैयटकृत भाष्य सहित
	(द्व्याह्निक)	भार्गवशास्त्रिकृत टीका
प्रभाकर भट्ट	रसप्रदीप	सं०—गोपीनाथ कविराज गवर्न० सं० लाइब्रेरी बनारस
भरत	नाट्यशास्त्र	चौखम्बा सं० सी०
भर्तृहरि	वाक्यपदीय	
	(क) १म काण्ड	(२ भाग) चौ० सं० सी
	(ख) २य काण्ड	चारुदेव-संस्करण
भामह	काव्यालंकार	चौखम्बा सं० सी
भानुमिश्र	१ रसतरंगिणी	वेंकटेश्वर प्रेस
	२ रसमंजरी (सुरभि टीका) (व्यंग्यार्थकौमुदी टीका)	
भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रेस
मम्मट	काव्यप्रकाश[1]	चतुर्थ झलकीकर-संस्करण
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	चौखम्बा सं० सी
मुकुल भट्ट	अभिधावृत्तिमातृका (हिन्दी व्याख्या) रचित प्रति आचार्य विश्वेश्वर	
यास्क	निरुक्त (दुर्गाचार्यव्याख्या सहित)	वेंकटेश्वर प्रेस
राजशेखर	काव्यमीमांसा	अनु० पं० केदारनाथ
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	गा० ओ० सी
रुद्रट	काव्यालंकार	नि० सा० प्रेस
रुद्रभट्ट	शृंगारतिलक	सं०—डॉ० आर० पिशल
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व	नि० सा० प्रेस
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि	नि० सा० प्रेस
वाग्भट प्रथम	वाग्भटालंकार	वेंकटेश्वर प्रेस
वाग्भट द्वितीय	काव्यानुशासन	नि० सा० प्रेस

---

1 काव्यप्रकाश पर निर्मित इन टीकाओं से सहायता ली गई है—बालबोधिनी (भट्ट वामन झलकीकर), प्रदीप (गोविन्द ठक्कुर), प्रभा (वैद्यनाथ), उद्योत (नागोजी भट्ट), हिन्दी-अनुवाद (हरिमंगल मिश्र), हिन्दी-व्याख्या (डॉ० सत्यव्रत सिंह), अंग्रेजी अनुवाद (सुकथंकर तथा गंगानाथ झा)

वात्स्यायन	कामसूत्र	चौखम्भा सं० सी०
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (कामधेनु-टीका)	
	(हिन्दी भाष्य) आ० विश्वेश्वर	
विद्याधर	एकावली	बं सं प्रा० सी
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रयशोभूषण	बं स सी
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण (विमला हिन्दी टीका)	
	(कुसुम-प्रतिमा टीका)	
विश्वनाथ पंचानन	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	वेंकटेश्वर प्रेस
व्यास	अग्निपुराण	आनन्द आश्रम पूना
	विष्णुपुराण (श्रीधरस्वामिकृत व्याख्या)	
शारदातनय	भावप्रकाश	गा ओ० सी
श्रीकृष्णकवि	मन्दारमरन्दचम्पू	नि सा प्रेस
सागरनन्दी	नाटकलक्षणरत्नकोश	आक्स यूनि० प्रेस
हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	नि सा० प्रेस
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचार चर्चा	चौखम्भा, सं सी

२ हिन्दी-ग्रन्थ

अयोध्यासिंह उपाध्याय	रस कलस
कन्हैयालाल पोद्दार	काव्यकल्पद्रुम (दो भाग)
	संस्कृत साहित्य का इतिहास (दो भाग)
कपिलदेव द्विवेदी	अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन
गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन
गोविन्द त्रिगुणायत	रसरत्नक (हिन्दी टीका)
गंगानाथ झा	कविरहस्य
नगेन्द्र	रीतिकाल की भूमिका
	'ध्वन्यालोक' की भूमिका
	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी	हिन्दी रसगंगाधर (दो भाग)
प्रभुदयाल मीतल	ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड)

भगवतस्वरूप उपाध्याय — हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास
भोलाशंकर व्यास — हिन्दी दशरूपक
रामचन्द्र शुक्ल — रसमीमांसा
रामदहिन मिश्र — काव्यदर्पण
काव्यालोक (२य उद्योत)
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' काव्य में अभिव्यंजनावाद
व्रजरत्नदास — काव्यादर्श (हिन्दी अनुवाद)
रामसुशीलसिंह — वात्स्यायन कामसूत्र (हिन्दी अनुवाद)
शरच्चन्द्र पण्डित — साहित्यविमर्श
सीताराम शास्त्री — साहित्यसिद्धान्त

३ अंगरेजी ग्रन्थ

ए शंकरन — सम आस्पैक्ट्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत
गंगानाथ झा — काव्यप्रकाश (अंग्रेजी अनुवाद)
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (अंग्रेजी अनुवाद)
सी बी गुप्ता राकेश स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद (टंकित प्रति)
पी वी काणे — साहित्यदर्पण आफ विश्वनाथ एण्ड दि हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स
पी सी लहरी — कान्सेप्ट्स आफ रीति एण्ड गुण
प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती दि फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर
बेलवल्कर — काव्यादर्श (अंग्रेजी अनुवाद)
मनमोहन घोष — नाट्यशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद)
वी राघवन — सम कान्सेप्ट्स आफ दी अलंकार-शास्त्र
शृंगार-मंजरी
नम्बर आफ रसस्
भोजज शृंगारप्रकाश (दो भाग)
सुशीलकुमार डे — संस्कृत पोएटिक्स (भा १ २)
सूर्यकान्त शास्त्री — क्षेमेन्द्र-स्टडीज

कालक्रमानुसार आचार्य-सूची

आचार्य नाम	काल (ईस्वी सन् में)
भरत	२री शती ई० पू० से १री शती ई० के बीच (अनुमानतः)
भामह	६ठी शती का मध्यकाल
दण्डी	७वीं शती का उत्तरार्द्ध
वामन	८वीं-९वीं शती के बीच
उद्भट	९वीं शती का पूर्वार्द्ध
रुद्रट	९वीं शती का आरम्भ
शंकुक	९वीं शती का आरम्भ
आनन्दवर्धन	९वीं शती का मध्यभाग
रुद्रभट्ट	१० वीं शती
राजशेखर	८८०-९२० के बीच
मुकुल भट्ट	९वीं-१० वीं शती
धनञ्जय	१०वीं शती
भट्ट नायक	१० वीं शती का मध्यकाल
लोल्लट	उद्भट और अभिनवगुप्त के बीच
अभिनवगुप्त	१० वीं-११वीं शती
कुन्तक	१० वीं-११वीं शती
सागर नन्दी	११वीं शती का आरम्भ
भोजराज	११वीं शती का पूर्वार्द्ध
महिम भट्ट	११वीं शती का मध्यकाल
क्षेमेन्द्र	११वीं शती का उत्तरार्द्ध
मम्मट	११वीं शती का उत्तरार्द्ध

भारतीय साहित्य शास्त्र (बलदेव उपाध्याय के आधार पर)

अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग का कर्ता	१२वीं शती के निकट (अनुमानतः)
हेमचन्द्र	१०८८-११७२
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	१२वीं शती का पूर्वार्द्ध
वाग्भट प्रथम	१२वीं शती का पूर्वार्द्ध
रुय्यक	१२वीं शती का मध्यकाल
अमर चन्द्र	१३वीं शती का मध्यभाग
जयदेव	१३वीं शती का मध्यभाग
शारदातनय	१३वीं शती का मध्यभाग
शिंगभूपाल	१३वीं शती का मध्यभाग
विद्याधर	१३वीं-१४वीं शती
विद्यानाथ	१३वीं-१४वीं शती
भानुदत्त	१३वीं-१४वीं शती
वाग्भट द्वितीय	१४वीं शती के आसपास
विश्वनाथ	१४वीं शती
रूपगोस्वामी	१५वीं-१६वीं शती
केशव मिश्र	१६वीं शती का उत्तरार्द्ध
कविकर्णपूर	१६वीं १७वीं शती
अप्पय्य दीक्षित	१६वीं १७वीं शती
जगन्नाथ	१७वीं शती का मध्यभाग
अकबर शाह	१७वीं शती का मध्यभाग[1]

---

[1] देखिए शृंगार मंजरी (सं० —डॉ० राघवन), भूमिका, पृष्ठ १-७

दोष-भेद १८६
अन्य दोष १९
[गुण-विपर्ययात्मक दोष (१९), अलंकार-दोष (१९१)]
दोष-गुण १९५
मम्मट प्रस्तुत दोषों की सूची १९६
अष्टम अध्याय : गुण १९८-२२१
गुण-निरूपण में वैविध्य १९८
गुण का स्वरूप १९८
[भरत (१९८), दण्डी (१९९) आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ (२)]
गुण-निरूपक आचार्य और गुण के प्रकार २ १
गुणों का स्वरूप २०५
गुण और संघटना में आश्रयाश्रितभाव २१३
गुण का रसधर्मत्व २१७
नवम अध्याय : रीति २२२-२५३
रीति-निरूपण में वैविध्य २२२
रीति-निरूपक आचार्य और रीति के भेद २२२
रीतियों का अभिधान २२३
रीति का लक्षण और स्वरूप २२८
[वामन (२२८), आनन्दवर्धन (२२९), राजशेखर, कुन्तक और भोजराज (२२९), मम्मट और विश्वनाथ (२३)]
रीति-भेदों का स्वरूप २३१
[क गुण के आधार पर—भामह (२३१), दण्डी (२३३) वामन (२३५); ख रस के आधार पर—रुद्रट (२३७), आनन्दवर्धन (२३८), मम्मट (२३८), विश्वनाथ (२४१) ग कविस्वभाव के आधार पर (२४२)]
वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता २४६
मम्मट-सम्मत रीतियों की अर्थ-योजना २५
हिन्दी में 'रीति' शब्द का द्विविध प्रयोग २५२
दशम अध्याय : अलंकार २५४-२८०
चित्रकाव्य : अलंकार निबन्ध २५४

अलंकारवाद के समर्थक आचार्य २५१
अलंकार का स्वरूप और लक्षण २५६
गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना २६
[भरत मुनि(२६) दण्डी (२६१), उद्भट (२६२), वामन (२६३), रुद्रट (२६४) आनन्दवर्धन मम्मट, विश्वनाथ (२६४)]
अलंकारों के प्रकार २६७
शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्ष महत्त्व २६६
अलंकारों की संख्या २७१
अलंकारों का वर्गीकरण २७२
अलंकारों के प्रयोग में औचित्य २७६
परिशिष्ट
क सहायक ग्रन्थ-सूची २८२
ख कालक्रमानुसार आचार्य-सूची २८५